समयसार

प्राप्ति-संख्या ८३

ग्रन्थ-कार्ड
श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान
ग्रन्थागार
नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम जा० समयप्रसार

लेखक सं० अमृतचन्द्र सूरि

लेनेवाले का नाम	देनेकी तिथि	लेनेवालेका हस्ताक्षर	लौटानेकी तिथि

१
सं. १

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. ८३
दिनांक २८-२-७४
नरिया [illegible]

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
लौटा दें। विलम्वसे लौटानेपर ५ पैसे
प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

१
सं. ७

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं० ८३
दिनांक २८-२-८४
नरिया, वाराणसी

नमः सर्वज्ञाय ।

श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचित

संस्कृत कलशा सहित

स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजी रचित

नाटक समयसार

(सरल हिन्दी टीका सहित)

: टीकाकार :

देवरी (सागर) निवासी बुद्धिलाल श्रावक

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

: प्रथमावृत्ति :
वीर संवत् २४९७. वि. संवत् २०२७
प्रतियाँ : २५००

* * *

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
८३
२२.२.८४
नरिया

: मूल्य :
चार रुपये

* * *

: मुद्रक :
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय
सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रकाशकीय निवेदन

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारजी शास्त्रकी रचना करके जैन समाजपर महान उपकार किया है, श्री अमृतचन्द्राचार्यने इस शास्त्रकी आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका करके गहन विषयको भी सरल किया है तथा उन्होंने इस शास्त्रके कलश संस्कृत पद्योंमें रचे हैं। विद्वद्वर्य पांडे राजमलजीने कलश पर बालबोधिनी टीका की है और उस परसे विद्वान पं. कविवर बनारसीदासजीने इस समयसार नाटककी रचना की है। यह ग्रन्थ अध्यात्मका एक उज्ज्वल रत्न है और पठन-पाठनके हेतु अत्युपयोगी है। पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामीने इस ग्रन्थपर बहुत वर्ष पहले अपनी सचोट तथा सुबोध शैलीसे रोचक प्रवचन किये थे, अतः इन सब ज्ञानी महात्माओंका जैन जगत पर परम उपकार है।

श्री बुद्धिलालजी श्रावक द्वारा सम्पादित समयसार नाटकका आधार लेकर यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है अतः हम उनका परोक्ष आभार मानते हैं।

प्रत्येक पद्यके नीचे टिप्पणीकी जगह श्री अमृतचन्द्राचार्यरचित कलशोंके श्लोक भी दिये गये हैं जिससे स्वाध्यायप्रेमियोंको स्मरण रहे कि यह पद्य इस श्लोकका अनुवाद है। कहीं कहीं 'पर तो पंडितजीने एक श्लोकका कई छन्दोंमें वर्णन करके विषयको बहुत ही सरलता पूर्वक समझाया है।

अध्यात्मरस-रोचक आत्मबंधु बहुत समयसे स्वाध्यायार्थ जिसकी राह देख रहे थे वही ग्रन्थ स्वाध्यायप्रेमी पाठकोंको देते हुए हमें बहुत हर्ष होता है।

यह ग्रन्थ-प्रकाशनकी प्रेरणादाता श्री दि. जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्टके अध्यक्ष श्री नवनीतभाई जवेरी हैं; सुन्दर ढंगसे मुद्रणकार्य अजित मुद्रणालयके संचालक श्री मगनलालजी जैनने किया है अतः हम दोनोंका आभार मानते हैं।

ग्रन्थका मूल्य कम करनेके लिये अनेक मुमुक्षुओंकी ओरसे आर्थिक सहायता मिली है उन सब दाताओंको धन्यवाद! अन्य जिन जिन सज्जनोंने इसके प्रकाशन-कार्यमें हमें सहयोग दिया है उनका हम आभार मानते हैं।

"नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है" पंडितजीके इस कथनानुसार जो कोई भव्यजीव इस ग्रन्थके उच्च आशयको अंतरमें परिणमन करेंगे उनके हृदयके कपाट खुल जायेंगे और उनका आत्मकल्याण अवश्य होगा।

सोनगढ
सं. २०२७ मार्गशीर्ष कृष्णा ८,
(श्री कुन्दकुन्दाचार्यका आचार्यपद दिन)

साहित्य-प्रकाशन समिति
श्री दि. जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

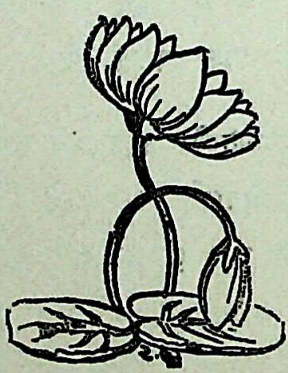

श्री समयसार नाटकका मूल्य कम करनेके लिये प्राप्त हुई

आर्थिक सहायता

१००१)	श्री एन. सी. जवेरी चेरीटेबिल ट्रस्ट हस्ते—श्री नवनीतलाल जवेरी	बम्बई
१००१)	श्री रामजी माणेकचन्द दोशी हस्ते—श्री सुमनभाई दोशी	सोनगढ
५०१)	श्री पूनमचन्द कटारिया हस्ते—श्री पूनमचन्द छाबड़ा	इन्दौर
३७५)	श्री मूलचन्द कस्तूरचन्द तलाटी	बम्बई
३७५)	श्री वसंतलाल कस्तूरचन्द तलाटी	बम्बई
३७५)	श्री माणेकलाल कस्तूरचन्द तलाटी	बम्बई
३७५)	श्री सुरेन्द्रभाई कस्तूरचन्द तलाटी	बम्बई
२५१)	श्रीमती अंजनबाई धर्मपत्नी श्री केसरीमलजी	इन्दौर
२५०)	श्री मोहनलाल कानजी घीया	राजकोट
२००)	श्री कन्हैयालाल डालचन्द जैन	भोपाल
१०१)	श्री रज्जूलाल मोतीलाल चौधरी	अशोकनगर
१०१)	श्री अमरचन्दजी जैन	कानपुर
१०१)	श्री फूलचन्दजी जैन	कानपुर
१०१)	श्री अमृतलाल माणेकचन्द हस्ते—श्री केसुभाई	राजकोट
१०१)	श्री खंडवा तथा सनावदके मुमुक्षमण्डलके सदस्योंकी ओरसे	खंडवा-सनावद

१०१)	श्री अरुणकुमार दामोदरदास लाखाणी	राजकोट
१०१)	श्री जयाबेन दामोदरदास लाखाणी	राजकोट
१०१)	श्रीमती कमलाबेन हरीलाल शाह वांकानेरवाला	बम्बई
१०१)	श्री पदमचन्दजी जैन	आगरा
१०१)	श्री जे. लालचन्द	इन्दौर
५१)	सुन्दरलाल जी जैन	जसवंतनगर
५१)	श्री खेमचन्दजी जैन	उज्जैन
५१)	श्री बेचरदास देवकरण मोदी	सावरकुंडला
५१)	श्री कँवरचन्दजी ज्ञानचन्दजी जैन	सनावद
५१)	श्री ईश्वरचन्दजी जैन	सनावद
५१)	श्री प्रेमजीभाई देवजीभाई	बम्बई
५१)	श्री मगनलालजी जैन	सोनगढ
५१)	श्री कुँवरसेन अशोककुमार	दिल्ली
५१)	श्री हुकमचन्द सुमेरमल	अशोकनगर
१७३)	इक्यावन रुपयेसे कमकी रकमें	
६३४६)	कुल	

विषयसूची

विषय पृष्ठांक
कविवर बनारसीदासजीका जीवनचरित्र
हिन्दी टीकाकारका मंगलाचरण १

ग्रंथकारका मंगलाचरण

श्रीपार्श्वनाथ स्तुति २
श्रीसिद्ध स्तुति ५
श्रीसाधु स्तुति ५
सम्यग्दृष्टिकी स्तुति ६

उत्थानिका

मिथ्यादृष्टि लक्षण ८
कविस्वरूप वर्णन ९
कविलघुता वर्णन १०
भगवानकी भक्तिसे हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है ११
नाटक समयसारकी महिमा १२
अनुभव वर्णन १३
,, लक्षण १३
,, महिमा १३
जीव द्रव्यका स्वरूप १४
पुद्गल द्रव्यका लक्षण १५
धर्म द्रव्यका ,, १५
अधर्म द्रव्यका ,, १५
आकाश द्रव्यका ,, १६
काल द्रव्यका ,, १६
जीवका वर्णन १६

विषय पृष्ठांक
अजीवका वर्णन १७
पुण्यका ,, १७
पापका ,, १७
आस्रवका ,, १७
संवरका ,, १८
निर्जराका ,, १८
बंधका ,, १८
मोक्षका ,, १९
वस्तुके नाम १९
शुद्ध जीव द्रव्यके नाम १९
सामान्य जीव द्रव्यके नाम २०
आकाशके नाम २०
कालके नाम २१
पुण्यके नाम २१
पापके नाम २१
मोक्षके नाम २१
बुद्धिके नाम २१
विचक्षण पुरुषके नाम २२
मुनीश्वरके नाम २२
दर्शनके नाम २२
ज्ञान और चारित्रके नाम २३
सत्यके नाम २३
झूठके नाम २३
नाटक समयसारके बारह अधिकार २३

विषय पृष्ठ

१ जीव द्वार

चिदानंद भगवानकी स्तुति २५
सिद्ध भगवानकी स्तुति २५
जिनवाणीकी स्तुति २६
कवि व्यवस्था २७
शास्त्रका माहात्म्य २८
निश्चयनयकी प्रधानता २९
सम्यग्दर्शनका स्वरूप ३०
जीवकी दशापर अग्निका दृष्टांत ३१
जीवकी दशापर सुवर्णका दृष्टांत ३१
अनुभवकी दशापर सूर्यका दृष्टांत ३३
शुद्धनयकी अपेक्षा जीवका स्वरूप ३४
हितोपदेश ३४
सम्यग्दृष्टिका विलास वर्णन ३५
गुण-गुणी अभेद हैं ३६
ज्ञानियोंका चिंतवन ३७
साध्य-साधकका स्वरूप वा द्रव्य और गुण-पर्यायोंकी अभेद-विवक्षा ३८
द्रव्य और गुण-पर्यायोंकी भेदविवक्षा ३८
व्यवहार नयसे जीवका स्वरूप ३९
निश्चय ,, ,, ,, ४०
शुद्ध निश्चय नयसे ,, ,, ४०
शुद्ध अनुभवकी प्रशंसा ४०
ज्ञाताकी अवस्था ४१
भेदविज्ञानकी महिमा ४२
परमार्थकी शिक्षा ४३
तीर्थंकर भगवानके शरीरकी स्तुति ४४
जिनराजका यथार्थ स्वरूप ४५
पुद्गल और चैतन्यके भिन्न स्वभावपर दृष्टांत ४६

विषय पृष्ठ

तीर्थंकरके निश्चय स्वरूपकी स्तुति ४६
निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा शरीर और जिनवरका भेद ४८
वस्तुस्वरूपकी प्राप्तिमें गुप्त लक्ष्मीका दृष्टांत ४८
भेदविज्ञानकी प्राप्तिमें धोबीके वस्त्रका दृष्टांत ४९
निजात्माका सत्य स्वरूप ५०
तत्त्वज्ञान होनेपर जीवकी अवस्थाका वर्णन ५१
वस्तुस्वभावकी प्राप्तिमें नटीका दृष्टांत ५२
प्रथम अधिकारका सार ५३

२ अजीव द्वार

अजीव अधिकार वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा ५५
मंगलाचरण—भेदविज्ञान द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञानकी वंदना ५५
श्रीगुरुकी पारमार्थिक शिक्षा ५६
जीव और पुद्गलका लक्षण ५७
आत्मज्ञानका परिणाम ५८
जड़-चेतनकी भिन्नता ५८
देह और जीवकी भिन्नतापर दृष्टांत ५९
जीव और पुद्गलकी भिन्नता ५९
देह और जीवकी भिन्नतापर दूसरा दृष्टांत ६०
आत्माका प्रत्यक्ष स्वरूप ६०
अनुभव विधान ६१
मूढ़ स्वभाव वर्णन ६२
ज्ञाता विलास ६३
भेदविज्ञानका परिणाम ६४
दूसरे अधिकारका सार ६५

३ कर्त्ता कर्म क्रिया द्वार

प्रतिज्ञा ६७
भेदविज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है,

विषय पृष्ठ
निजस्वभावका कर्त्ता है ६७
आत्मा कर्मका कर्त्ता नहीं है मात्र ज्ञातादृष्टा है ६९
भेदविज्ञानी जीव लोगोंको कर्मका कर्त्ता दिखता है, पर वास्तवमें वह अकर्त्ता है ७०
जीव और पुद्गलके जुदे-जुदे स्वभाव ७०
कर्त्ता कर्म और क्रियाका स्वरूप ७१
कर्त्ता कर्म और क्रियाका एकत्व ७२
कर्त्ता कर्म और क्रियापर विचार ७३
मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका स्वरूप ७४
जैसा कर्म वैसा कर्त्ता ७५
भेदज्ञानका मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता इसपर दृष्टांत ७६
जीवको कर्मका कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है इसपर दृष्टांत ७७
भेदविज्ञानी जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है मात्र दर्शक है ७८
मिले हुए जीव और पुद्गलकी पृथक् पृथक् परख ७९
पदार्थ अपना स्वभावका कर्त्ता है ८०
ज्ञानका कर्त्ता जीव ही है, अन्य नहीं है ८०
इस विषयोंमें शिष्यकी शंका ८०
ऊपरकी शंकाका समाधान ८१
शिष्यका पुनः प्रश्न ८२
ऊपरकी शंकाका समाधान ८२
मिथ्यात्वीके कर्तापनेकी सिद्धि पर कुंभकारका दृष्टांत ८३
जीवको अकर्त्ता मानकर आत्मध्यान करनेकी महिमा ८४
जीव निश्चयनयसे अकर्त्ता और व्यवहारनयसे कर्त्ता है ८५
नयज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानकर समरस भावमें रहनेवालोंकी प्रशंसा ८६
सम्यग्ज्ञानसे आत्मस्वरूपकी पहिचान होती है ८७
ज्ञानीका आत्मानुभवमें विचार ८७
आत्मानुभवकी प्रशंसा ८८
अनुभवके अभावमें संसार और सद्भावमें मोक्ष है, इसपर दृष्टांत ८९
मिथ्यादृष्टि जीव कर्मका कर्त्ता है ९०
मिथ्यात्वी जीव कर्मका कर्त्ता और ज्ञानी अकर्ता है ९०
जो ज्ञानी है वह कर्त्ता नहीं है ९१
जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है ९१
शुद्ध आत्मानुभवका माहात्म्य ९२
तृतीय अधिकारका सार ९३

४ पुण्य-पाप एकत्व द्वार

प्रतिज्ञा ९५
मंगलाचरण ९५
पुण्य-पापकी समानता ९६
पाप-पुण्यकी समानतामें शिष्यकी शंका ९७
शिष्यकी शंकाका समाधान ९८
मोक्षमार्गमें शुद्धोपयोग ही उपादेय है ९९
शिष्य-गुरुका प्रश्नोत्तर १००
मुनि श्रावककी दशामें बंध और मोक्ष दोनों हैं १०१
मोक्षकी प्राप्ति अंतर्दृष्टिसे है १०१
बाह्यदृष्टिसे मोक्ष नहीं है १०२

विषय पृष्ठ
इसपर शिष्य-गुरुका प्रश्नोत्तर १०२
ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है १०३
ज्ञान और शुभाशुभ कर्मोंका ब्यौरा १०४
यथायोग्य कर्म और ज्ञानसे मोक्ष है १०५
मूढ़ क्रिया तथा विचक्षण क्रियाका वर्णन १०६
चौथे अधिकारका सार १०७

५ आस्रव अधिकार

प्रतिज्ञा १०९
सम्यग्ज्ञानको नमस्कार १०९
द्रव्यास्रव, भावास्रव और सम्यग्ज्ञानका लक्षण ११०
ज्ञाता निरास्रवी है १११
सम्यग्ज्ञानी निरास्रव रहता है १११
शिष्यका प्रश्न ११२
शिष्यकी शंकाका समाधान ११३
राग द्वेष मोह और ज्ञानका लक्षण ११४
राग द्वेष मोह ही आस्रव है ११४
सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है ११४
निरास्रवी जीवोंका आनंद ११५
उपशम तथा क्षयोपशम भावोंकी अस्थिरता ११६
अशुद्ध नयसे बंध और शुद्ध नयसे मुक्ति है ११७
जीवकी बाह्य तथा अंतरंग अवस्था ११७
शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है ११८
पाँचवें अधिकारका सार ११९

६ संवर द्वार

प्रतिज्ञा १२१
ज्ञानरूप संवरको नमस्कार १२१
भेदविज्ञानका महत्व १२२
विषय पृष्ठ
सम्यक्त्वसे सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूपकी प्राप्ति १२३
सम्यग्दृष्टिकी महिमा १२४
भेदज्ञान संवर निर्जरा और मोक्षका कारण है १२५
आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर भेदज्ञान हेय है १२६
भेदज्ञान परंपरा मोक्षका कारण है १२६
भेदज्ञानसे आत्मा उज्ज्वल होता है १२७
भेदविज्ञानकी क्रियाके दृष्टांत १२७
मोक्षका मूल भेदविज्ञान है १२८
छट्ठे अधिकारकार सार १२९

७ निर्जरा द्वार

प्रतिज्ञा १३०
मंगलाचरण १३०
ज्ञान-वैराग्यके बलसे शुभाशुभ क्रियायोंसे भी बंध नहीं होता १३१
भोग भोगते हुए भी ज्ञानियोंको कर्म-कालिमा नहीं लगती १३१
वैराग्य-शक्ति वर्णन १३३
ज्ञान-वैराग्यसे मोक्षकी प्राप्ति है १३३
सम्यग्ज्ञानके बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है १३४
भेदविज्ञानके बिना समस्त चारित्र निस्सार है १३५
श्रीगुरुका उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते १३७
जीवकी शयन और जाग्रत दशा कहनेकी प्रतिज्ञा १३८
जीवकी शयन अवस्था १३८

विषय पृष्ठ
जीवकी जागृत दशा १३९
जागृत दशाका फल १३९
आत्मअनुभव ग्रहण करनेकी शिक्षा १४०
संसार सर्वथा असत्य है १४०
सम्यग्ज्ञानीका आचरण १४१
सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा १४२
ज्ञानरहित क्रियासे मोक्ष नहीं होता १४३
व्यवहारलीनताका परिणाम १४४
ज्ञानके बिना मुक्तिमार्ग नहीं जाना जा सकता १४४
ज्ञानकी महिमा १४५
अनुभवकी प्रशंसा १४६
सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा १४७
परिग्रहके विशेष भेद कथन करनेकी प्रतिज्ञा १४८
सामान्य विशेष परिग्रहका निर्णय १४९
परिग्रहमें रहते हुए भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं १४९
परिग्रहमें रहनेपर भी ज्ञानी जीवोंको परिग्रह रहित कहनेका कारण १५०
परिग्रहमें रहनेपर भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं, इसपर दृष्टांत १५०
ज्ञानी जीव सदा अबंध है १५२
ज्ञानरूपी दीपककी प्रशंसा १५३
ज्ञानकी निर्मलता पर दृष्टांत १५४
विषयवासनाओंसे विरक्त रहनेका उपदेश १५५
ज्ञानी जीव विषयोंमें निरंकुश नहीं रहते १५६
ज्ञान और वैराग्य एकसाथ ही होते हैं १५६
अज्ञानी जीवोंकी क्रिया बंधके लिये और ज्ञानी जीवोंकी निर्जराके लिये है १५६
विषय पृष्ठ
ज्ञानीके अबंध और अज्ञानीके बंधपर कीटकका दृष्टांत १५७
ज्ञानी जीव कर्मके कर्त्ता नहीं हैं १५७
सम्यग्ज्ञानीका विचार १५८
ज्ञानीकी निर्भयता १५९
सप्त भयके नाम १६०
सप्त भयका पृथक् पृथक् स्वरूप १६०
इस भवके भय निवारणका उपाय १६१
परभवका भय निवारण करनेका उपाय १६२
मरणका भय निवारणका उपाय १६३
वेदनाका ,, ,, ,, १६३
अनरक्षाका ,, ,, ,, १६४
चोरका ,, ,, ,, १६५
अकस्मात् ,, ,, ,, १६६
सम्यग्ज्ञानी जीवोंको नमस्कार १६७
सम्यग्दर्शनके अष्ट अंगोंके नाम १६८
सम्यक्त्वके आठ अंगोंका स्वरूप १६८
चैतन्य नटका नाटक १६९
सातवें अधिकारका सार १७०

८ बन्ध द्वार

प्रतिज्ञा १७२
मंगलाचरण १७२
ज्ञानचेतना और कर्मचेतनाका वर्णन १७३
कर्मबंधका कारण अशुद्ध उपयोग है १७४
यद्यपि ज्ञानी अबंध हैं तो भी पुरुषार्थ करते हैं १७६
उदयकी प्रबलता १७७
,, ,, पर दृष्टांत १७७
मोक्षमार्गमें अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं १७८

विषय	पृष्ठ
ज्ञानी और अज्ञानीकी परिणतिपर दृष्टांत	१७८
जैसी क्रिया तैसा फल	१७९
जबतक ज्ञान है तबतक वैराग्य है	१७९
चार पुरुषार्थ	१८०
चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीका विचार	१८१
आत्माहीमें चारों पुरुषार्थ हैं	१८१
वस्तुका सत्य स्वरूप और मूर्खका विचार	१८२
उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवोंका स्वभाव	१८४
उत्तम पुरुषका स्वभाव	१८४
मध्यम ,, ,,	१८५
अधम ,, ,,	१८६
अधमाधम ,, ,,	१८७
मिथ्यादृष्टीकी अहंबुद्धिका वर्णन	१८८
मूढ़ मनुष्य विषयोंसे विरक्त नहीं होते	१८९
अज्ञानी जीवकी मूढ़तापर मृगजल और अंधेका दृष्टांत	१९०
अज्ञानी जीव बन्धनसे न सुलझ सकनेपर दृष्टांत	१९१
अज्ञानी जीवकी अहंबुद्धि पर दृष्टांत	१९१
अज्ञानीकी विषयासक्ततापर दृष्टांत	१९२
जो निर्मोही है वह साधु है	१९३
सम्यग्दृष्टी जीव आत्मस्वरूपमें स्थिर होते हैं	१९३
शिष्यका प्रश्न	१९४
शिष्यकी शंकाका समाधान	१९५
जड़ और चैतन्यकी पृथक्ता	१९६

विषय	पृष्ठ
आत्माकी शुद्ध परिणति	१९७
शरीरकी अवस्था	१९७
संसारी जीवोंकी दशा कोल्हूके बैलके समान है	२००
संसारी जीवोंकी हालत	२०१
धन सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपदेश	२०२
लौकिक जनोंसे मोह हटानेका उपदेश	२०२
शरीरमें त्रिलोकके विलास गर्भित हैं	२०३
आत्मविलास जाननेका उपदेश	२०४
आत्मस्वरूपकी पहिचान ज्ञानसे होती है	२०४
मनकी चंचलता	२०५
मनकी चंचलतापर ज्ञानका प्रभाव	२०६
मनकी स्थिरताका प्रयत्न	२०७
आत्मानुभव करनेका उपदेश	२०७
आत्मअनुभव करनेकी विधि	२०८
आत्मानुभवसे कर्मबंध नहीं होता	२०९
भेदज्ञानीकी क्रिया	२०९
,, का पराक्रम	२१०
आठवें अधिकारका सार	२११

९ मोक्ष द्वार

विषय	पृष्ठ
प्रतिज्ञा	२१२
मंगलाचरण	२१२
सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है	२१३
सुबुद्धिका विलास	२१४
सम्यग्ज्ञानीका महत्व	२१५
ज्ञानी जीव ही चक्रवर्ती है	२१६
नवभक्तिके नाम	२१७
ज्ञानी जीवोंका मंतव्य	२१८

विषय पृष्ठ
आत्माके चेतक लक्षणका स्वरूप २१९
आत्मा नित्य है २२०
सुबुद्धि सखीको ब्रह्मका स्वरूप समझाते हैं २२१
आत्म-अनुभवका दृष्टांत २२१
हेय-उपादेय भावोंपर उपदेश २२२
ज्ञानी जीव चाहे घरमें रहें चाहे वनमें रहें मोक्षमार्ग साधते हैं २२२
मोक्षमार्गी जीवोंकी परिणति २२३
सम्यग्दृष्टी जीव साधु है और मिथ्यादृष्टी चोर है २२४
द्रव्य और सत्ताका स्वरूप २२५
षट् द्रव्यकी सत्ताका स्वरूप २२५
छह द्रव्यहीसे जगत्की उत्पत्ति है २२६
आत्मसत्ताका अनुभव निर्विकल्प है २२७
जो आत्मसत्ताको नहीं जानता वह अपराधी है २२८
मिथ्यात्वकी विपरीत वृत्ति २२९
सम्यग्दृष्टी जीवोंका सद्विचार २३०
समाधि-वर्णन २३२
शुभ क्रियाओंका स्पष्टीकरण २३३
शुद्धोपयोगमें शुभोपयोगका निषेध २३३
ज्ञानमें सब जीव एकसे भासते हैं २३६
अभिमानी जीवोंकी दशा २३७
ज्ञानी जीवोंकी दशा २३८
सम्यक्त्वी जीवोंकी महिमा २३९
सम्यग्दृष्टी जीवोंको वंदना २४०
मोक्ष प्राप्तिका क्रम २४०
अष्ट कर्मोंके नष्ट होनेसे अष्ट गुणोंका प्रगट होना २४१
विषय पृष्ठ
नवमें अधिकारका सार २४२

१० सर्वविशुद्धि द्वार

प्रतिज्ञा २४४
सर्व उपाधि रहित शुभ आत्माका स्वरूप २४४
वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता-भोगता नहीं है २४५
अज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता है २४६
जैसे जीव कर्मका अकर्त्ता है वैसे अभोगता भी है २४६
अज्ञानी जीव विषयोंका भोगता है ज्ञानी नहीं है २४७
ज्ञानी कर्मका कर्त्ता-भोगता नहीं है इसका कारण २४८
अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता-भोगता है इसका कारण २४९
वास्तवमें जीव कर्मका अकर्त्ता है इसका कारण २५०
अज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता और ज्ञानमें अकर्त्ता है २५१
अज्ञानी जीव अशुभ भावोंका कर्त्ता होनेसे भावकर्मका कर्त्ता है २५२
इसके विषयमें शिष्यका प्रश्न २५३
इसपर श्रीगुरुका समाधान २५३
कर्मके कर्त्ता-भोगता बाबत एकांत पक्षपर विचार २५४
स्याद्वादमें आत्माका स्वरूप २५५
इस विषयका एकान्तपक्ष खंडन करनेवाले स्याद्वादका उपदेश २५५
इस विषयमें बौद्धमतवालोंका विचार २५६

विषय	पृष्ठ
बौद्धमतवालोंका एकान्त विचार दूर करनेको दृष्टांत द्वारा समझाते हैं	२५७
बौद्ध जीव द्रव्यको क्षण-भंगुर कैसे मान बैठे इसका कारण	२५८
दुर्बुद्धिकी दुर्गति ही होती है	२५९
दुर्बुद्धिकी भूलपर दृष्टांत	२५९
,, परिणति	२६०
अनेकान्तकी महिमा	२६१
छहों मतवालोंका जीव पदार्थपर विचार	२६३
पाँचों मतवाले एकान्ती और जैनी स्याद्वाद है	२६३
पाँचों मतोंके एक एक अंगका जैनमत समर्थक है	२६४
स्याद्वादका व्याख्यान	२६५
निर्विकल्प उपयोग ही अनुभवके योग्य है	२६६
अनुभवमें विकल्प त्यागनेका दृष्टांत	२६६
किस नयसे आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है और किस नयसे नहीं है	२६७
ज्ञानका ज्ञेयाकाररूप परिणमन होता है पर वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता	२६८
जगत्के पदार्थ परस्पर अव्यापक हैं	२६९
कर्म करना और फल भोगना यह जीवका निजस्वरूप नहीं है	२७०
ज्ञान और ज्ञेयकी भिन्नता	२७०
ज्ञेय और ज्ञानके सम्बंधमें अज्ञानियोंका हेतु	२७१
इस विषयमें अज्ञानियोंको संबोधन	२७१
स्याद्वादी सम्यग्दृष्टीकी प्रशंसा	२७२
ज्ञान ज्ञेयसे अव्यापक है इसपर दृष्टान्त	२७३
आत्मपदार्थका यथार्थ स्वरूप	२७४
परमात्मपदकी प्राप्तिका मार्ग	२७४
राग-द्वेषका कारण मिथ्यात्व है	२७५
अज्ञानियोंके विचारमें राग-द्वेषका कारण	२७६
अज्ञानियोंको सत्यमार्गका उपदेश	२७७
ज्ञानका माहात्म्य	२७७
अज्ञानी जीव परद्रव्यमेंही लीन रहते हैं	२७८
अज्ञानीको कुमति और ज्ञानीको सुमति उपजती है	२७८
दुर्मति और कुब्जाकी समानता	२७९
सुबुद्धिसे राधिकाकी तुलना	२८१
कुमति सुमतिका कृत्य	२८२
द्रव्यकर्म भावकर्म और विवेकका निर्णय	२८२
कर्मके उदयपर चौपरका दृष्टांत	२८२
विवेकचक्रके स्वभावपर शतरंजका दृष्टांत	२८३
कुमति कब्जा और सुमति राधिकाके कृत्य	२८४
जहाँ शुद्ध ज्ञान है वहाँ चारित्र है	२८४
ज्ञान चारित्रपर पंगु अंधेका दृष्टांत	२८६
ज्ञान और क्रियाकी परिणति	२८६
कर्म और ज्ञानका भिन्न-भिन्न प्रभाव	२८७
ज्ञानीकी आलोचना	२८७
ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञानदशा हट जाती है	२८८
कर्मप्रपंच मिथ्या है	२८९
मोक्ष-मार्गमें क्रियाका निषेध	२९०
क्रियाकी निंदा	२९०
ज्ञानियोंका विचार	२९१
वैराग्यकी महिमा	२९३
ज्ञानीकी उन्नतिका क्रम	२९४

विषय पृष्ठ
शुद्ध आत्मद्रव्यको नमस्कार २९५
शुद्ध आत्मद्रव्य अर्थात् परमात्माका स्वरूप २९५
मुक्तिका मूल कारण द्रव्यलिंग नहीं है २९७
आत्माके सिवाय अन्यत्र ज्ञान नहीं है २९८
ज्ञानके बिना वेषधारी विषयके भिखारी हैं २९९
अनुभवकी योग्यता २९९
आत्म-अनुभवके परिणाम ३००
आत्म-अनुभव करनेका उपदेश ३०१
आत्म-अनुभवके बिना बाह्य-चारित्र होनेपर भी जीव अव्रती है ३०१
अज्ञानी और ज्ञानियोंकी परिणतिमें भेद है ३०३
समयसारका सार ३०४
अनुभव योग्य शुद्ध आत्माका स्वरूप ३०५
ग्रंथकर्त्ताका नाम और ग्रंथकी महिमा ३०६
नव रसोंके नाम ३०७
,, ,, लौकिक स्थान ३०७
,, ,, पारमार्थिक स्थान ३०८
दसवें अधिकारका सार ३१०

११ स्याद्वाद द्वार

स्वामी अमृतचंद्र मुनिकी प्रतिज्ञा ३१२
स्याद्वाद संसारसागरसे तारनेवाला है ३१४
नय समूहपर शिष्यकी शंका और गुरुका समाधान ३१४
पदार्थ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप हैं ३१५
विषय पृष्ठ
स्याद्वादके सप्त भंग ३१७
एकान्तवादियोंके चौदह नय-भेद ३१८
प्रथम पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन ३१९
द्वितीय ,, ,, ,, ,, ३२०
तृतीय ,, ,, ,, ,, ३२१
चतुर्थ ,, ,, ,, ,, ३२२
पंचम ,, ,, ,, ,, ३२३
छट्ठे ,, ,, ,, ,, ३२४
सप्तम ,, ,, ,, ,, ३२४
अष्टम ,, ,, ,, ,, ३२५
नववें ,, ,, ,, ,, ३२६
दसवें ,, ,, ,, ,, ३२७
ग्यारहवें ,, ,, ,, ,, ३२८
बारहवें ,, ,, ,, ,, ३२९
तेरहवें ,, ,, ,, ,, ३३०
चौदहवें ,, ,, ,, ,, ३३१
स्याद्वादकी प्रशंसा ३३२
ग्यारहवें अधिकारका सार ३३२

१२ साध्य-साधक द्वार

प्रतिज्ञा ३३५
जीवकी साध्य साधक-अवस्थाओंका वर्णन ३३५
साधक-अवस्थाका स्वरूप ३३६
सद्गुरुको मेघकी उपमा ३३८
धन-सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपदेश ३३८
कुटुम्बियों आदिसे मोह हटानेका उपदेश ३३९
इन्द्रादि उच्च पदकी चाह अज्ञानता है ३४०
समताभाव मात्रहीमें सुख है ३४०

विषय — पृष्ठ
जिस उन्नतिकी फिर अवनति है वह उन्नति नहीं है ३४१
श्रीगुरुके उपदेशमें ज्ञानी जीव रुचि लगाते हैं, और मूर्ख समझते ही नहीं ३४१
दृष्टांत द्वारा समर्थन ३४२
पाँच प्रकारके जीव ३४४
डूंघा जीवका लक्षण ३४४
चूंघा ,, ,, ३४४
सूंघा ,, ,, ३४४
ऊंघा ,, ,, ३४५
घूंघा ,, ,, ३४५
उपर्युक्त पाँच प्रकारके जीवोंका विशेष वर्णन ३४५
चूंघा जीवका वर्णन ३४६
सप्त व्यसनके नाम ३४६
व्यसनोंके द्रव्य और भाव भेद ३४७
सप्त भाव-व्यसनोंका स्वरूप ३४७
साधक जीवका पुरुषार्थ ३४८
चौदह भाव रत्न ३४८
चौदह रत्नोंमें कौन हेय और कौन उपादेय हैं ३४९
मोक्षमार्गके साधक जीवोंकी अवस्था ३५०
शुद्ध अनुभवसे मोक्ष और मिथ्यात्वसे संसार है ३५०
आत्म-अनुभवका परिणाम ३५१
ज्ञानक्रियाका स्वरूप ३५२
सम्यक्त्वसे क्रमशः ज्ञानकी पूर्णता होती है ३५२
सम्यक्त्वकी महिमा ३५३

विषय — पृष्ठ
सम्यग्ज्ञानकी महिमा ३५४
अनुभवमें नयपक्ष नहीं है ३५४
आत्मा द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अखंडित है ३५६
ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप ३५६
स्याद्वादमें जीवका स्वरूप ३५८
साध्यस्वरूप केवलज्ञानका वर्णन ३६१
अमृतचन्द्र-कलाके तीन अर्थ ३६१
ग्रंथके अंतमें ग्रंथकारकी आलोचना ३६२
बारहवें अधिकारका सार ३६४

१३ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार

मंगलाचरण ३६५
जिनबिम्बका माहात्म्य ३६५
जिन-मूर्ति-पूजकोंकी प्रशंसा ३६६
चौदह गुणस्थानोंके नाम ३६८
मिथ्यात्व गुणस्थानका वर्णन ३६८
मिथ्यात्व गुणस्थानमें पाँच प्रकारके मिथ्यात्वका उदय रहता है ३६९
एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप ३६९
विपरीत ,, ,, ३७०
विनय ,, ,, ३७०
संशय ,, ,, ३७०
अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरूप ३७०
मिथ्यात्वके दो भेद ३७१
सादि मिथ्यात्वका स्वरूप ३७१
अनादि ,, ,, ३७१
सासादन गुणस्थान वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा ३७१
सासादन गुणस्थानका स्वरूप ३७२

विषय	पृष्ठ
तीसरा गुणस्थान कहनेकी प्रतिज्ञा	३७२
तीसरे गुणस्थानका स्वरूप	३७३
चौथा गुणस्थान वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा	३७४
चौथे गुणस्थानका वर्णन	३७४
सम्यक्त्वके आठ विवरण	३७५
सम्यक्त्वका स्वरूप	३७५
सम्यक्त्वकी उत्पत्ति	३७५
,, के चिन्ह	३७५
सम्यग्दर्शनके आठ गुण	३७६
सम्यक्त्वके पाँच भूषण	३७६
सम्यग्दर्शन पच्चीस दोष वर्जित होता है	३७६
आठ महामदके नाम	३७६
आठ मलोंके नाम	३७६
छह अनायतन	३७७
तीन मूढ़ता और पच्चीस दोषोंका जोड़	३७७
पाँच कारणोंसे सम्यक्त्वका विनाश होता है	३७७
सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार	३७८
मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है	३७८
मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियाँ	३७८
सम्यक्त्वोंके नाम	३७९
सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन	३८०
क्षयोपशम सम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन	३८०
वेदक सम्यक्त्वके चार भेद	३८१
यहाँ क्षायिक व उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप न कहनेका कारण	३८१
नव प्रकारके सम्यक्त्वोंका विवरण	३८१
प्रतिज्ञा	३८२
सम्यक्त्वके चार प्रकार	३८२
चतुर्थ गुणस्थानके वर्णनका उपसंहार	३८३
अणुव्रत गुणस्थानका वर्णन	३८३
श्रावकके इक्कीस गुण	३८३
बाईस अभक्ष्य	३८४
प्रतिज्ञा	३८५
ग्यारह प्रतिमाओंके नाम	३८५
प्रतिमाका स्वरूप	३८६
दर्शनप्रतिमाका ,,	३८६
व्रत ,, ,,	३८६
समायिक ,, ,,	३८६
चौथी प्रतिमाका स्वरूप	३८७
पाँचवीं ,, ,,	३८७
छट्ठी ,, ,,	३८८
सातवीं ,, ,,	३८८
नव बाड़के नाम	३८८
आठवीं प्रतिमाका स्वरूप	३८९
नववीं ,, ,,	३८९
दसवीं ,, ,,	३९०
ग्यारहवीं ,, ,,	३९०
प्रतिमाओंके संबंधमें मुख्य उल्लेख	३९०
प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावकोंके भेद	३९०
पाँचवें गुणस्थानका काल	३९१
एक पूर्वका प्रमाण	३९१
अंतर्मुहूर्तका मान	३९१
छट्ठे गुणस्थानका वर्णन	३९१
छट्ठे गुणस्थानका स्वरूप	३९२
पाँच प्रमादोंके नाम	३९२

विषय	पृष्ठ
साधुके अट्ठाईस मूलगुण	३९२
पंच अणुव्रत और पंच महाव्रतका स्वरूप	३९३
पांच समितिका स्वरूप	३९३
छह आवश्यक	३९३
स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप	३९४
वेदनीय कर्मजनित ग्यारह परीषह	३९४
चारित्रमोहजनित सात परीषह	३९५
ज्ञानावरणीयजनित दो परीषह	३९६
दर्शनमोहनीयजनित एक और अंतरायजनित एक परीषह	३९६
बाईस परीषहोंका वर्णन	३९६
स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुकी तुलना	३९७
सप्तम गुणस्थानका वर्णन	३९८
अष्टम गुणस्थानका वर्णन	३९९
नववें गुणस्थानका वर्णन	३९९
दसवें ,, ,,	४००
ग्यारहवें ,, ,,	४००
बारहवें ,, ,,	४०१
उपशमश्रेणीकी अपेक्षा गुणस्थानोंका काल	४०१
क्षपकश्रेणीमें गुणस्थानोंका काल	४०१
तेरहवें गुणस्थानका वर्णन	४०२
,, ,, स्वरूप	४०२
केवलज्ञानीकी मुद्रा और स्थिति	४०३
केवली भगवानको १८ दोष नहीं होते	४०४
केवलज्ञानी प्रभुके परमौदारिक शरीरका अतिशय	४०४
चौदहवें गुणस्थानका वर्णन	४०५
,, , स्वरूप	४०५
बंधका मूल आस्रव और मोक्षका मूल संवर है	४०६
संवरको नमस्कार	४०६
ग्रंथके अन्तमें संवरस्वरूप ज्ञानको नमस्कार	४०६
तेरहवें अधिकारका सार	४०७

ग्रन्थ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति

विषय	पृष्ठ
ग्रन्थ–महिमा	४१०
जीव–नटकी महिमा	४१०
त्रय कवियोंके नाम	४११
सुकवि लक्षण	४१२
कुकवि लक्षण	४१३
वाणी व्याख्या	४१४
मृषा गुणगान कथन	४१५
समयसार नाटककी व्यवस्था	४१६
ग्रंथके सब पद्योंकी संख्या	४२१
ईडर-भंडारकी प्रतिका अंतिम अंश	४२३
समयसारके पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका	४२५
श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचित नाटक-समयसार कलशोंकी वर्णानुक्रमणिका	४३९

कविवर बनारसीदासजी

(संक्षिप्त जीवन परिचय)

यद्यपि जैनधर्मके धारक अनेक विद्वान् भारत-वसुंधराको पवित्र कर गये हैं, तथापि किसीने अपना जीवनचरित्र लिखकर हम लोगोंकी अभिलाषाको तृप्त नहीं किया है। परंतु इस ग्रंथके निर्माता स्वर्गीय पण्डित बनारसीदासजी इस लाञ्छनसे रक्षित हैं। आपने स्वयं अपनी लेखनीसे पचपन वर्षका अंतर्बाह्य सत्य-चरित्र लिखकर जैनसाहित्यको पवित्र किया है और एक बड़ी भारी त्रुटिकी पूर्ति की है।

श्रीमान्का पवित्र चरित्र 'बनारसीविलास'में जैन इतिहासके आधुनिक खोजक श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने मुद्रित कराया था, उसीके आधारसे संक्षिप्त रूपमें यहाँ उद्धृत करते हैं।

मध्यभारतमें रोहतकपुरके पास बिहोली नामका एक ग्राम है। वहाँ राजपूतोंकी बस्ती है। एक समय बिहोलीमें जैनमुनिका शुभागमन हुआ। मुनिराजके विद्वत्तापूर्ण उपदेश और पवित्र चारित्रसे मुग्ध होकर वहाँके सम्पूर्ण राजपूत जैनी हो गये। और—

पहिरी माला मंत्रकी, पायो कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली-रखपाल॥

नवकारमंत्रकी माला पहिनके श्रीमाल कुलकी स्थापना की और बिहोलिया गोत्र रक्खा। बिहोलिया कुलने खूब वृद्धि पाई और दूर दूर तक फैल गया। इस कुलमें परंपरागत संवत् १६४३ के माघमें श्री बनारसीदासजीका जन्म हुआ।

बाल्यकाल

हरषित कहै कुटुम्ब सब, स्वामी पास सुपास।
दुहुंको जनम बनारसी, यह बनारसीदास॥

बालक बड़े लाड़चावके साथ बढ़ने लगा। माता-पिताका पुत्रपर निस्सीम प्रेम था। एक पुत्रपर किसका प्रेम नहीं होता? संवत् १६४८ में पुत्र संग्रहणी रोगसे ग्रसित हुआ। माता-पिताके शोकका ठिकाना न रहा। ज्यों-त्यों मंत्र-तंत्रोंके प्रयोगोंसे संग्रहणी उपशान्त

हुई कि, शीतलाने आ घेरा। इसप्रकार एक वर्षके लगभग बालक अतीव कष्टमें रहा। संवत् १६५० में बालकने चटशालामें जाकर [1]पांडे रूपचन्दजीके पास विद्या पढ़ना प्रारंभ किया। बालककी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, वह दो-तीन वर्षमें ही अच्छा व्युत्पन्न हो गया।

जिस समयका यह इतिहास है, उस समय देशमें मुसलमानोंका दौरदौरा था। उनके अत्याचारोंके भयसे बालविवाहका विशेष प्रचार था। इसलिये ९ वर्षकी वयमें ही खैराबादके सेठ कल्याणमलजीकी कन्याके साथ बालक बनारसीदासजीकी सगाई कर दी गई, और दो वर्षके उपरान्त सं० १६५४ में माघ सुदी १२ को विवाह हो गया। जिस दिन बधू आई थी, उसी दिन खरगसेनजीके एक पुत्रीका जन्म हुआ, उसी दिन उनकी वृद्धा नानीने कूच कर दिया। इसपर कवि कहते हैं:—

नानी मरन सुता जनम, पुत्रबधू आगौन।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन॥
यह संसार विडम्बना, देख प्रगट दुख खेद।
चतुर-चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहिं भेद॥

बनारसीदासजीकी वय इस समय १४ वर्षकी हो चुकी थी, बाल्यकाल निकल गया था और युवावस्थाका प्रारम्भ था। इस समय पं० देवदत्तजीके पास पढ़ना ही उनका एक मात्र कार्य था। धनंजय नाममालादि कई ग्रन्थ वे पढ़ चुके थे। यथा—

पढ़ी नाममाला शत दोय, और अनेकारथ अवलोय।
ज्योतिष अलंकार लघुलोक, खंडस्फुट शत चार श्लोक॥

यौवनकाल

युवावस्थाका प्रारंभ बुरा होता है, अनेक लोग इस अवस्थामें शरीरके मदसे उन्मत्त होकर कुलकी प्रतिष्ठा संपत्ति संतति आदि सबका चौका लगा देते हैं। इस अवस्थामें गुरुजनोंका प्रयत्नमात्र रक्षा कर सकता है, अन्यथा कुशल नहीं होती। बनारसीदास अपने माता-पिताके इकलौते लड़के थे, इसलिये माता-पिता और दादीका उनपर अतिशय प्रेम होना स्वाभाविक है। सो असाधारण प्रेमके कारण गुरुजनोंका लड़केपर जितना भय होना चाहिए, उतना बनारसीदासजीको नहीं था। इससे—

तजि कुलकान लोककी लाज, भयौ बनारसि आसिखबाज।

---

[1] जिनेन्द्रपंचकल्याणकके कर्त्ता पांडे रूपचंदजी अध्यात्मके विद्वान और प्रसिद्ध कवि थे।

हमारे चरित्रनायक युवावस्थामें अनङ्गरंगमें मग्न होरहे थे, उस समय जौनपुरमें खडतरगच्छीय यति भानुचन्द्रजी (महाकवि बाणभट्टकृत कादम्बरीके टीकाकार) का आगमन हुआ। यति महाशय सदाचारी और विद्वान थे। उनके पास सैकड़ों श्रावक आते-जाते थे। एक दिन बनारसीदासजी अपने पिताके साथ यतिजीके पास गये। यतिजीने इन्हें सुबोध देखकर स्नेह प्रगट किया। बनारसीदास प्रतिदिन आने-जाने लगे। पीछे इतना स्नेह बढ़ गया कि, दिनभर यतिके पास ही पाठशालामें रहते, केवल रात्रिको घर आते थे। यतिजीके पास पंचसंधिकी रचना, अष्टौन, सामायिक, पडिकोण (प्रतिक्रमण), छन्दशास्त्र, श्रुतबोध, कोष और अनेक स्फुट श्लोक आदि विषय कंठस्थ पढ़े। आठ मूलगुण भी धारण किये। परन्तु अभी श्रृंगार-रस नहीं छूटा था।

कुछ समयके बाद बनारसीदासजीके विचारोंमें परिवर्तन हुआ, सम्यग्ज्ञानकी ज्योति जागृत हुई और श्रृंगार-रससे अरुचि होने लगी। एक दिन वे अपनी मित्र-मंडलीके साथ गोमतीके पुलपर संध्याके समय समीर-सेवन कर रहे थे, और सरिताकी तरल-तरंगोंको चित्तवृत्तिकी उपमा देते हुए कुछ सोच रहे थे। बगलमें एक पोथी दबी थी। कविवर आप ही आप बड़बड़ाने लगे "लोगोंसे सुना है कि, जो कोई एक बार भी झूठ बोलता है, वह नरक-निगोदके अनेक दुःखोंमें पड़ता है, परन्तु मेरी न जाने क्या दशा होगी, जिसने झूठका एक पुंज बनाके रक्खा है। मैंने इस पुस्तकमें स्त्रियोंके कपोलकल्पित नख-शिखकी रचना की है। हाय! मैंने यह अच्छा नहीं किया। मैं तो पापका भागी हो ही चुका, अब और लोग भी इसे पढ़कर पापके भागी होंगे, तथा चिरकालके लिये पाप-परम्परा बढ़ेगी।" बस, इस उच्च विचारसे उनका हृदय डगमगाने लगा। वे और कुछ नहीं सोच सके और न किसीकी सम्मति ली, चुपचाप वह पोथी गोमतीके अथाह और वेगप्रवाह-युक्त जलमें फेंक दी। उस दिनसे बनारसीदासजीने एक नवीन अवस्था धारण की—

तिस दिनसौं बानारसी, करी धर्मकी चाह।
तजी आसिखी फासिखी,[1] पकरी कुलकी राह॥

खरगसेनजी पुत्रकी परिणतिमें यह परिवर्तन देखकर बहुत प्रसन्न हुए। और कहने लगे—

कहैं दोष कोउ ना तजै, तजै अवस्था पाय।
जैसे बालककी दशा, तरुण भये मिट जाय॥

---

[1] पापकार्य

और—

उदय होत शुभ कर्मके, भई अशुभकी हानि।
तातें तुरत बनारसी, गही धर्मकी बानि॥

जो बनारसी सन्तापजन्य रसके रसिया थे, वे अब जिनेन्द्रके शान्तरसमें मस्त रहने लगे। लोग जिन्हें गली-कूचोंमें भटकते देखते थे, उन्हें अब जिनमन्दिरमें अष्टद्रव्ययुक्त जाते देखने लगे। बनारसीको जिनदर्शनके बिना भोजन-त्यागकी प्रतिज्ञा, चतुर्दश नियम, व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमणादि अनेक आचार-विचारमें तन्मय देखने लगे।

तब अपजसी बनारसी, अब जस भयो विख्यात।

आगरेमें अर्थमल्लजी नामके अध्यात्म-रसके रसिक एक सज्जन थे। कविवरका उनके साथ विशेष समागम रहता था। वे कविवरकी विलक्षण काव्यशक्ति देखकर आनन्दित होते थे, परन्तु उनकी कवितामें आध्यात्मिक-विद्याका अभाव देखकर कभी कभी दुःखी भी होते थे। एक दिन अवसर पाकर उन्होंने कविवरको पं० राजमल्लजीकृत समयसार-टीका देकर कहा कि, आप इसको एक बार पढ़िये और सत्यकी खोज कीजिये। उन्होंने उस ग्रन्थको कई बार पढ़ा, परन्तु बिना गुरुके उन्हें अध्यात्मका यथार्थ मार्ग नहीं सूझ सका, और वे निश्चयनयमें इतने लवलीन हो गये कि, बाह्य क्रियाओंसे विरक्त होने लगे—

करनीकौ रस मिट गयो, भयो न आतमस्वाद।
भई बनारसिकी दशा, जथा ऊँटकौ पाद॥

उन्होंने जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको बिलकुल छोड़ दिया, यहाँ तक कि भगवानका चढ़ा हुआ नैवेद्य (निर्माल्य) भी खाने लग गये। यह दशा केवल इनकी ही नहीं हुई थी, वरन इनके मित्र चन्द्रभान, उदयकरन और थानमल्लजी आदि भी इसी अंधेरेमें पड़ गये थे। और निश्चयनयको इतने एकान्तरूपसे ग्रहण कर लिया था कि—

नगन होंहिं चारों जनें, फिरहिं कोठरी माहिं।
कहहिं भये मुनिराज हम, कछू परिग्रह नाहिं॥

सौभाग्यवश पं० रूपचन्दजीका आगरामें आगमन हुआ। पंडितजीने इन्हें अध्यात्मके एकान्त रोगसे ग्रसित देखकर गोम्मटसाररूप औषधिका उपचार किया।

गुणस्थानोंके अनुसार ज्ञान और क्रियाओंका विधान भलीभाँति समझते ही उनकी आँखें खुल गईं—

तब बनारसी औरहि भयो, स्याद्वाद परणति परणयो ।
सुनि सुनि रूपचन्दके बैन, बानारसी भयो दिढ़ जैन ॥
हिरदेमें कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच ।
सोउ मिटी समता भई, रही न ऊँच न नीच ॥

कुछ वर्षोंमें उन्होंने सूक्तिमुक्तावली, अध्यात्मवत्तीसी, मोक्षपैड़ी, फाग, धमाल, सिन्धुचतुर्दशी, फुटकर कवित्त, शिवपच्चीसी, भावना, सहस्रनाम, कर्मछत्तीसी, अष्टकगीत, वचनिका आदि कविताओंकी रचना की। ये सब कवितायें जिनागमके अनुकूल ही हुई हैं—

सोलह सौ बानवे लौं, कियो नियत रस पान ।
पै कवीसुरी सब भई, स्यादवाद परमान ॥

गोम्मटसारके पढ़ चुकनेपर जब इनके हृदयके पट खुल गये, तब भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयसारका भाषा पद्यानुवाद करना प्रारंभ किया। भाषा-साहित्यमें यह ग्रन्थ अद्वितीय और अनुपम है। इसमें बड़ी सरलतासे अध्यात्म जैसे कठिन विषयका वर्णन किया है। संवत् १६९६ में इनका प्रिय इकलौता पुत्र भी इस असार संसारसे विदा माँग गया। इस पुत्रशोककी उनके हृदयपर बड़ी गहरी चोट लगी, उन्हें यह संसार भयानक दिखाई देने लगा। क्योंकि—

नौ बालक हूए मुवे, रहे नारिनर दोय ।
ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रहें ठूंठसे होय ॥

वे विचारने लगे कि—

तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथकी भांति ।
ज्यों जाकौ परिग्रह घटै, त्यों ताको उपशांति ॥

परन्तु—

संसारी जानें नहीं, सत्यारथकी बात ।
परिग्रहसों माने विभव, परिग्रह बिन उतपात ॥

विदित हो कि अभाग्यवश कविवरका पूर्ण जीवनचरित्र प्राप्त नहीं है। शुभोदयसे जो कुछ प्राप्त है, वह उनकी ५५ वर्षकी अवस्था तकका वृत्तान्त है; और वह पुस्तक अर्द्धकथानकके नामसे प्रसिद्ध है। उसे कविवरने स्वयं अपनी पवित्र लेखनीसे लिखा है। लेखकने ग्रंथमें अपने गुण और दोष दोनों निष्पक्ष रीतिसे वर्णन किये हैं।

कविवरके जीवनकी अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ अंकित की गई हैं।

कविवर शतरंजके बड़े खिलाड़ी थे। शाहजहाँ बादशाह इनहीके साथ शतरंज खेला करते थे। बादशाह जिस समय दौरेपर निकलते थे, उस समय भी वे कविवरको साथमें रखते थे। यह कथा संवत् १६९८ के पश्चात्की है, जब कि, कविवरके चरित्र विशद हो रहे थे, और जब वे अष्टांग सम्यक्त्वकी धारणा पूर्णतया कर रहे थे। कहते हैं कि, उस समय कविवरने एक दुर्धर प्रतिज्ञा धारण की थी कि, मैं जिनेन्द्रदेवके अतिरिक्त किसीके भी आगे मस्तक नम्र नहीं करूँगा। जब यह बात फैलते फैलते बादशाहके कानों तक पहुँची, तब वे आश्चर्ययुक्त हुए परन्तु क्रोधयुक्त नहीं हुए। वे बनारसीदासजीके स्वभावसे और धर्मश्रद्धासे भली-भाँति परिचित थे, परन्तु उस श्रद्धाकी सीमा यहाँ तक पहुँच गई है, यह वे नहीं जानते थे, इसीसे विस्मित हुए। इस प्रतिज्ञाकी परीक्षा करनेके लिये बादशाहको एक मसखरी सूझी। आप एक ऐसे स्थानमें बैठे जिसका द्वार बहुत छोटा था, और जिसमें बिना सिर नीचा किये कोई प्रवेश नहीं कर सकता था। पश्चात् कविवरको एक सेवकके द्वारा बुला भेजा। कविवर द्वारपर आते ही ठहर गये और बादशाहकी चालाकी समझके चटसे बैठ गये। पश्चात् शीघ्र ही द्वारमें पहिले पैर डालके प्रवेश कर गये। इस क्रियासे उन्हें मस्तक नम्र न करना पड़ा। बादशाह उनकी इस बुद्धिमानीसे बहुत प्रसन्न हुए, और बोले, कविराज, क्या चाहते हो? इस समय जो माँगो मिल सकता है। कविवरने तीन बार वचनबद्ध करके कहा, जहाँपनाह! यह चाहता हूँ कि, आजके पश्चात् फिर कभी दरबारमें स्मरण न किया जाऊँ! बादशाह वचनबद्ध होनेसे बहुत दुःखी हुए, और उदास होकर बोले, कविवर, आपने अच्छा नहीं किया। इतना कहके अन्तःपुरमें चले गये, और कई दिन तक दरबारमें नहीं आये। कविवर अपने आत्मध्यानमें लवलीन रहने लगे।

एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी बनारसीदासजीकी काव्य-प्रशंसा सुनकर अपने कुछ चेलोंके साथ आगरे आये तथा कविवरसे मिले। कई दिनोंके समागमके पश्चात् वे अपनी बनाई हुई रामायणकी एक प्रति भेंट देकर विदा हो गये, और पार्श्वनाथ स्वामीकी

स्तुति दो-तीन कविताओं सहित जो बनारसीदासजीने भेंटमें दी थीं, साथमें लेते गये। इसके दो-तीन वर्षके उपरान्त जब दोनों कविश्रेष्ठोंका पुनः मिलाप हुआ, तब तुलसीदासजीने रामायणके सौन्दर्यके विषयमें प्रश्न किया। जिसके उत्तरमें कविवरने एक कविता उसी समय रचके सुनाई—

विराजै रामायण घटमाहिं ।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं ।
विराजै रामायण० ॥ १ ॥

आतम राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत ।
शुभपयोग बानरदल मंडित, वर विवेक रनखेत. विराजै० ॥ २ ॥

ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति[1] भाग ।
भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग. विराजै० ॥ ३ ॥

जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल, लरे निकांछित सूर ।
जूझे रागद्वेष सेनापति, संसै गढ़ चकचूर. विराजै० ॥ ४ ॥

विलखत कुंभकरण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव ।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव. विराजै० ॥ ५ ॥

मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान ।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छुटे छपकगुण बान. विराजै० ॥ ६ ॥

निरखि सकति गुन चक्रसुदर्शन, उदय बिभीषण दीन ।
फिरै कबंध मही रावणकी, प्राणभाव शिरहीन. विराजै० ॥ ७ ॥

इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम ।
यह विवहारदृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम. विराजै० ॥ ८ ॥

(बनारसीविलास पृष्ठ २४२)

तुलसीदासजी इस अध्यात्मचातुर्यको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले "आपकी कविता मुझे बहुत प्रिय लगी है," मैं उसके बदलेमें आपको क्या सुनाऊं? उस दिन आपकी पार्श्वनाथस्तुति पढ़के मैंने भी एक पार्श्वनाथ स्तोत्र बनाया था, उसे आपको ही

---

[1] सूर्पनखा राक्षसी.

भेट करता हूँ। ऐसा कहकर "भक्तिविरदावली" नामक एक सुन्दर कविता कविवरको अर्पण की। कविवरको उस कवितासे बहुत संतोष हुआ, और पीछे बहुत दिनों तक दोनों सज्जनोंकी भेट समय समय पर होती रही।

कविवरका देहोत्सर्गकाल अविदित है, परन्तु मृत्युकालकी एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि, अन्तकालमें कविवरका कंठ रुंध गया था, इस कारण वे बोल नहीं सकते थे। और अपने अन्त समयका निश्चय कर ध्यानावस्थित हो रहे थे। लोगोंको विश्वास हो गया था कि, ये अब घंटे दो घंटेसे अधिक जीवित नहीं रहेंगे। परन्तु जब घंटे दो घंटेमें कविवरकी ध्यानावस्था पूर्ण नहीं हुई, तब लोग तरह तरहके ख्याल करने लगे। मूर्ख लोग कहने लगे कि, इनके प्राण माया और कुटुम्बियोंमें अटक रहे हैं, जब तक कुटुम्बीजन इनके सम्मुख न होंगे और दौलतकी गठरी इनके समक्ष न होगी, तब तक प्राण विसर्जन न होंगे। इस प्रस्तावमें सबने अनुमति प्रगट की, किसीने भी विरोध नहीं किया। परन्तु लोगोंके इस मूर्खतापूर्ण विचारोंको कविवर सहन नहीं कर सके। उन्होंने इस लोकमूढ़ताका निवारण करना चाहा, इसलिये एक पट्टिका और लेखनी लानेके लिये निकटस्थ लोगोंको इशारा किया। बड़ी कठिनतासे लोगोंने उनके इस संकेतको समझा। जब लेखनी आ गई, तब उन्होंने दो छन्द गढ़कर लिख दिये। उन्हें पढ़कर लोग अपनी भूलको समझ गये, और कविवरको कोई परम विद्वान् एवं धर्मात्मा समझकर उनकी वैयावृत्यमें लग गए।

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यौ रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना॥
जा परजैको अंत, सत्य कर मानना।
चले बनारसिदास, फेर नहिं आवना॥ *

देवरीकलां (सागर)
कार्तिक कृष्णा १४
वीर सं. २४५४

सज्जनोंका सेवक—
हीरालाल नेगी

⁂

---

* यहाँ श्री हीरालालजी नेगी द्वारा लिखित जीवनचरित्रका संक्षिप्त रूप दिया गया है।

श्रीपरमात्मने नमः

स्व० पं० बनारसीदासविरचित

समयसार नाटक

भाषाटीका सहित

* * *

हिन्दी टीकाकारकी ओरसे मंगलाचरण

(दोहा)

निज स्वरूपकौ परम रस, जामैं भरौ अपार ।
बन्दौं परमानन्दमय, समयसार अविकार ॥ १ ॥

कुन्दकुन्द मुनि-चन्दवर, अमृतचन्द मुनि-इन्द ।
आतमरसी बानारसी, बन्दौं पद अरविन्द ॥ २ ॥

ग्रन्थकारकी ओरसे मंगलाचरण ।

श्री पार्श्वनाथजीकी स्तुति ।

(वर्ण ३१ छन्द मनहर । चाल-झंझराकी)

करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,
उरग-लखन-पग सिवमगदरसी[1] ।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविकजन-सरसी ॥
मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी ।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी ॥ १ ॥

शब्दार्थः—खग = (ख = आकाश, ग = गमन) सूर्य । कदन = युद्ध । सजल = पानी-सहित । जलद = (जल = पानी, द = देनेवाले) मेघ । सपत = सात ।

अर्थः—जो संसारमें कर्मके भ्रमरूप अंधकारको दूर करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिनके चरणमें सांपका चिह्न है, जो मोक्षका मार्ग दिखाने वाले हैं, जिनके दर्शन करनेसे भव्य जीवोंके नेत्रोंसे आनंदके आँसू बह निकलते हैं और अनेक भव्यरूपी सरोवर प्रसन्न हो जाते हैं, जिन्होंने कामदेवको युद्धमें हरा दिया है, जो उत्कृष्ट जैन धर्मके हितकारी हैं, जिनका स्मरण करनेसे भक्तजनोंके सब डर दूर भागते हैं, जिनका शरीर पानीसे भरे हुए मेघके समान नीला है, जिनका मुकुट[2] सात फणका है, जो कमठके जीवको असुर पर्यायमें परास्त करनेवाले हैं; ऐसे पार्श्वनाथ जिनराजको (पंडित) बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

---

[1] इस छन्दमें अन्त वर्णको छोड़कर सब वर्ण लघु हैं, मनहर छन्दमें **'अंत इक गुरु पद अवशहि धरिकें'** ऐसा छन्द शास्त्रका नियम है ।

[2] जब भगवान पार्श्वनाथ स्वामीकी मुनि अवस्थामें कमठके जीवने उपसर्ग किया था तब

छन्द छप्पय (इस छन्दमें सब वर्ण लघु हैं)

सकल-करम-खल-दलन,
कमठ-सठ-पवन कनक-नग ।
धवल परम-पद-रमन,
जगत-जन-अमल-कमल-खग ॥
परमत-जलधर-पवन,
सजल-घन-सम-तन समकर ।
पर-अघ-रजहर जलद,
सकल जन-नत भव-भय-हर ॥
जमदलन नरकपद-छयकरन,
अगम अतट भवजलतरन ।
वर-सबल-मदन-वन-हरदहन,
जय जय परम अभयकरन ॥ २॥

शब्दार्थः—कनक-नग = (कनक सोना, नग = पहाड़) सुमेरु । परमत = जैनमतके सिवाय दूसरे सब मिथ्यामत । नत = वंदनीय । हर दहन = रुद्रकी अग्नि ।

अर्थः—जो संपूर्ण दुष्टकर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं, कमठकी वायुके समक्ष मेरुके समान हैं, अर्थात् कमठके जीवकी चलाई हुई तेज आंधीके उपसर्गसे जो नहीं हिलनेवाले हैं, निर्विकार सिद्धपदमें रमण करते हैं, संसारी जीवों रूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान हैं, मिथ्यामतरूपी मेघोंको उड़ा देनेके लिये प्रचण्ड वायु रूप हैं, जिनका शरीर पानीसे भरे हुए मेघके समान नीलवर्ण है, जो जीवोंको समता देनेवाले हैं, अशुभ कर्मोंकी धूल धोनेके लिये

प्रभुकी राज्य अवस्थामें उपदेश पाये हुए नाग नागनीके जीवने धरणेन्द्र पद्मावतीकी पर्यायमें उपसर्ग निवारण किया था और सात फनका सर्प बनकर प्रभुके ऊपर छाया करके अखंड जलवृष्टिसे रक्षा की थी, उसी प्रयोजनसे इन भगवानकी प्रतिमा पर सात फनका चिह्न प्रचलित है और इसीलिये कविने मुकुटकी उपमा दी है ।

मेघके समान हैं, सम्पूर्ण जीवोंके द्वारा वन्दनीय हैं, जन्म-मरणका भय हरनेवाले हैं, जिन्होंने मृत्युको जीता है, जो नरक गतिसे बचानेवाले हैं, जो बड़े और गम्भीर संसार सागरसे तारनेवाले हैं, अत्यन्त बलवान कामदेवके वनको जलानेके लिये [1]रुद्रकी अग्निके समान हैं, जो जीवोंको बिलकुल निडर बनानेवाले हैं, उन (पार्श्वनाथ भगवान) की जय हो! जय हो!! ॥२॥

(सवैया इकतीसा)

जिन्हिके वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिंद पदुमावति पलकमैं।
जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करै,
पारस पखान नामी भयौ है खलकमैं॥
जिन्हकी जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
अपनौ स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमैं।
तेई प्रभु पारस महारसके दाता अब,
दीजै मोहि साता दृगलीलाकी ललकमैं॥ ३॥

शब्दार्थः—कुधातु = लोहा। पारस पखान = पारस पत्थर। खलक = जगत। भलक = प्रभा। महारस = अनुभवका स्वाद। साता = शान्ति।

अर्थः—जिनकी वाणी हृदयमें धारण करके सांपका जोड़ा क्षणभरमें धरणेन्द्र पद्मावती हुआ, जिनके नामके प्रतापसे जगतमें पत्थर भी पारसके नामसे प्रसिद्ध है जो लोहेको सोना बना देता है, जिनकी जन्मभूमिके नामके प्रभावसे हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है—मानों सूर्यकी ज्योति ही प्रगट हुई है, वे अनुभव-रसका स्वाद देनेवाले पार्श्वनाथ जिनराज अपनी प्यारी चितवनसे (दृष्टिसे) हमें शान्ति देवें ॥३॥

---

[1] यह वैष्णवमतका दृष्टान्त है, उनके मतमें कथन है कि महादेवजीने तीसरा नेत्र निकाला और कामदेवको भस्म कर दिया। यद्यपि जैनमतमें यह वार्ता अप्रमाण है तथापि दृष्टान्त मात्र प्रमाण है।

(श्रीसिद्धस्तुति । अरिल्ल छन्द)

अविनासी अविकार परमरसधाम हैं ।
समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं ॥
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं ।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—सरवंग (सर्वांग) = सब आत्मप्रदेश । परमसुख = आत्मीय सुख । अभिराम = प्रिय ।

अर्थः—जो नित्य और निर्विकार हैं, उत्कृष्ट सुखके स्थान हैं, साहजिक शान्तिसे [1]सर्वांग सुन्दर हैं, निर्दोष हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं, विरोधरहित हैं, अनादि अनन्त हैं; वे लोकके शिखामणि सिद्ध भगवान सदा जयवन्त होवें ॥ ४ ॥

(श्रीसाधुस्तुति । सवैया इकतीसा)

ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग-रस भर्‍यौ है ।
सरनकी रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करनसौं पीठि दे चरन अनुसर्‍यौ है ॥
धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है,
परम नरम ह्वैकै करमसौं लर्‍यौ है ।
ऐसौ मुनिराज भुवलोकमैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमसकार कर्‍यौ है ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—उजागर = प्रकाशक । रतनागर (रत्नाकर) = मणियोंकी खानि । भै (भय) = डर । करन (करण) = इन्द्रिय । चरन (चरण) = चारित्र । विहंडन = विनाश करनेवाला । नरम = कोमल अर्थात् निष्कषाय । भुव (भू) = पृथ्वी ।

---

[1] जिनका प्रत्येक आत्मप्रदेश विलक्षण शान्तिसे भरपूर है ।

अर्थः—जो ज्ञानके प्रकाशक हैं, [१]साहजिक आत्मसुखके समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नोंकी खानि हैं, वैराग्य-रससे परिपूर्ण हैं, किसीका आश्रय नहीं चाहते, मृत्युसे नहीं डरते, इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्मकी शोभा है, जो मिथ्यात्वका नाश करनेवाले हैं, जो कर्मोंके साथ अत्यन्त शान्तिपूर्वक[२] लड़ते हैं; ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वी तलपर शोभायमान हैं उनके दर्शन[३] करके पं० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥

सम्यग्दृष्टिकी स्तुति । सवैया छन्द (८ भगण)

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चंदन ।
केलि करै सिव मारगमैं,
जग माहिं जिनेसुरके लघु नंदन ॥
सत्यसरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन ।
सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—भेदविज्ञान = निज और परका विवेक । केलि = मौज । लघुनंदन = छोटे पुत्र । अवदात = स्वच्छ । मिथ्यात निकंदन = मिथ्यात्वको नष्ट करनेवाला ।

अर्थः—जिनके हृदयमें निज-परका विवेक प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दनके समान शीतल है अर्थात् कषायोंका आताप नहीं है, और निज-पर विवेक होनेसे जो मोक्षमार्गमें मौज करते हैं, जो संसारमें अरहंत देवके लघु पुत्र हैं अर्थात् थोड़े ही कालमें अरहंत पद प्राप्त करनेवाले हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शनको नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है; उन सम्यग्दृष्टि जीवोंकी आनन्दमय अवस्थाको निश्चय करके पं० बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

---

[१] जो आत्मजनित है, किसीके द्वारा उत्पन्न नहीं होता । [२] यह कर्मोंकी लड़ाई क्रोध आदि कषायोंके उद्वेग रहित होती है । [३] हृदयमें दर्शन करनेका अभिप्राय है ।

(सवैया इकतीसा)

स्वारथके साचे परमारथके साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं ।
काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं ॥
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा,
अंतरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं ।
दास भगवन्तके उदास रहैं जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥७॥

शब्दार्थः—स्वारथ (स्वार्थ स्व = आत्मा, अर्थ = पदार्थ) आत्म पदार्थ। परमारथ ([1]परमार्थ) = परम अर्थ अर्थात् मोक्ष । परजाय (पर्याय) = शरीर । लच्छि = लक्ष्मी । अजाची = नहीं माँगनेवाले ।

अर्थः—जिन्हें निज आत्माका सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थसे सच्चा प्रेम है, जो हृदयके सच्चे हैं और सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे जैनी[2] हैं, किसीसे भी जिनका विरोध[3] नहीं है, शरीरमें जिनको अहंबुद्धि नहीं है, जो आत्मस्वरूपके खोजक हैं न अणुव्रती हैं न महाव्रती हैं[4], जिन्हें सदैव अपने ही हृदयमें आत्म-हितकी सिद्धि, आत्मशक्तिकी रिद्धि और आत्मगुणोंकी वृद्धि प्रगट दिखती है, जो अंतरङ्ग लक्ष्मीसे अजाची लक्षपति अर्थात् सम्पन्न हैं, जो जिनराजके सेवक हैं, संसारसे उदासीन रहते हैं, जो आत्मीय सुखसे सदा आनन्दरूप रहते हैं, इन गुणोंके धारक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ॥ ७ ॥

---

१. जैन धर्ममें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ कहे हैं, उनमें मोक्ष परम पदार्थ है ।
२. जिनराजके वचनों पर जिनका अटल विश्वास है । ३. समस्त नयोंके ज्ञाता होनेसे इनके ज्ञानमें किसी भी सम्यक् विवक्षाका विरोध नहीं भासता । ४. यहाँ असंजत सम्यग्दृष्टिको ध्यानमें रखके कहा है जिन्हें "**चरितमोहवश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजै हैं ।**"

(सवैया इकतीसा)

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ,
हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है ।
साचौ सुख मानै निजमहिमा अडोल जानै,
आपुहीमैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है ॥
जैसैं जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै,
तैसैं जीव अजीव विलछनु करतु है ।
आतम सकति साधै ग्यानकौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है ॥८॥

शब्दार्थः—कर्दम = कीचड़ । कतकफल = निर्मली । विलछनु = पृथक्करण । सकति = शक्ति ।

अर्थः—जिसके हृदयमें गणधर जैसा निज-परका विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभवसे आनन्दित होकर मिथ्यात्वको नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीन सुखको सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणोंका अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभावको आपहीमें धारण करता है, जो अनादिके मिले हुए जीव और अजीवका पृथक्करण जल[1] कर्दमसे कतकफलके समान करता है, जो आत्मबल बढ़ानेमें उद्योग करता है और ज्ञानका प्रकाश करता है, वही सम्यग्दृष्टि संसार-समुद्रसे पार होता है ॥८॥

(मिथ्यादृष्टिका लक्षण । सवैया इकतीसा)

धरम न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी ।
भूल्यौ अभिमानमैं न पाउ धरै धरनीमैं,
हिरदैमैं करनी विचारै उतपातकी ॥

---

[1] गंदे पानीमें निर्मली डालनेसे कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी साफ हो जाता है।

फिरै डांवाडोलसौ करमके कलोलिनिमैं,
व्है रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी ।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—धरम (धर्म) = वस्तुस्वभाव । उतपात = उपद्रव ।

अर्थः—जो वस्तुस्वभावसे अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वमय है और एकान्तका पक्ष लेकर जगह जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञानके अहंकारमें भूलकर धरती पर पाँव नहीं टिकाता और चित्तमें उपद्रव ही सोचता है, कर्मके झकोरोंसे संसारमें डाँवाडोल हुआ फिरता है अर्थात् विश्राम नहीं पाता सो ऐसी दशा हो रही है जैसे बघरूड़ेमें पत्ता उड़ता फिरता है, जो हृदयमें (क्रोधसे) तप्त रहता है, (लोभसे) मलिन रहता है, (मायासे) कुटिल है, (मानसे) बड़े कुबोल बोलता है, ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी होता है ॥ ९ ॥

(दोहा)

बंदौं सिव अवगाहना, अरु बंदौं सिव पंथ ।
जसुप्रसाद भाषा करौं, नाटकनाम गरंथ ॥ १० ॥

शब्दार्थः—अवगाहना = आकृति ।

अर्थः—मैं सिद्ध भगवानको और मोक्षमार्ग (रत्नत्रय)को नमस्कार करता हूँ, जिनके प्रसादसे देशभाषामें नाटक समयसार ग्रन्थ रचता हूँ ॥ १० ॥

कविस्वरूप वर्णन । (सवैया मत्तगयन्द । वर्ण २३)

चेतनरूप अनूप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मेरौ[१] ।
मोह महातम आतम अंग,
कियौ परसंग महा तम घेरौ ॥

---

[१]. यहाँ निश्चय नयकी अपेक्षा कथन है। [२]. यहाँ व्यवहार नयकी अपेक्षा कथन है।

ग्यानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै भववास बसेरौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—अमूरति (अमूर्ति) = निराकार । परसंग (प्रसंग) = सम्बन्ध ।

अर्थः—मेरा स्वरूप सदैव चैतन्यस्वरूप उपमा रहित और निराकार सिद्ध सदृश है। परन्तु मोहके महा अन्धकारका सङ्ग करनेसे अन्धा बन रहा था। अब मुझे ज्ञानकी ज्योति प्रगट हुई है इसलिये नाटक समयसार ग्रन्थको कहता हूँ, जिसके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है और जल्दी संसारका निवास अर्थात् जन्म-मरण छूट जाता है ॥ ११ ॥

कविलघुता वर्णन (छन्द मनहर । वर्ण ३१)

जैसैं कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवेकौं,
भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ ।
जैसैं गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौं,
बावनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ ॥
जैसैं जलकुंडमैं निरखि ससि-प्रतिबिम्ब,
ताके गहिबेकौं कर नीचौ करै टाबरौ ।
तैसैं मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ,
गुनी मोहि हसैंगे कहैंगे कोऊ बावरौ ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—विरख (वृक्ष) = पेड़ । बावनु (बौना) = बहुत छोटे कदका मनुष्य । [1]टाबरौ = बालक । बावरौ = पागल ।

अर्थः—जिस प्रकार कोई मूर्ख अपने बाहुबलसे बड़ा भारी समुद्र तैरनेका प्रयत्न करे, अथवा कोई बौना मनुष्य पहाड़के वृक्षमें लगे हुए फलको तोड़नेके लिये

---

[1] यह शब्द मारवाड़ी भाषाका है।

जल्दीसे उछले, जिस प्रकार कोई बालक पानीमें पड़े हुए चन्द्रबिम्बको हाथसे पकड़ता है, उसी प्रकार मुझ मन्दबुद्धिने नाटक समयसार (महाकार्य) प्रारम्भ किया है, विद्वान् लोग हँसी करेंगे और कहेंगे कि कोई पागल होगा ॥ १२ ॥

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू रतनसौं बींध्यौ है रतन कोऊ,
तामैं सूत रेसमकी डोरी पोई गई है।
तैसैं बुध टीकाकरि नाटक सुगम कीनौ,
तापरि अलपबुधि सूधी परिनई है॥
जैसैं काहू देसके पुरुष जैसी भाषा कहैं,
तैसी तिनिहूंके बालकनि सीख लई है।
तैसैं ज्यौं गरंथकौ अरथ कह्यौ गुरु त्योंहि,
हमारी मति कहिवेकौं सावधान भई है॥ १३॥

शब्दार्थः—बुध = विद्वान्। परनई (परणई) = हुई है।

अर्थः—जिस प्रकार हीराकी कनीसे किसी रत्नमें छेद कर रक्खा हो तो उसमें रेशमका धागा डाल देते हैं, उसी प्रकार विद्वान स्वामी अमृतचन्द्र आचार्यने टीका करके समयसारको सरल कर दिया है, इससे मुझ अल्पबुद्धिकी समझमें आ गया। अथवा जिस प्रकार किसी देशके निवासी जैसी भाषा बोलते हैं वैसी उनके बालक सीख लेते हैं; उसी प्रकार मुझको गुरु-परम्परासे जैसा अर्थज्ञान हुआ है वैसा ही कहनेको मेरी बुद्धि तत्पर हुई है॥ १३॥

अब कवि कहते हैं कि भगवानकी भक्तिसे हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है।

(सवैया इकतीसा)

कबहू सुमति ह्वै कुमतिकौ विनास करै,
कबहू विमल जोति अंतर जगति है।
कबहू दया ह्वै चित्त करत दयालरूप,
कबहू सुलालसा ह्वै लोचन लगति है॥

कबहू आरती व्है कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती व्है बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारै भगवंतकी भगति है॥ १४॥

शब्दार्थः—सुभारती = सुन्दर वाणी। लालसा = अभिलाषा। लोचन = नेत्र।

अर्थः—हमारे हृदयमें भगवानकी ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धिको हटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदयमें प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्तको दयालु बनाती है, कभी अनुभवकी पिपासारूप होकर नेत्रोंको स्थिर करती है, कभी आरतीरूप होकर प्रभुके सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनोंमें स्तोत्र बोलती है, जब जैसी अवस्था होती है तब तैसी क्रिया करती है॥ १४॥

अब नाटक समयसारकी महिमा वर्णन करते हैं (सवैया इकतीसा)

मोख चलिवेकौ सौन करमकौ करै बौन,
जाके रस-भौन बुध लौन ज्यौं घुलत है।
गुनको गरन्थ निरगुनकौ सुगम पंथ,
जाकौ जसु कहत सुरेश अकुलत है॥
याहीके जु पच्छी ते उड़त ग्यानगगनमैं,
याहीके विपच्छी जगजालमैं रुलत है।
हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार,
नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है॥ १५॥

शब्दार्थः—सौन = सीढ़ी, बौन = वमन, हाटक = सुवर्ण, भौन = (भवन) जल।

अर्थः—यह नाटक मोक्षको चलनेके लिये सीढ़ी स्वरूप है, कर्मरूपी विकारका वमन करता है, इसके रसरूप जलमें विद्वान् लोग नमकके समान लीन

हो जाते हैं, यह सम्यग्दर्शनादि गुणोंका पिण्ड है, मुक्तिका सरल रास्ता है, इसकी महिमा वर्णन करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं, जिन्हें इस ग्रन्थको पक्षरूप पंखे प्राप्त हैं वे ज्ञानरूपी आकाशमें विहार करते हैं और जिसको इस ग्रन्थकी पक्षरूप पंख नहीं हैं वह जगतके जंजालमें फँसता है, यह ग्रन्थ शुद्ध सुवर्णके समान निर्मल है, विष्णुके विराटरूपके सदृश विस्तृत है, इस ग्रन्थके सुननेसे हृदयके कपाट खुल जाते हैं ॥ १५ ॥

अनुभवका वर्णन (दोहा)

कहौं सुद्ध निहचैकथा, कहौं सुद्ध विवहार ।
मुकतिपंथकारन कहौं अनुभौको अधिकार ॥ १६ ॥

अर्थः—शुद्ध निश्चय नय, शुद्ध व्यवहार नय और मुक्तिमार्गमें कारणभूत आत्मानुभवकी चर्चा वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥

अनुभवका लक्षण (दोहा)

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम ॥ १७ ॥

अर्थः—आत्म पदार्थका विचार और ध्यान करनेसे चित्तको जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिक रसका आस्वादन करनेसे जो आनन्द मिलता है उसीको अनुभव कहते हैं ॥ १७ ॥

अनुभवकी महिमा (दोहा)

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—चिंतामणि = मनोवांछित पदार्थोंका देनेवाला ।

अर्थः—अनुभव चिंतामणि रत्न है, शान्तिरसका कुआँ है, मुक्तिका मार्ग है और मुक्तिस्वरूप है ॥ १८ ॥

(सवैया मनहर)

अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।
अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है॥
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है॥ १९॥

शब्दार्थः—रसा = पृथ्वी। अधोरसा = नरक। पोरसा = उपजाऊ भूमि। चित्रावेलि= एक तरहकी जड़ीका नाम।

अर्थः—अनुभवके रसको जगतके ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभवका अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभवकी भूमि सकल पदार्थोंको उपजानेवाली है, अनुभव नर्कसे निकालकर स्वर्ग मोक्षमें ले जाता है, इसका आनन्द कामधेनु और चित्रावेलिके समान है, इसका स्वाद पंचामृत भोजनके समान है। यह कर्मोंको क्षय करता है और परम पदसे प्रेम जोड़ता है, इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है॥ १९॥

नोट—संसारमें पंचामृत, रसायन, कामधेनु, चित्रावेलि आदि सुखदायक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, सो इनका दृष्टान्त दिया है परन्तु अनुभव इन सबसे निराला और अनुपम है।

छह द्रव्योंका ज्ञान अनुभवके लिये कारण है अतः उनका विवेचन किया जाता है।

जीव द्रव्यका स्वरूप (दोहा)

चेतनवंत अनंत गुन, परजै सकति अनंत।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरब विरतंत॥ २०॥

शब्दार्थः—अलख = इन्द्रियगोचर नहीं है। सर्वगत = सब लोकमें।

अर्थः—चैतन्यरूप है, अनन्त गुण अनन्त पर्याय और अनन्त शक्ति सहित है, अमूर्तीक है, अखण्डित है, [1]सर्वव्यापी है। यह जीव द्रव्यका स्वरूप कहा है ॥ २० ॥

पुद्गल द्रव्यका लक्षण (दोहा)

फरस-वरन-रस-गन्ध मय, नरद-पास-संठान।
अनुरूपी पुदगल दरव, नभ-प्रदेश-परवान ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—फरस = स्पर्श। नरद-पास = चौपड़का पासा। संठान = आकार। परवान (प्रमाण) = बराबर।

अर्थः—पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप, आकाशके प्रदेशके बराबर, चौपड़के पासेके [2]आकारका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवन्त है ॥ २१ ॥

धर्म द्रव्यका लक्षण (दोहा)

जैसैं सलिल समूहमैं, करै मीन गति-कर्म।
तैसैं पुदगल जीवकौं, चलनसहाई धर्म ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—सलिल = पानी। मीन = मछली। गति-कर्म = गमनक्रिया।

अर्थः—जिस प्रकार मछलीकी गमनक्रियामें पानी सहायक होता है, उसी प्रकार जीव पुद्गलकी गतिमें [3]सहकारी धर्म द्रव्य है ॥ २२ ॥

अधर्म द्रव्यका लक्षण (दोहा)

ज्यौं पंथी ग्रीषमसमै, बैठै छायामाँहि।
त्यौं अधर्मकी भूमिमैं, जड़ चेतन ठहराँहि ॥ २३ ॥

पंथी = पथिक। ग्रीषमसमै = ग्रीष्मकालमें

अर्थः—जिस प्रकार ग्रीष्म कालमें पथिक छायाका निमित्त पाकर बैठते हैं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें निमित्तकारण है ॥ २३ ॥

---

[1] लोक अलोक प्रतिबिम्बित होनेसे पूर्ण ज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापी है। [2] छह पहलूका जैसे चपेटा होता है। [3] उदासीन निमित्तकारण है, प्रेरक नहीं है।

आकाश द्रव्यका लक्षण (दोहा)

संतत जाके उदरमैं, सकल पदारथवास ।
जो भाजन सब जगतकौ, सोई दरब अकास ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—संतत = सदाकाल । भाजन = बर्तन, पात्र ।

अर्थः—जिसके पेटमें सदैव सम्पूर्ण पदार्थ निवास करते हैं, जो सम्पूर्ण द्रव्योंको पात्रके समान आधारभूत है, वही आकाश द्रव्य है ॥ २४ ॥

नोट—अवगाहना आकाशका परम धर्म है, सो आकाशद्रव्य अन्य द्रव्योंको अवकाश दिये हुए है और अपनेको भी अवकाश दिये हुए है। जैसेः—ज्ञान जीवका परम धर्म है सो जीव अन्य द्रव्योंको जानता है और अपनेको भी जानता है।

कालद्रव्यका लक्षण (दोहा)

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठांनि ।
परावर्त वर्तन धरै, काल दरब सो जांनि ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—नव = नवीन । जीरन (जीर्ण) = पुराना ।

अर्थः—जो वस्तुका नाश न करके सम्पूर्ण पदार्थोंकी नवीन हालतोंके प्रगट होने और पूर्व पर्यायोंके लय होनेमें निमित्तकारण है, ऐसा वर्तना लक्षणका धारक कालद्रव्य है ॥ २५ ॥

नोट—काल द्रव्यका परम धर्म वर्तना है, सो वह अन्य द्रव्योंकी पर्यायोंका वर्तन करता है और अपनी भी पर्यायें पलटता है ।

नव पदार्थोंका ज्ञान अनुभवके लिये कारण है अतः उनका विवेचन किया जाता है।

जीवका वर्णन (दोहा)

समता-रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास ।
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—समता = राग-द्वेष रहित वीतरागभाव । रमता = लीन रहना । उरधता (ऊर्ध्वता) = ऊपरको चलनेका स्वभाव । ग्यायकता = जानपना । वेदकता = स्वाद लेना ।

अर्थः—वीतराग भावमें लीन होना, ऊर्ध्वगमन, ज्ञायकस्वभाव, साहजिक सुखका सम्भोग, सुख-दुःखका स्वाद और चैतन्यता ये सब जीवके निजगुण हैं ॥ २६ ॥

अजीवका वर्णन (दोहा)

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़सम्मेल ।
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीवके खेल ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—सम्मेल = बंध । लघुता = हलकापन । गुरुता = भारीपना । गमनता = गति करना ।

अर्थः—तन, मन, वचन, अचेतनता, एक-दूसरेसे मिलना, हलका और भारीपन तथा गति करना, यह सब पुद्गल नामक अजीव द्रव्यकी परिणति है ॥ २७ ॥

पुण्यका वर्णन (दोहा)

जो विशुद्धभावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ ।
जो सुखदायक जगतमैं, पुन्य पदारथ सोइ ॥ २८ ॥

अर्थः—जो शुभभावोंसे बँधता है, स्वर्गादिके सम्मुख होता है और लौकिक सुखका देनेवाला है वह पुण्य पदार्थ है ॥ २८ ॥

पापका वर्णन (दोहा)

संकलेश भावनि बँधै, सहज अधोमुख होइ ।
दुखदायक संसारमैं, पाप पदारथ सोइ ॥ २९ ॥

अर्थः—जो अशुभ भावोंसे बँधता है तथा अपनेआप नीच गतिमें गिरता है और संसारमें दुःखका देनेवाला है, वह पाप पदार्थ है ॥ २९ ॥

आस्रवका वर्णन (दोहा)

जोई करमउदोत, धरि होइ क्रिया रसरत्त ।
करषै नूतन करमकौं, सोई आस्रव तत्त ॥ ३० ॥

शब्दार्थ:—करमउदोत = कर्मका उदय होना। क्रिया = योगोंकी प्रवृत्ति। रसरत्त = राग सहित। रत्त = मग्न होना। तत्त = तत्त्व।

अर्थ:—कर्मके उदयमें योगोंकी जो राग[1] सहित प्रवृत्ति होती है, वह नवीन कर्मोंको खींचती है, उसे आस्रव पदार्थ कहते हैं॥ ३०॥

संवरका वर्णन (दोहा)

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त।
रोकै आवत करमकौं, सो है संवर तत्त॥ ३१॥

शब्दार्थ:—विरत्त = अलहदा होना।

अर्थ:—जो ज्ञान-दर्शन उपयोगको प्राप्त करके योगोंकी क्रियासे विरक्त होता है और आस्रवको रोक देता है वह संवर पदार्थ है॥ ३१॥

निर्जरा वर्णन (दोहा)

जो पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन आउ।
खिरबेकौं उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ॥ ३२॥

शब्दार्थ:—थिति = स्थिति। सत्ता = अस्तित्व। खिरबेकौं = झड़नेके लिये। उद्यत = तैयार, तत्पर।

अर्थ:—जो पूर्वस्थित कर्म अपनी अवधि पूर्ण करके झड़नेको तत्पर होता है उसे निर्जरा पदार्थ जानो॥ ३२॥

[2]बंधका वर्णन (दोहा)

जो नवकरम पुरानसौं, मिलैं गांठि दिढ़ होइ।
सकति बढ़ावै बंसकी, बंध पदारथ सोइ॥ ३३॥

---

[1] यहाँ सांपरायिक आस्रवकी मुख्यता और ऐर्यापथिक आस्रवकी गौणता पूर्वक कथन है।

[2] बंधके नष्ट होनेसे मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है इससे यहाँ मोक्षके पूर्व बंध तत्त्वका कथन किया है और आस्रवके निरोध पूर्वक संवर होता है इसलिये संवरसे पहिले आस्रव तत्त्वका कथन किया है।

शब्दार्थः—गांठि = गांठ। दिढ़ (दृढ़)=पक्की। सकति = शक्ति।

अर्थः—जो नवीन कर्म पुराने कर्मसे परस्पर मिलकर मजबूत बँध जाता है और कर्मशक्तिकी परम्पराको बढ़ाता है वह बंध पदार्थ है ॥ ३३ ॥

मोक्षका वर्णन (दोहा)

थिति पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद भानि।
हंस अंस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जानि ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—भानि = नष्ट करके। हंस अंस = आत्माके गुण।

अर्थः—जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके बंध दशाको नष्ट कर देता है और आत्मगुणोंको निर्मल करता है उसे मोक्ष पदार्थ जानो ॥ ३४ ॥

वस्तुके नाम (दोहा)

भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व।
द्रविन अरथ इत्यादि बहु, वस्तु नाम ये सर्व ॥ ३५ ॥

अर्थः—भाव, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व, वित्त, वसु, द्रव्य, द्रविण, अर्थ आदि सब वस्तुके नाम हैं ॥ ३५ ॥

शुद्ध जीवद्रव्यके नाम (सवैया इकतीसा)

परमपुरुष परमेसुर परमज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है।
अनादि अनंत अविगत अविनाशी अज,
निरदुंद मुकत मुकुंद अमलान है ॥
निराबाध निगम निरंजन निरविकार,
निराकार संसारसिरोमनि सुजान है।
सरवदरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव,
धनी नाथ ईस जगदीस भगवान है ॥ ३६ ॥

सामान्यतः जीवद्रव्यके नाम ।

चिदानंद चेतन अलख जीव समैसार,
बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध उपजोगी है ।
चिद्रूप स्वयंभू चिनमूरति धरमवंत,
प्रानवंत प्रानी जंतु भूत भवभोगी है ॥

गुनधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी,
अंगधारी संगधारी जोगधारी जोगी है ।
चिन्मय अखंड हंस अक्षर आतमराम,
करमकौ करतार परम विजोगी है ॥ ३७ ॥

अर्थः—परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वंद, मुक्त, मुकुन्द, अमलान, निराबाध, निगम, निरंजन, निर्विकार, निराकार, संसारशिरोमणि, सुज्ञान, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सिद्ध, स्वामी, शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान ॥ ३६ ॥

अर्थः—चिदानंद, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबुद्ध, अशुद्ध, उपयोगी, चिद्रूप, स्वयंभू, चिन्मूर्ति, धर्मवंत, प्राणवंत, प्राणी, जन्तु, भूत, भवभोगी, गुणधारी, कलाधारी, भेषधारी, अंगधारी, संगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय, अखण्ड, हंस, अक्षर, आत्माराम, कर्मकर्ता, परमवियोगी, ये सब जीवद्रव्यके नाम हैं ॥ ३७ ॥

आकाशके नाम (दोहा)

खं विहाय अंबर गगन, अंतरिच्छ जगधाम ।
व्योम वियत नभ मेघपथ, ये अकाशके नाम ॥ ३८ ॥

अर्थः—खं, विहाय, अंबर, गगन, अंतरिक्ष, जगधाम, व्योम, वियत, नभ, मेघपथ ये आकाशके नाम हैं ॥ ३८ ॥

कालके नाम (दोहा)

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान ।
प्रानहरन आदिततनय, काल नाम परवान ॥ ३९ ॥

अर्थः—यम, कृतांत, अंतक, त्रिदश, आवर्ती, मृत्युस्थान, प्राणहरण, आदित्यतनय, ये कालके नाम हैं ॥ ३९ ॥

पुण्यके नाम (दोहा)

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म ।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म ॥ ४० ॥

अर्थः—पुण्य, सुकृत, ऊर्ध्ववदन, अकररोग, शुभकर्म, सुखदायक, संसारफल, भाग्य, बहिर्मुख, धर्म, ये पुण्यके नाम हैं ॥ ४० ॥

पापके नाम (दोहा)

पाप अधोमुख एन अघ, कंप रोग दुखधाम ।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभ करमके नाम ॥ ४१ ॥

अर्थः—पाप, अधोमुख, एन, अघ, कंप, रोग, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष और दुरित, ये अशुभ कर्मके नाम हैं ॥ ४१ ॥

मोक्षके नाम (दोहा)

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान ।
मोख मुकति वैकुंठ सिव, पंचमगति निरवान ॥ ४२ ॥

अर्थः—सिद्धक्षेत्र, त्रिभुवनमुकुट, शिवथल, अविचलस्थान, मोक्ष, मुक्ति, वैकुंठ, शिव, पंचमगति, निर्वाण, ये मोक्षके नाम हैं ॥ ४२ ॥

बुद्धिके नाम (दोहा)

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति बुद्धि ।
सुरति मनीषा चेतना, आसय अंश विसुद्धि ॥ ४३ ॥

अर्थः—प्रज्ञा, धिषणा, सेमुषी, धी, मेधा, मति, बुद्धि, सुरती, मनीषा, चेतना, आशय, अंश और विशुद्धि ये बुद्धिके नाम हैं ॥ ४३ ॥

विचक्षण पुरुषके नाम (दोहा)

निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान ।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान ॥ ४४ ॥

कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत ।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुनीजन संत ॥ ४५ ॥

अर्थः—निपुण, विचक्षण, विबुध, बुद्ध, विद्याधर, विद्वान्, पटु, प्रवीण, पंडित, चतुर, सुधी, सुजन, मतिमान ॥ ४४ ॥

कलावंत, कोविद, कुशल, सुमन, दक्ष, धीमंत, ज्ञाता, सज्जन, ब्रह्मवित्, तज्ञ, गुणीजन, संत ये विद्वान पुरुषके नाम हैं ॥ ४५ ॥

मुनीश्वरके नाम (दोहा)

मुनि महंत तापस तपी, भिच्छुक चारितधाम ।
जती तपोधन संयमी, व्रती साधु ऋषि नाम ॥ ४६ ॥

अर्थः—मुनि, महंत, तापस, तपी, भिक्षुक, चारित्रधाम, यती, तपोधन, संयमी, व्रती, साधु और ऋषि ये मुनिके नाम हैं ॥ ४६ ॥

दर्शनके नाम (दोहा)

दरस विलोकनि देखनौं, अवलोकनि दृगचाल ।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल ॥ ४७ ॥

अर्थः—दर्शन, विलोकन, देखना, अवलोकन, दृगचाल, लखन, दृष्टि, निरीक्षण, जोवना, चितवन, चाहन, भाल, ये दर्शनके नाम हैं ॥ ४७ ॥

ज्ञान और चारित्रके नाम (दोहा)

ग्यान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान ।
संजम चारित आचरन, चरन वृत्ति थिरवान ॥ ४८ ॥

अर्थः—ज्ञान, बोध, अवगम, मनन, जगत्भानु, जगत्ज्ञान, ये ज्ञानके नाम हैं। संयम, चारित्र, आचरण, चरण, वृत्त, थिरवान, ये चारित्रके नाम हैं ॥ ४८ ॥

सत्यके नाम (दोहा)

सम्यक सत्य अमोघ सत, निसंदेह निरधार ।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिथ्या आदि अकार ॥ ४९ ॥

अर्थः—सम्यक्, सत्य, अमोघ, सत्, निःसंदेह, निरधार, ठीक, यथार्थ, उचित, तथ्य, ये सत्यके नाम हैं। इन शब्दोंके आदिमें अकार लगानेसे झूठके नाम होते हैं ॥ ४९ ॥

झूठके नाम (दोहा)

अजथारथ मिथ्या मृषा, वृथा असत्त अलीक ।
मुधा मोघ निःफल वितथ, अनुचित असत अठीक ॥ ५० ॥

अर्थः—अयथार्थ, मिथ्या, मृषा, वृथा, असत्य, अलीक, मुधा, मोघ, निःफल, वितथ, अनुचित, असत्य, अठीक, ये झूठके नाम हैं ॥ ५० ॥

नाटक समयसारके बारह अधिकार (सवैया इकतीसा)

जीव निरजीव करता करम पुन्न पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।
सरव विसुद्धि स्यादवाद साध्य साधक,
दुवादस दुवार धरै समैसार कोष है॥

दरवानुयोग दरवानुजोग दूरि करै,
निगमकौ नाटक परमरसपोष है।
ऐसौ परमागम बनारसी वखानै जामैं,
ग्यानको निदान सुद्ध चारितकी चोष है ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—निरजीव = अजीव, करता = कर्त्ता, दुवादस = द्वादश (बारह) दुवार = अधिकार, कोष = भंडार, दरवानुजोग = द्रव्योंका संयोग, निगमकौ = आत्माका ।

अर्थः—समयसारजीके भंडारमें जीव, अजीव, कर्ताकर्म, पुण्यपाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद और साध्यसाधक ये बारह अधिकार हैं। यह उत्कृष्ट ग्रन्थ द्रव्यानुयोगरूप है, आत्माको पर द्रव्योंके संयोगसे पृथक् करता है अर्थात् मोक्षमार्गमें लगाता है। यह आत्माका नाटक परमशान्तिरसको पुष्ट करनेवाला है, सम्यग्ज्ञान और शुद्धचारित्रका कारण है, इसे पण्डित बनारसीदासजी पद्य-रचनामें वर्णन करते हैं ॥ ५१ ॥

समयसार नाटक

जीवद्वार

(१)

चिदानन्द भगवानकी स्तुति (दोहा)

शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंद भगवान ।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान ॥ १ ॥

शब्दार्थः—निज अनुभूति = अपनी आत्माका स्वसंवेदित ज्ञान । चिदानंद (चित् + आनंद) = जिसे आत्मीय आनंद हो ।

अर्थः—वह चिदानंद प्रभु अपने स्वानुभवसे सुशोभित है । सब पदार्थोंमें सारभूत आत्मपदार्थ है और सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता है ॥ १ ॥

सिद्ध भगवानकी स्तुति, जिसमें शुद्ध आत्माका वर्णन है ।

(सवैया तेईसा)

*जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी ।
चेतन अंक सदा निकलंक,
महा सुख सागरकौ विसरामी ॥

---

* नीचे टिप्पणीमें जो श्लोक दिये गये हैं वे श्रीमद **अमृतचन्द्रसूरि** विरचित नाटक समयसार कलसाके श्लोक हैं । जिन श्लोकोंका पं० **बनारसीदासजी**ने पद्यानुवाद किया है ।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

जीव अजीव जिते जगमैं,
तिनकौ गुन ज्ञायक अंतरजामी ।
सो सिवरूप बसै सिव थानक,
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी ॥ २ ॥

शब्दार्थः—दुति (द्युति) = ज्योति । विराजत = प्रकाशित । परधान = प्रधान । विसरामी (विश्रामी) = शान्तिरसका भोक्ता । शिवगामी = मोक्षको जानेवाले सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु, तीर्थंकर आदि ।

अर्थः—जो अपने आत्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित हैं, सब पदार्थोंमें मुख्य हैं, जिनका चैतन्य-चिह्न है, जो निर्विकार हैं, बड़े भारी सुखसमुद्रमें आनंद करते हैं, संसारमें जितने चेतन-अचेतन पदार्थ हैं उनके गुणोंके ज्ञाता घटघटकी जानने वाले हैं, वे सिद्ध भगवान मोक्षरूप हैं, मोक्षपुरीके निवासी हैं, उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टिसे देखकर नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

जिनवाणीकी स्तुति (सवैया तेईसा)

* जोग धरैं रहै जोगसौं भिन्न,
अनंत गुनातम केवलज्ञानी ।
तासु हृदै-द्रहसौं निकसी,
सरितासम व्है श्रुत-सिंधु समानी ॥
याते अनंत नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधंत बखानी ।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमाँहि जगै जिनवानी ॥ ३ ॥

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

* यह छन्द कलश नं. २ (पृष्ठ २५) का भावानुवाद है ।

शब्दार्थः—हृदे-द्रहसौं = हृदयरूपी सरोवरसे। बुद्ध = पवित्र जैनधर्मके विद्वान्। दुरबुद्ध = मिथ्यादृष्टि, कोरे व्याकरण कोष आदिके ज्ञाता परन्तु नयज्ञानसे शून्य[1]।

अर्थः—अनंत गुणोंके धारक केवलज्ञानी भगवान यद्यपि [2]सयोगी हैं तथापि योगोंसे पृथक् हैं। उनके हृदयरूप द्रहसे नदीरूप जिनवाणी निकलकर शास्त्ररूप समुद्रमें प्रवेश कर गई है, इससे सिद्धान्तमें इसे सत्यस्वरूप और अनंतनयात्मक कहा है। इसे जैनधर्मके मर्मी सम्यग्दृष्टि जीव पहचानते हैं, मूर्ख मिथ्यादृष्टि लोग नहीं समझते। ऐसी जिनवाणी जगतमें सदा जयवंत होवे ॥ ३ ॥

कवि व्यवस्था (छन्द छप्पय)

* हौं निहचै तिहुंकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति।
पर परनति संजोग, भई जड़ता विसफूरति ॥
मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चइ।
ज्यौं धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नच्चइ ॥
अब समयसार वरनन करत,
परम सुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि,
मिटहु सहज भ्रमकी अरुझ ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—पर परणति = निज आत्माके सिवाय अन्य चेतन-अचेतन पदार्थमें अहंबुद्धि और राग-द्वेष। विसफूरति (विस्फूर्ति) = जाग्रत। तिहुँकाल = तीनकाल (भूत, वर्तमान, भविष्यत)। रच्चइ = राग करना। नच्चइ = नाचना। अनयास = ग्रन्थ पढ़ने आदिका प्रयत्न किये बिना, अकस्मात्। अरुझ = उलझन।

---

[1] ऐसे लोगोंको आदिपुराणमें अक्षर-म्लेक्ष कहा है। [2] तेरहवें गुणस्थानमें मन, वचन, कायके सात योग कहे हैं परन्तु योगों द्वारा ज्ञानका अनुभव नहीं करते।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

* यह छन्द कलश नं. ३ (पृष्ठ २६) का भावानुवाद है

अर्थः—मैं निश्चयनयसे सदा[1] काल शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, परन्तु पर-परणतिके समागमसे अज्ञानदशा प्राप्त हुई है। मोहकर्मका पर निमित्त पाकर आत्मा पर पदार्थोंमें अनुराग करता है, इससे धतूरेका रस पीकर नाचनेवाले मनुष्य जैसी दशा हो रही है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि अव समयसारका वर्णन करनेसे मुझे परम विशुद्धता प्राप्त होवे और विना प्रयत्न ही मिथ्यात्वकी उलझन अपनेआप मिट जावे ॥ ४ ॥

शास्त्रका माहात्म्य (सवैया इकतीसा)

* निहचैमैं रूप एक विवहारमैं अनेक,
याही नै-विरोधमैं जगत भरमायौ है।
जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है॥
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैमैं आयौ है।
अनैसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसौ पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है॥ ५॥

शब्दार्थः—नै = नय। दरसनमोह (दर्शनमोह) = जिसके उदयमें जीव तत्त्वश्रद्धानसे गिर जाता है। पद पूरन (पूर्णपद) = मोक्ष।

अर्थः—निश्चयनयमें पदार्थ एकरूप है और व्यवहारमें अनेकरूप है। इस नय-विरोधमें संसार भूल रहा है, सो इस विवादको नष्ट करनेवाला जिनागम है जिसमें स्याद्वादका शुभ चिह्न[2] है। जिस जीवको दर्शनमोहनीय उदय नहीं

---

[1] था, हूँ और रहूँगा।

[2] मुहर-छाप लगी हुई है—स्याद्वादसे ही पहिचाना जाता है कि यह जिनागम है।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥ ५॥

* यह छन्द कलश नं. ४ (पृष्ठ २७) का भावानुवाद है।

होता उसके हृदयमें स्वतःस्वभाव यह प्रामाणिक जिनागम प्रवेश करता है और उसे तत्काल ही नित्य, अनादि और अनंत प्रकाशवान मोक्षपद प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

निश्चयनयकी प्रधानता (सवैया तेईसा)

* ज्यौं नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि,
सोइ हितू जो गहै दिढ़बाहीं ।
त्यौं बुधकौं विवहार भलौ,
तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं ॥
यद्यपि यौं परवान तथापि,
सधै परमारथ चेतनमाहीं ।
जीव अव्यापक है परसौं,
विवहारसौं तौ परकी परछाहीं ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—गिरिसौं = पर्वतसे । बाहीं = भुजा । बुध = ज्ञानी । प्रापति = प्राप्ति ।

अर्थः—जैसे कोई मनुष्य पहाड़ परसे फिसल पड़े और कोई हितकारी बनकर उसकी भुजा मजबूतीसे पकड़ लेवे उसी प्रकार ज्ञानियोंको जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तब तक व्यवहारका अवलम्ब है, यद्यपि यह बात सत्य है तौ भी निश्चयनय चैतन्यको सिद्ध करता है तथा जीवको परसे भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीवको परके आश्रित करता है ।

भावार्थः—यद्यपि चौथे गुणस्थानसे चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहारका ही अवलम्बन है, परन्तु व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है, क्योंकि उससे पदार्थका असली स्वरूप जाना जाता है और व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे परमार्थमें प्रयोजनभूत नहीं है ॥ ६ ॥

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

* यह छन्द कलश नं. ५ (पृष्ठ २८) का भावानुवाद है ।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

* शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद,
अपनैंही गुन परजायकौं गहतु है।
पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहिं,
नव तत्त्वरूपी पंच दर्वमैं रहतु है॥
पंच दर्व नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
सम्यकदरस यहै और न गहतु है।
सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है॥७॥

शब्दार्थः—[1]लखै = श्रद्धान करे। घट = हृदय। गहतु है = धारण करता है।

अर्थः—शुद्ध निश्चयनयसे चिदानंद अकेला ही है और अपने गुण-पर्यायोंमें परिणमन करता है। व्यवहारनयमें वह पूर्णज्ञानका पिण्ड वा पांच [2]द्रव्य नव तत्त्वमें एकसा हो रहा है। पांच द्रव्य और नव तत्त्वोंसे चेतियता चेतन निराला है, ऐसा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भांति श्रद्धान नहीं करना सो सम्यक्दर्शन है; और सम्यक्दर्शन ही आत्माका स्वरूप है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्माका स्वरूप मेरे हृदयमें प्रगट होवे॥७॥

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति॥७॥

---

[1] लखन, दर्शन, अवलोकन आदि शब्दोंका अर्थ जैनागममें कहीं तो 'देखना' होता है जो दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता है और कहीं इन शब्दोंका अर्थ 'श्रद्धान करना' लिया जाता है जो दर्शनमोहनीयके अनोदयकी अपेक्षासे है, सो यहाँ दर्शनमोहनीयके अनोदयका ही प्रयोजन है।

[2] जैनागममें छह द्रव्य कहे हैं; पर यहाँ काल द्रव्यको गौण करके पंचास्तिकायको ही द्रव्य कहा है।

* यह छन्द कलश नं. ६ (पृष्ठ २९) का भावानुवाद है

जीवकी दशापर अग्निका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

*जैसैं तृण काठ बांस आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावकमैं दहिये ।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये ॥
तैसैं नव तत्त्वमैं भयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये ।
जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—आरने = जंगलके । दाहक = जलानेवाला । अलख = अरूपी । अभेद = भेदव्यवहारसे रहित ।

अर्थः—जैसे कि घास, काठ, बांस वा जंगलके अनेक ईंधन आदि अग्निमें जलते हैं, उनकी आकृतिपर ध्यान देनेसे अग्नि अनेकरूप दिखती है, परन्तु यदि मात्र दाहक स्वभावपर दृष्टि डाली जावे तो सब अग्नि एकरूप ही है; उसी प्रकार जीव (व्यवहारनयसे) नव तत्त्वोंमें शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेक रूप हो रहा है, परन्तु जब उसकी चैतन्यशक्तिपर विचार किया जाता है तब वह (शुद्धनयसे) अरूपी और अभेदरूप ग्रहण होता है ॥ ८ ॥

जीवकी दशापर सुवर्णका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं बनवारीमैं कुधातके मिलाप हेम,
नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है ।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

* यह छन्द कलश नं. ७ (पृष्ठ ३०) का भावानुवाद है ।

कसिकैं कसौटी लीकु निरखै सराफ ताहि,
बानके प्रवान करि लेतु देतु दाम है ॥
तैसैं ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूपमैं अरूपी महा धाम है ।
दीसै उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरौ न और एक आतमाही राम है ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—बनवारी = घरिया । लीकु = रेखा । निरखै = देखता है । बान = चमक । प्रवान = अनुसार । उनमान (अनुमान) = साधनमें साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, जैसे धूम्रको देखकर अग्निका ज्ञान करना ।

अर्थः—जिस प्रकार सुवर्ण कुधातुके संयोगसे अग्निके तावमें अनेकरूप होता है, परन्तु तो भी उसका नाम एक सोना ही रहता है तथा सर्राफ कसौटीपर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमकके अनुसार दाम देता-लेता है; उसी प्रकार अरूपी महा दीप्तवान जीव अनादिकालसे पुद्गलके समागममें नवतत्त्वरूप दिखता है, परन्तु अनुमान प्रमाणसे सब हालतोंमें ज्ञानस्वरूप एक आत्मरामके सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है ।

भावार्थः—जब आत्मा अशुभ भावमें वर्तता है तब पापतत्त्वरूप होता है, जब शुभ भावमें वर्तता है तब पुण्यतत्त्वरूप होता है, और जब शम, दम, संयमभावमें वर्तता है तब संवररूप होता है, इसी प्रकार भावास्रव भावबंध आदिमें वर्तता हुआ आस्रव-बंधादिरूप होता है, तथा जब शरीरादि जड़ पदार्थोंमें अहंबुद्धि करता है तब जड़स्वरूप होता है; परन्तु वास्तवमें इन सब अवस्थाओंमें वह शुद्ध सुवर्णके समान निर्विकार है ॥ ९ ॥

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं ।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ॥
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

अनुभवकी दशामें सूर्यका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

* जैसैं रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है॥
नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं,
बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है॥ १०॥

शब्दार्थः—महि-मंडल = पृथ्वीतल। विलातु है = लुप्त हो जाता है। परवान = प्रमाण। वंसको = समुदायका। परवेस (प्रवेश) = पहुंच।

अर्थः—जिसप्रकार सूर्यके उदयमें भूमंडल पर धूप फैल जाती है और अंधकारका लोप हो जाता है, उसी प्रकार जब तक शुद्ध आत्माका अनुभव रहता है तब तक कोई विकल्प वा नय आदिका पक्ष नहीं रहता। वहां नय-विचारका लेश नहीं है, प्रमाणकी पहुँच नहीं है और निक्षेपोंका समुदाय नष्ट हो जाता है। पूर्वकी दशामें जो जो बातें सहायक थीं वे ही अनुभवकी दशामें बाधक होती हैं और राग-द्वेष तो बाधक हैं ही।

भावार्थः—नय तो वस्तुका गुण सिद्ध करता है और अनुभव सिद्ध वस्तुका होता है, इससे अनुभवमें नयका काम नहीं है, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाण असिद्ध वस्तुको सिद्ध करते हैं सो अनुभवमें वस्तु सिद्ध ही है अतः प्रमाण भी अनावश्यक है, निक्षेपसे वस्तुकी स्थिति समझमें आती है सो अनुभवमें शुद्ध आत्म-पदार्थका भान रहता है अतः निक्षेप भी निष्प्रयोजन है, इतना ही नहीं ये तीनों अनुभवकी दशामें बाधाकारक हैं परन्तु इन्हें हानिकर समझकर प्रथम अवस्थामें छोड़नेका उपदेश नहीं है, क्योंकि इनके बिना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। ये नय आदि

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं।
विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १०॥

* यह छन्द कलश नं. ९ (पृष्ठ ३२) का भावानुवाद है।

साधक हैं और अनुभव साध्य है, जैसे कि दंड चक्र आदि साधनोंके बिना घटकी सृष्टि नहीं होती। परन्तु जिसप्रकार घट पदार्थ सिद्ध हुए पीछे दंड चक्र आदि विडंबनारूप ही होते हैं, उसी प्रकार अनुभव प्राप्त होनेके उपरान्त नय निक्षेप आदिके विपल्प हानिकारक हैं ॥ १० ॥

शुद्धनयकी अपेक्षा जीवका स्वरूप (अडिल्ल)

* आदि अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है।
पर-सरूप-पर-जोग-कल्पनामुक्त है॥
सदा एकरस प्रगट कही है जैनमैं।
सुद्धनयातम वस्तु विराजे बेनमैं ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—आदि अंत = सदैव। जोग = संयोग। कल्पनामुक्त = कल्पनासे रहित।

अर्थः—जीव, आदि अवस्था निगोदसे लगाकर अंत अवस्था सिद्ध पर्याय-पर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभावसे संयुक्त है और परद्रव्योंकी कल्पनासे रहित है, सदैव एक चैतन्यरससे सम्पन्न है ऐसा शुद्धनयकी अपेक्षा जिनवाणीमें कहा है ॥ ११ ॥

हितोपदेश। कवित्त (३१ मात्रा)

सदगुरु कहै भव्यजीवनिसौं,
तोरहु तुरित मोहकी जेल।
समकितरूप गहौ अपनौ गुन,
करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल।

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥ ११ ॥

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

* यह छन्द कलश नं. १० (पृष्ठ ३३) का भावानुवाद है।

पुदगलपिंड भाव रागादिक,
इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल ।
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसैं भिन्न तोय अरु तेल ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—तोरहु = तोड़ दो । गहौ = ग्रहण करो । गुपत (गुप्त) = अरूपी । तोय = पानी ।

अर्थः—भव्य जीवोंको श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि शीघ्र ही मोहका बन्धन तोड़ दो, अपना सम्यक्त्वगुण ग्रहण करो और शुद्ध अनुभवमें मस्त हो जाओ । पुद्गल द्रव्य और रागादिक भावोंसे तुम्हारा कोई सम्वन्ध नहीं है । ये स्पष्ट अचेतन हैं और तुम अरूपी चैतन्य हो तथा पानीसे भिन्न तेलके समान उनसे न्यारे हो ॥ १२ ॥

सम्यग्दृष्टिका विलास वर्णन (सवैया इकतीसा)

* कोऊ बुद्धिवंत नर निरखै सरीर-घर,
भेदग्यानदृष्टिसौं विचारै वस्तु-वासतौ ।
अतीत अनागत वरतमान मोहरस,
भीग्यौ चिदानंद लखै बंधमैं विलासतौ ॥
बंधकौ विदारि महा मोहकौ सुभाउ डारि,
आतमाकौ ध्यान करै देखै परगासतौ ।
करम-कलंक-पंकरहित प्रगटरूप,
अचल अबाधित विलोकै देव सासतौ ॥ १३ ॥

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्ततः ॥ १३ ॥

* यह छन्द कलश नं. १२ (पृष्ठ ३४) का भावानुवाद है ।

शब्दार्थः—विदारि = नष्ट करके । पंक = कीचड़ । भेदज्ञान = आत्माको शरीर आदिसे पृथक् जानना ।

अर्थः—कोई विद्वान मनुष्य शरीररूपी घरको देखे और भेदज्ञानकी दृष्टिसे शरीररूपी घरमें वसनेवाली आत्मवस्तुका विचार करे तो पहिले भूत, वर्तमान, भविष्यत तीनों कालमें मोहसे अनुरंजित और कर्मबंधमें क्रीडा करते हुए आत्माका निश्चय करे, इसके पश्चात् मोहके बन्धनको नष्ट करे और मोही स्वभावको छोड़कर आत्मध्यानमें अनुभवका प्रकाश करे; तथा कर्म-कलंककी कीचड़से रहित अचल, अबाधित, शाश्वत अपने आत्मदेवको प्रत्यक्ष देखे ॥ १३ ॥

गुणगुणी अभेद हैं, यह विचारनेका उपदेश करते हैं (सवैया तेईसा)

* सुद्धनयातम आतमकी,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई ।
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नामके भेद कहावत दोई ॥
यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जब कोई ।
मेटि असुद्ध विभावदसा तब,
सुद्ध सरूपकी प्रापति होई ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—विभाव = पर वस्तुके संयोगसे जो विकार हों । विभूति = सम्पदा ।

अर्थः—शुद्ध नयके विषयभूत आत्माका अनुभव ही ज्ञानसंपदा है, आत्मा और ज्ञानमें नामभेद है वस्तुभेद नहीं है । आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है, सो गुण और गुणीको पहिचानकर जब कोई आत्म-ध्यान करता है तब उसकी रागादि अशुद्ध दशा नष्ट होकर शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है ।

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥ १४ ॥

* यह छन्द कलश नं. १३ (पृष्ठ ३५) का पद्यानुवाद है ।

भावार्थः—आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, इनमें वस्तुभेद नहीं है। जैसे अग्निका गुण उष्णता है, यदि कोई अग्नि और उष्णताको पृथक् करना चाहे तो नहीं हो सकते। उसी प्रकार ज्ञान और आत्माका सहभावी सम्बन्ध है पर नामभेद अवश्य है कि यह गुणी है और यह उसका गुण है ॥ १४ ॥

ज्ञानियोंका चिंतवन (सवैया इकतीसा)

* अपनैंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप,
परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।
अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस,
खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं ॥
चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव,
जैसे लौंन-कांकर भर्यौ है रस खारसौं।
पूरन-सुरूप अति उज्जल विग्यानघन,
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं ॥ १५ ॥

शब्दार्थः— खिन्नता = न्यूनता। भौ (भव) = संसार। लौंन-कांकर = नमककी डली। निरवारसौं = क्षयसे।

अर्थः—जीव पदार्थ सदैव अपने ही आधार रहता है और अपने ही धारा-प्रवाह गुण-पर्यायोंमें परिणमन करता है, बाह्य और अभ्यन्तर एकसा प्रकाशवान रहता है कभी कमती नहीं होता, वह संसारके विकारोंसे पृथक् है, उसमें चैतन्यरस ऐसा ठसाठस भर रहा है, जैसे कि नमककी डली खारेपनसे भरपूर रहती है। ऐसा परिपूर्ण स्वरूप, अत्यन्त निर्विकार, विज्ञानघन आत्मा मोहके अत्यन्त क्षयसे मुझे प्रगट होवे ॥ १५ ॥

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ १५ ॥

* यह छन्द कलश नं. १४ (पृष्ठ ३६) का भावानुवाद है

साध्य-साधकका स्वरूप वा द्रव्य और गुण-पर्यायोंकी अभेद-विवक्षा
(कवित्त)

*जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन,
सिद्धि समाधि साधिपद सोई ।
सुद्धपयोग जोग महिमंडित,
साधक ताहि कहै सब कोई ॥
यौं परतच्छ परोच्छ रूपसौं,
साधक साधि अवस्था दोई ।
दुहुकौ एक ग्यान संचय करि,
सेवै सिववंछक थिर होई ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—ध्रुवधर्म = अविनाशी स्वभाव । साध्य = जो इष्ट अबाधित और असिद्ध हो । सुद्धपयोग = वीतराग परिणति । सिववंछक = मोक्षका अभिलाषी । थिर = स्थिर ।

अर्थः—सम्पूर्ण कर्म-समुदायसे रहित और अविनाशी स्वभाव सहित सिद्ध-पद साध्य है और मन, वचन, कायके योगों सहित शुद्धोपयोगरूप अवस्था साधक है। उनमें एक प्रत्यक्ष और एक परोक्ष है, ये दोनों अवस्थाएं एक जीवकी हैं, एसा जो ग्रहण करता है वही मोक्षका अभिलाषी स्थिर-चित्त होता है।

भावार्थः—सिद्ध अवस्था साध्य है और अरहंत, साधु, श्रावक, सम्यक्त्वी[1] आदि अवस्थाएँ साधक हैं; इनमें प्रत्यक्ष-परोक्षका भेद है। ये सब अवस्थाएँ एक जीवकी हैं ऐसा जाननेवाला ही सम्यग्दष्टि होता है ॥ १६ ॥

द्रव्य और गुण-पर्यायोंकी भेद-विवक्षा (कवित्त)

दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम,
समलरूप कहिये विवहार ।

---

[1] पूर्व अवस्था साधक और उत्तर अवस्था साध्य होती है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥

* यह छन्द कलश नं. १५ (पृष्ठ ३७) का भावानुवाद है

निहचै-दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार।
सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल समल एक ही बार।
यौं समकाल जीवकी परिनति,
कहैं जिनेंद गहै गनधार ॥ १७ ॥

शब्दार्थ:—समल = यहाँ समल शब्दसे असत्यार्थ, अभूतार्थका प्रयोजन है। निर्मल = इस शब्दसे यहाँ सत्यार्थ, भूतार्थका प्रयोजन है। उभै नय = दोनों नय (निश्चय और व्यवहार नय)। गनधार = गणधर (समवशरणके प्रधान आचार्य)।

अर्थ:—व्यवहार नयसे आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन गुणरूप है; यह व्यवहार नय निश्चयकी अपेक्षा अभूतार्थ है, निश्चय नयसे आत्मा एक चैतन्यरस-सम्पन्न, अभेद, नित्य और निर्विकार है। ये दोनों निश्चय और व्यवहार नय सम्यग्दृष्टिको एक ही कालमें प्रमाण हैं; ऐसी एक ही समयमें जीवकी निर्मल समल परिणति जिनराजने कही है और गणधर स्वामीने धारण की है ॥ १७ ॥

व्यवहार नयसे जीवका स्वरूप (दोहा)

एकरूप आतम दरब, ग्यान चरन दृग तीन।
भेदभाव परिनामसौं, विवहारै सु मलीन ॥ १८ ॥

अर्थ:—आत्मद्रव्य एकरूप है, उसको दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप कहना सो व्यवहार[1] नय है—असत्यार्थ है ॥ १८ ॥

---

[1] **दोहा**—जेते भेद विकल्प हैं, ते ते सब विवहार।
निराबाध निरकल्प सो, निश्चय नय निरधार ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

निश्चय नयसे जीवका स्वरूप (दोहा)

* जदपि समल विवहारसौं, पर्यय-सकति अनेक ।
तदपि नियत-नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—नियत = निश्चय । निरंजन = कर्ममल रहित ।

अर्थः—यद्यपि व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा अनेक गुण और पर्यायवान तो भी निश्चय नयसे देखा जाये तो एक, शुद्ध, निरंजन ही है ॥ १९ ॥

शुद्ध निश्चय नयसे जीवका स्वरूप (दोहा)

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥ २० ॥

शब्दार्थः—रमि रहना = विश्राम लेना । ठौर = स्थान ।

अर्थः—आत्माको एकरूप श्रद्धान करना वा एकरूप ही जानना चाहिये, तथा एकमें ही विश्राम लेना चाहिये, निर्मल समलका विकल्प न करना चाहिये । इसीमें सर्वसिद्धि है, दूसरा उपाय नहीं है ।

भावार्थः—आत्माको निर्मल समलके विकल्प रहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, एकरूप जानना सम्यक्ज्ञान है और एकरूपमें ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है, यही मोक्षका उपाय है ॥ २० ॥

शुद्ध अनुभवकी प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है ।
यद्यपि त्रिविधरूप विवहारमैं तथापि
एकता न तजै यौं नियत अंग कही है ॥

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकतायाः
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

* यह छन्द कलश नं. १८ (पृष्ठ ३९) का भावानुवाद है ।

सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताके,
ध्यान करिबैकौं मेरी मनसा उनही है ।
जाते अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं सही है ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—जुगति = युक्ति । मनसा = अभिलाषा । उनही है = तत्पर हुई है । अविचल रिद्धि = मोक्ष । धोखो = सन्देह ।

अर्थः—आत्मा अनंत ज्ञानरूप लक्षणसे लक्षित है, उसके ज्ञानकी निर्मल प्रकाशवान ज्योति जग रही है, यद्यपि वह व्यवहारनयसे तीनरूप[1] है तौ भी निश्चय नयसे एक ही रूप है, उसका किसी भी युक्तिसे सदा ध्यान करनेको मेरा चित्त उत्साहित हुआ है, इसीसे मोक्ष प्राप्त होती है और कोई दूसरा तरीका कार्य सिद्ध होनेका नहीं है! नहीं है!! नहीं[2] है!!! इसमें कोई सन्देह नहीं है बिलकुल सच है ॥ २१ ॥

ज्ञाताकी अवस्था (सवैया तेईसा)

कै अपनौं पद आप संभारत,
कै गुरुके मुखकी सुनि बानी ।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै,
प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी ॥
भाव अनंत भए प्रतिबिंबित,
जीवन मोख दसा ठहरानी ।

---

[1] दर्शन, ज्ञान, चारित्र । [2] यहां बार बार 'नहीं है' कहके कथनका समर्थन किया है ।

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा संततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

ते नर दर्पन ज्यौं अविकार,
रहैं थिररूप सदा सुखदानी ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—रजधानी = शक्ति । जीवन मोक्षदशा = मानों यहाँ ही मोक्ष प्राप्त कर चुके ।

अर्थः—अपने आप अपना स्वरूप सम्हालनेसे[1] अथवा श्रीगुरुके मुखारविंद द्वारा उपदेश सुननेसे[2] जिनको भेदज्ञान जाग्रत हुआ है अर्थात् स्वपर विवेककी ज्ञान शक्ति प्रगट हुई है, उन महात्माओंको जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। उनके निर्मल दर्पणवत् स्वच्छ आत्मामें अनंत भाव झलकते हैं परन्तु उनसे कुछ विकार नहीं होता। वे सदा आनंदमें मस्त रहते हैं ॥ २२ ॥

भेद विज्ञानकी महिमा (सवैया इकतीसा)

याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ मिटौ मौह,
लग्यौहै अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसौं ।
उदै करै भेदज्ञान महा रुचिकौ निधान,
उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं ॥
जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि,
कबहूं अपनपौ न कहै पुदगलसौं ।
यहै करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं,
पावक ज्यौं भिन्न करै कंचन उपलसौं ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—निधान = खजाना । दुंद (द्वंद) = संशय । उपल = पत्थर । महारुचि = दृढ़ श्रद्धान । जगत = जन्म-मरण रूप संसार ।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले कापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥ २२ ॥

---

[1] यह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। [2] यह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

अर्थः—इस समय भव्य जीवोंका अनादिकालसे लगा हुआ और कर्ममलसे मिला हुआ मोह नष्ट हो जावे। इसके नष्ट हो जानेसे हृदयमें महाप्रकाश करनेवाला, संशय समूहको मिटानेवाला, दृढ श्रद्धानकी रुचि-स्वरूप भेदविज्ञान प्रगट होता है। इससे स्वरूपमें विश्राम और अनुभवका आनंद मिलता है तथा शरीरादि पुद्गल पदार्थोंमें कभी अहंबुद्धि नहीं रहती। यह क्रिया उन्हें संसारसे ऐसे पृथक् बना देती है जिस प्रकार अग्नि स्वर्णको किट्टिकासे भिन्न कर देती है ॥ २३ ॥

परमार्थको शिक्षा (सवैया इकतीसा)

बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहूंकै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—कैहू भांति = किसी भी तरीकेसे। कैसैंहूंकै = आप किसी प्रकारके बनकर। हंस = आत्मा। कौतूहल = क्रीड़ा। भव-वासकौ विलास = जन्म-मरणकी भटकना। अनंतकाल जीजिए = अमर हो जाओ अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करो।

अर्थः—पं० बनारसीदासजी कहते हैं—हे भाई भव्य! मेरा उपदेश सुनो कि किसी प्रयत्नसे और कैसे ही बनकर ऐसा काम करो जिससे मात्र अंतर्मुहूर्तके[1] लिये मिथ्यात्वका उदय न रहे, ज्ञानका अंश जाग्रत हो आत्मस्वरूपकी पहिचान

---

[१] दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिटमेंसे एक समय कम।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥ २३ ॥

होवे। यावज्जीव उसहीका विचार, उसहीका ध्यान, उसहीकी लीलामें परमरसका पान करो और राग-द्वेषमय संसारकी भटकना छोड़कर तथा मोहका नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो ॥ २४ ॥

तीर्थंकर भगवानके शरीरकी स्तुति (सवैया इकतीसा)

जाके देह-द्युतिसौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।
जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत,
जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुके हैं॥
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवणकौं सुख होत,
जाके तन लच्छन अनेक आइ ढुके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं॥ २५ ॥

शब्दार्थः—वपु-वाससौं = शरीरकी गंधसे। लुके = छुप गये। ढुके = प्रवेश किये। चुके = न्यारे।

अर्थः—जिसके शरीरकी आभासे दशों दिशाएँ पवित्र होती हैं, जिसके तेजके आगे सब तेजवान[1] लज्जित होते हैं, जिसका रूप देखकर महारूपवान[2] हार मानते हैं, जिसके शरीरकी सुगंधसे सर्व सुगन्ध[3] छिप जाती हैं, जिसकी दिव्य-वाणी सुननेसे कानोंको सुख होता है, जिसके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण आ वसे हैं; ऐसे तीर्थंकर भगवान हैं। उनके ये गुण व्यवहार नयसे कहे हैं, निश्चय नयसे देखो तो शुद्ध आत्माके गुणोंसे ये देहाश्रित गुण भिन्न हैं॥ २५ ॥

---

[1] सूर्य, चन्द्रमा आदि। [2] इन्द्र, कामदेव आदि। [3] मंदार, सुपारिजात आदि पुष्पोंकी। [4] कमल, चक्र, ध्वजा, कल्पवृक्ष, सिंहासन, समुद्र, आदि १००८।

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण च।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतम्
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं,
आयु-परजंत महारूप महाबल है।
विना ही जतन जाके तनमैं अनेक गुन,
अतिसै-विराजमान काया निर्मल है॥
जैसैं विनु पवन समुद्र अविचलरूप,
तैसैं जाकौ मन अरु आसन अचल है।
ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगतमैं,
जाकौ सुभगति महा सुकृतकौ फल है॥ २६॥

शब्दार्थः—तरुनापौ = जवानी। काया = शरीर। अविचल = स्थिर। सुभगति = शुभभक्ति।

अर्थः—जिनके बालक, तरुण और वृद्धपना[१] नहीं है, जिनका जन्मभर अत्यन्त सुन्दर रूप और अतुल्य वल रहता है, जिनके शरीरमें स्वतः स्वभाव ही अनेक गुण व अतिशय[२] विराजते हैं, तथा शरीर अत्यन्त उज्ज्वल[३] है, जिनका मन और आसन पवनके झोकोंसे रहित समुद्रके समान स्थिर है, वे तीर्थंकर भगवान संसारमें जयवन्त होवें, जिनकी शुभभक्ति बड़े भारी पुण्यके उदयसे प्राप्त होती है॥ २६॥

जिनराजका यथार्थ स्वरूप (दोहा)

जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि।
जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि॥ २७॥

शब्दार्थः—और = दूसरा। जिन = जीते सो जिन अर्थात् जिन्होंने काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीता है।

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥ २६॥

---

[१] बालकवत् अज्ञानता, युवावत् मदान्धपना और वृद्धवत् देह जीर्ण नहीं होती। [२] चौंतीस अतिशय। [३] पसीना, नाक, राल आदि मल रहित हैं।

अर्थः—यह (ऊपर कहा हुआ) जिन वर्णन नहीं है, जिन वर्णन इससे निराला है; क्योंकि जिनपद शरीरमें नहीं है, चेतियता चेतनमें है ॥ २७ ॥

पुद्गल और चैतन्यके भिन्न स्वभावपर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

ऊंचे ऊंचे गढ़के कंगूरे यौं विराजत हैं,
मानौं नभलोक गीलिवेकौं दांत दीयौ है ।
सोहै चहूँओर उपवनकी सघनताई,
घेरा करि मानौ भूमिलोक घेरि लीयौ है ॥
गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है ।
ऐसो है नगर यामैं नृपकौ न अंग कोऊ,
यौंही चिदानंदसौं सरीर भिन्न कीयौ है ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—गढ़ = किला । नभलोक = स्वर्ग । आनन = मुँह ।

अर्थः—जिस नगरमें बड़े-बड़े ऊंचे किले हैं जिनके कंगूरे ऐसे शोभायमान होते हैं मानो स्वर्गलोक निगल जानेके लिये दांत ही फलाये हैं, उस नगरके चारों ओर सघन बगीचे इस प्रकार सुशोभित होते हैं मानो मध्यलोक ही घेर रक्खा है और उस नगरकी ऐसी बड़ी गहरी खाइयां हैं मानो उन्होंने नीचा मुँह करके पाताल लोकका जल पी लिया है, परन्तु उस नगरसे राजा भिन्न ही है उसी प्रकार शरीरसे आत्मा भिन्न है ।

भावार्थ—आत्माको शरीरसे सर्वथा निराला गिनना चाहिये । शरीरके कथनको आत्माका कथन नहीं समझ जाना चाहिये ॥

तीर्थंकरके निश्चय स्वरूपकी स्तुति (सवैया इकतीसा)

जामैं लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी ।

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं ॥ २५ ॥

दर्सन उद्योत लीयौ अंतराय अंत कीयौ,
गयौ महा मोह भयौ परम महारसी ॥
संन्यासी सहज जोगी जोगसौं उदासी जामैं,
प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी ।
सोहै घट मंदिरमैं चेतन प्रगटरूप,
ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—प्रतिभासे = प्रतिबिंबित होता है। दर्शन = यहां केवल दर्शनका प्रयोजन है। छारसी = राखके समान।

अर्थः—जिन्हें ऐसा ज्ञान जाग्रत हुआ है कि जिसमें दर्पणके समान लोक-अलोकके भाव प्रतिबिंबित होते हैं, जिन्हें केवलदर्शन प्रगट हुआ है, जिनका अंतराय-कर्म नष्ट हुआ है, जिन्हें महामोह कर्मके नष्ट होनेसे परम साधु वा महा संन्यासी अवस्था प्राप्त हुई है, जो स्वाभाविक योगोंको धारण किये हैं तौभी योगोंसे विरक्त हैं, जिन्हें मात्र पचासी[1] प्रकृतियां जरी जेवरीकी भस्मके समान लगी हुई हैं; ऐसे तीर्थंकर देव देहरूप देवालयमें स्पष्ट चैतन्य मूर्ति शोभायमान होते हैं, उन्हें पं० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ २९ ॥

---

[1] १-असाता वेदनीय २-देवगति। **पांच शरीर**—३-औदारिक ४-वैक्रियक ५-आहारक ६-तैजस ७-कार्मण। **पांच बंधन**—८-औदारिक ९-वैक्रियक १०-आहारक ११-तैजस १२ कर्माण। **पांच संघात**—१३-औदारिक १४-वैक्रियक १५-आहारक १६-तैजस १७-कार्मण। **छह संस्थान**—१८-समचतुरस्र संस्थान १९-न्यग्रोधपरिमंडल २०-स्वातिक २१-वावन २२-कुब्जक २३-हुंडक। **तीन आंगोपांग**—२४-औदारिक २५-वैक्रियक २६-आहारक। **छह संहनन**—२७-वज्रवृषभनाराच २८-वज्रनाराच २९-नाराच ३०-अर्द्धनाराच ३१-कीलक ३२-स्फाटिक। **पांच वर्ण**—३३-काला ३४-नीला ३५-पीला ३६-सफेद ३७-लाल। **दो गंध**—३८-सुगंध ३९-दुर्गन्ध। **पांच रस**—४०-तिक्त (तीखा) ४१-आम्ल (खट्टा) ४२-कडुवा ४३-मीठा ४४-कषायला। **आठ स्पर्श**—४५-कोमल ४६-कठोर (कड़ा) ४७-शीत ४८-उष्ण ४९-हलका ५०-भारी ५१-स्निग्ध ५२-रूक्ष ५३-देवगति प्रायोग्यानुपूर्वं ५४-अगुरुलघु ५५-उपघात ५६-परघात ५७-उच्छ्वास ५८-प्रशस्तविहायोगति ५९-अप्रशस्तविहायोगति ६०-अपर्याप्तक ६१-प्रत्येक शरीर ६२-स्थिर ६३-अस्थिर ६४-शुभ ६५-अशुभ ६६-दुर्भग ६७-सुस्वर ६८-दुस्वर ६९-अनादेय ७०-अयशः कीर्ति ७१-निर्माण ७२-नीच गोत्र ७३-साता वेदनीय ७४-मनुष्यगति ७५-मनुष्यायु ७६-पंचेन्द्रिय जाति ७७-मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वं ७८-त्रस ७९-वादर ८०-पर्याप्तक ८१-सुभग ८२-आदेय ८३-यशः कीर्ति ८४-तीर्थंकर ८५-उच्च गोत्र।

निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा शरीर और जिनवरका भेद (कवित्त)

तन चेतन विवहार एकसे,
निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ ।
तनकी थुति विवहार जीवथुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न मानै कोइ ।
ता कारन तनकी संस्तुतिसौं,
जिनवरकी संस्तुति नाहि होइ ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—संस्तुति = स्तुति ।

अर्थः—व्यवहारनयमें शरीर और आत्माकी ऐक्यता है, परन्तु निश्चयनयमें दोनों जुदे-जुदे हैं। व्यवहारनयमें शरीरकी स्तुति जीवकी स्तुति गिनी जाती है परन्तु निश्चयनयकी दृष्टिसे वह स्तुति मिथ्या है। निश्चयनयमें जो जिनराज है वही जीव है और जो जीव है वही जिनराज है, यह नय शरीर और आत्माको एक नहीं मानता इस कारण निश्चयनयसे शरीरकी स्तुति जिनराजकी स्तुति नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

वस्तु स्वरूपकी प्राप्तिमें गुप्त लक्ष्मीका दृष्टान्त (सवैया तेईसा)

ज्यौं चिरकाल गड़ी वसुधामहि,
भूरि महानिधि अंतर गूझी ।
कोउ उखारि धरै महि ऊपरि,
जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी ॥

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥ २७ ॥

त्यौं यह आतमकी अनुभूति,
पड़ी जड़भाउ अनादि अरूझी ।
नै जुगतागम साधि कही गुरु,
लच्छन-वेदि विचच्छन बूझी ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—चिरकाल = वहुत समय । वसुधा = पृथ्वी । भूरि = वहुतसी । गूझी = छुपी हुई । महि = पृथ्वी । अरूझी = उलझी । विचच्छन (विचक्षण) = चतुर । लच्छन-वेदि = लक्षणोंके ज्ञाता । बूझी = समझी ।

अर्थः—जिस प्रकार वहुत समयसे पृथ्वीके अंदर गड़े हुए वहुतसे धनको उखाड़कर कोई वाहर रख देवे तो नेत्रवानोंको वह सव दिखने लगता है उसी प्रकार अनादि कालसे अज्ञानभावमें दवी हुई आत्मज्ञानकी सम्पदाको श्रीगुरुने नय, युक्ति और आगमसे सिद्ध कर समझाया है, उसे विद्वान लोग लक्षणसे पहिचानकर ग्रहण करते हैं ।

विशेषः—इस छन्दमें 'दृगवंत' पद दिया है, सो जिस प्रकार वाहर निकाला हुआ धन भी नेत्रवालोंको ही दिखता है—अंधोंको नहीं दिखता, उसी प्रकार श्रीगुरु द्वारा बताया हुआ तत्त्वज्ञान अंतरदृष्टि भव्योंको प्राप्त होता है, दीर्घ संसारी और अभव्योंकी बुद्धिमें नहीं आता ॥ ३१ ॥

भेदविज्ञानकी प्राप्तिमें धोबीके वस्त्रका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ जन गयौ धोबीकैं सदन तिन,
पहिर्यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है ।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है ॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

तैसैंही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
संगके ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ है ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—सदन = घर। धनी = मालिक। विभाव = पर वस्तुके संयोगसे जो विकार हो।

अर्थः—जैसे कोई मनुष्य धोबीके घर जावे और दूसरेका कपड़ा पहिनकर अपना मानने लगे, परन्तु उस वस्त्रका मालिक देखकर कहे कि यह तो मेरा कपड़ा है, तो वह मनुष्य अपने वस्त्रका चिह्न देखकर त्यागबुद्धि करता है; उसी प्रकार यह कर्मसंयोगी जीव परिग्रहके ममत्वसे विभावमें रहता है, अर्थात् शरीर आदिको अपना मानता है परन्तु भेदविज्ञान होनेपर जब निज-परका विवेक हो जाता है तो रागादि भावोंसे भिन्न अपने निज स्वभावको ग्रहण करता है ॥ ३२ ॥

निजात्माका सत्य स्वरूप (अडिल्ल छन्द)

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्‌यौ आपनी टेक हौं ॥
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—टेक = सहारा। मम = मेरा। सिंधु = समुद्र।

अर्थः—ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान-दर्शन रससे भरपूर अपने ही आश्रय हूँ। भ्रमजालका कूप मोहकर्म मेरा

अवतरति न यावद्वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥
सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३०

'स्वरूप नहीं है ! नहीं[1] है !! मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्यसिंधु है ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञान होनेपर जीवकी अवस्थाका वर्णन (सवैया इकतीसा)

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है ।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है ॥
कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयो है ।
पन्नाके पकायें जैसैं कंचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो है ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—प्रतीति = श्रद्धान । विशद = निर्मल । विसराम (विश्राम) = चैन । सोधि = खोज करके । पन्नाके पकायें जैसैं कंचन विमल होत = अशुद्ध सोनेके छोटे छोटे टुकड़े करके कागजके समान पतला पीटते हैं उन्हें पन्ना कहते हैं । उन पन्नोंको नमक तेल आदिकी रसायनसे अग्निमें पकाते हैं तो सोना अत्यंत शुद्ध हो जाता है, इस रीतिसे शोधा हुआ सोना नेशनल पाटला आदिसे बहुत उच्चतम होता है ।

अर्थः—तत्त्वश्रद्धान होनेसे निज-पर गुणकी पहिचान हुई जिससे अपने निज गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें परिणमन किया है, निर्मल भेदविज्ञान होनेसे उत्तम विश्राम मिला और अपने स्वरूपमें ही अपना सहायक खोज लिया। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि इस प्रयत्नसे स्वयं ही विभाव परिणमन नष्ट हो गया और शुद्ध आत्मा ऐसा प्रकाशवान हुआ जैसे रसायनमें स्वर्णके पत्र पकानेसे वह उज्ज्वल हो जाता है ॥ ३४ ॥

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

---

[1] यहां दो बार 'नहीं है' कहकर विषयका समर्थन किया है ।

वस्तुस्वभावकी प्राप्तिमें नदीका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूंओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभाके लोग देखैं दृष्टि धरिकैं॥
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जग जालसौं निसरिकैं॥ ३५॥

शब्दार्थः—पातुर (पात्रा) = नटी, नाचनेवाली। अखारे = नाट्यशालामें। निशि = रात्रि। पट = वस्त्र, परदा। ग्रंथि = गांठ। निसरिकैं = निकलकर।

अर्थः—जिस प्रकार नटी रात्रिमें वस्त्राभूषणोंसे सजकर नाट्यशालामें परदेकी ओटमें आ खड़ी होती है तो किसीको दिखाई नहीं देती, परन्तु जब दोनों ओरके शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सभाकी सब मंडलीको साफ दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञानका समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्वके परदेमें ढँक रहा था सो प्रगट हुआ जो त्रैलोक्यका ज्ञायक होवेगा। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जगवासी जीवो! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगज्जालसे निकलकर अपनी शुद्धता सम्हालना चाहिये ॥ ३५॥

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥ ३२॥

इति रंगभूमिका ॥ १ ॥

* * *

प्रथम अधिकारका सार

आत्मपदार्थ शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत, चिच्चमत्कार, विज्ञानघन, आनंदकंद, परमदेव, सिद्ध सदृश है। जैसा वह अनादि है वैसा अनंत भी है अर्थात् न उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट भी होगा। यद्यपि वह अपने स्वरूपसे स्वच्छ है परन्तु संसारी दशामें जबसे वह है तभीसे अर्थात् अनादिकालसे शरीरसे संबद्ध है और कर्मकालिमासे मलिन है। जिस प्रकार कि सोना धाऊकी दशामें कर्दम सहित रहता है परन्तु भट्टीमें पकानेसे शुद्ध सोना अलग हो जाता है और किट्टिमा पृथक् हो जाती है उसी प्रकार सम्यक्तप मुख्यतया शुक्लध्यानकी अग्निके द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्मकालिमा पृथक् हो जाती है। जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुए सोनेको परखकर सोनेके दाम देते-लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मलभरे शरीरमें पूर्णज्ञान और पूर्ण आनंदमय परमात्माका अनुभव करते हैं।

जब कपड़ेपर मैल जम जाता है तब मलिन कहाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं और निरुपयोगी बतलाते हैं, परंतु विवेकदृष्टिसे विचारा जावे तो कपड़ा अपने स्वरूपसे स्वच्छ है साबुन पानीका निमित्त चाहिये। बस! मैल सहित वस्त्रके समान कर्दम सहित आत्माको मलिन कहना व्यवहारनयका विषय है, और मैलसे निराले स्वच्छ वस्त्रके समान आत्माको कर्मकालिमासे जुदा ही गिनना निश्चयनयका विषय है। अभिप्राय यह है कि, जीवपर वास्तवमें कर्मकालिमा लगती नहीं है कपड़ेके मैलके समान वह शरीर आदिसे बँधा हुआ है, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारसरूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है। तात्पर्य यह कि जीवको देहसे भिन्न शुद्ध बुद्ध जाननेवाला निश्चयनय है और शरीरसे तन्मय, राग-द्वेष-मोहसे मलिन कर्मके आधीन करनेवाला व्यवहारनय है। सो प्रथम अवस्थामें इस नयज्ञानके द्वारा जीवकी शुद्ध और अशुद्ध परणतिको समझकर अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन होना चाहिये इसीका नाम अनुभव है। अनुभव प्राप्त होनेके अनंतर फिर नयोंका विकल्प भी नहीं रहता इसलिये कहना होगा कि नय प्रथम अवस्थामें साधक हैं और आत्माका स्वरूप समझे पीछे नयोंका काम नहीं है।

गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं, जीवके गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि हैं। द्रव्यकी हालतको पर्याय कहते हैं, जीवकी पर्यायें नर, नारक, देव, पशु आदि

हैं। गुण और पर्यायोंके बिना द्रव्य नहीं होता और गुण-पर्याय बिना द्रव्यके नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुण-पर्यायोंमें अव्यतिरिक्त भाव है। जब पर्यायको गौण और द्रव्यको मुख्य करके कथन किया जाता है तब नय द्रव्यार्थिक कहलाता है और जब पर्यायको मुख्य तथा द्रव्यको गौण करके कथन किया जाता है तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है। द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके विषयमें सामान्य-विशेषका अंतर रहता है। जीवका स्वरूप निश्चयनयसे ऐसा है, व्यवहारनयसे ऐसा है, द्रव्यार्थिकनयसे ऐसा है, पर्यायार्थिकनयसे ऐसा है, अथवा नयोंके भेद शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरित व्यवहारनय इत्यादि विकल्प चित्तमें अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं, इससे चित्तको विश्राम नहीं मिल सकता, इसलिये कहना होगा कि नयके कल्लोल अनुभवमें बाधक हैं परन्तु पदार्थका यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव-विभावके परखनेमें सहायक अवश्य हैं। इसलिये नय, निक्षेप और प्रमाणसे अथवा जैसे बने तैसे आत्मस्वरूपकी पहिचान करके सदैव उसके विचार तथा चिंतवनमें लगे रहना चाहिये।

अजीवद्वार

(२)

अजीव अधिकार वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा (दोहा)

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय।
अब अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित लाय॥ १॥

शब्दार्थः—चतुर = विद्वान। चित = मन। लाय = लगाकर।

अर्थः—यह पहिला अधिकार जीवतत्त्वका समझाकर कहा, अब अजीवतत्त्वका अधिकार कहते हैं, हे विद्वानो! उसे मन लगाकर सुनो॥ १॥

मंगलाचरण—भेदविज्ञानद्वारा प्राप्त पूर्णज्ञानकी वंदना।
(सवैया इकतीसा)

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,
अंतर अनादिकौ विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,
चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है॥
करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यानकौ विलास ताकौं वंदना हमारी है॥ २॥

शब्दार्थः—प्रतीति = श्रद्धान। विभावता = से यहाँ मिथ्यादर्शनका प्रयोजन है। विदारी = नष्ट की। निरवारी = दूर की। हिएमैं = हृदयमें। हरखि = आनंदित होकर। उद्धता = उत्कृष्टता। विलास = आनंद।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत्॥ १॥

अर्थः—गणधर[1] स्वामी जैसा दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न करके, अनादि कालसे लगे हुए अन्तरंगका मिथ्यात्व नष्ट किया और भेदज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञानकी शक्ति सिद्ध करके जीव अजीवका निर्णय किया, पश्चात् अनुभवका अभ्यास करके कर्मोंको नष्ट किया तथा हृदयमें हर्षित होकर अपनी उत्कृष्टताको सम्हाला, जिससे अंतराय-कर्म नष्ट हुआ और शुद्ध आत्माका प्रकाश अर्थात् पूर्णज्ञानका आनंद प्रगट हुआ। उसको मेरा नमस्कार है ॥ २ ॥

श्रीगुरुकी पारमार्थिक शिक्षा (सवैया इकतीसा)

भैया जगवासी तू उदासी ह्वैकैं जगतसौं,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे।
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वैहै कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वैहै प्रापति सरूप यौंही जानु रे॥ ३ ॥

शब्दार्थः—जगवासी = संसारी। उदासी = विरक्त। उपदेश = सिखापन। संकलप विकलप (संकल्प विकल्प) = राग द्वेष। विकार = विभाव परिणति। तजि = छोड़के। एकंत (एकान्त) = अकेलेमें, जहां कोई आहट उपद्रव आदि न हो। ठौरु = स्थान। घट = हृदय। सर = तालाब। मधुकर = भौंरा। सुवास = अपनी सुगंधि। प्रापति (प्राप्ति) = मिलना। ह्वैहै = होगी। सही = सचमुच। यौंही = ऐसा ही।

---

[1] आत्मानुशासनमें आज्ञा आदि दस प्रकारके सम्यक्त्वोंमेंसे गणधर स्वामीके अवगाढ़ सम्यक्त्व कहा है।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥ २ ॥

अर्थः—हे भाई संसारी जीव! तू संसारसे विरक्त होकर एक छह महिनेके[1] लिये मेरी सिखापन मान, और एकान्त स्थानमें बैठकर राग-द्वेषकी तरङ्गें छोड़के चित्तको एकाग्र कर, तेरे हृदयरूप सरोवरमें तूं ही कमल बन और तूं ही भौंरा बनकर अपने स्वभावकी सुगंध ले। जो तूं यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा, सो नियमसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी; आत्मसिद्धिका यही उपाय है ॥ ३ ॥

विशेष—यह पिंडस्थ[2] ध्यान है। अपने चित्तरूप सरोवरमें सहस्र दलका कमल कल्पित करके प्राणायाम किया जाता है जिससे, ध्यान स्थिर होता और ज्ञानगुण प्रगट होता है ॥ ३ ॥

जीव और पुद्गलका लक्षण (दोहा)

चेतनवंत अनंत गुन, सहित सु आतमराम।
याते अनमिल और सब, पुदगलके परिनाम ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—आतमराम = निजस्वरूपमें रमण करनेवाला आत्मा। यातैं = इससे। अनमिल = भिन्न।

अर्थः—जीव द्रव्य, चैतन्यमूर्ति और अनंतगुणसम्पन्न है, इससे भिन्न और सब पुद्गलकी परिणति है।

भावार्थः—चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्माके अनंत गुण हैं और आत्मगुणोंके सिवाय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वा शब्द, प्रकाश, धूप, चांदनी, छाया, अंधकार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास तथा काम, क्रोध, लोभ, माया आदि जो कुछ इन्द्रिय और मन गोचर हैं वे सब पौद्गलिक हैं ॥ ४ ॥

---

[1] यहां पाठमें जो छह महिना कहा है सो सामान्य कथन है। सम्यक्दर्शनकी प्राप्तिका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनंत काल है, शिष्यको मार्गमें लगानेकी दृष्टिसे जघन्य और उत्कृष्ट काल न बताकर छह महिनेके लिये प्रेरणा की है। छह महिनेमें सम्यग्दर्शन उपजे ही उपजे ऐसा नियम नहीं है।

[2] पिंडस्थ ध्यान संस्थानविचय ध्यानका भेद है, पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस तरह चार प्रकारका संस्थानविचय ध्यान होता है।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानका परिणाम (कवित्त)

जब चेतन सँभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृगसौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म ॥
अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म ॥५॥

शब्दार्थः—पौरुष = पुरुषार्थ। निरखै = देखे। दृग = नेत्र। मर्म = असलियत। अविनासी = नित्य। जगत सिरोमनि = संसारमें सबसे उत्तम। धर्म = स्वभाव। रमै = लीन होवे। वमै = कै करना (छोड़ना)। इहि विधि = इस प्रकार। मुकति (मुक्ति) = मोक्ष। समीप = पास। सिव (शिव) = मोक्ष। सर्म = आनन्द।

अर्थः—जब आत्मा अपनी शक्तिको सम्हालता है और ज्ञाननेत्रोंसे अपने असली स्वभावको परखता है तब वह आत्माका स्वभाव आनंदरूप, निर्मल, नित्य और लोकका शिरोसणि जानता है, तथा शुद्ध चैतन्यका अनुभव करके अपने स्वभावमें लीन होकर संपूर्ण कर्मदलको दूर करता है। इस प्रयत्नसे मोक्षमार्ग सिद्ध होता है और निराकुलताका आनंद निकट आता है ॥ ५ ॥

जड़-चेतनकी भिन्नता (दोहा)

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि ॥ ६ ॥

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तम्
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ॥४॥

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्वे पवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५॥

शब्दार्थः—ब्रह्म = शुद्ध आत्मा। दीसै = दिखता है।

अर्थः—शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि वा राग-द्वेष आदि विभाव सब अचेतन हैं, ये हमारे स्वरूप नहीं हैं; आतमअनुभवमें एक ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता ॥ ६ ॥

देह और जीवकी भिन्नतापर दृष्टान्त (दोहा)

खांड़ो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग।
न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—खांड़ो = तलवार। कनक = सोना। न्यारौ = अलग। निरखत = दिखता है।

अर्थः—सोनेके म्यानमें रक्खी हुई लोहेकी तलवार सोनेकी कही जाती है; परंतु जब वह लोहेकी तलवार सोनेके म्यानसे अलग की जाती है तब लोग उसे लोहेकी ही कहते हैं।

भावार्थः—शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाह स्थित हैं। सो संसारी जीव भेदविज्ञानके अभावसे शरीरहीको आत्मा समझ जाते हैं। परन्तु जब भेदविज्ञानमें उनकी पहिचान की जाती है तब चित्चमत्कार आत्मा जुदा भासने लगता है और शरीरमें आत्मबुद्धि हट जाती है ॥ ७ ॥

जीव और पुद्गलकी भिन्नता (दोहा)

वरनादिक पुदगल-दसा, धरै जीव बहु रूप।
वस्तु विचारत करमसौं, भिन्न एक चिद्रूप ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—दशा = अवस्था। बहु = बहुतसे। भिन्न = अलग। चिद्रूप (चित् = रूप) = चैतन्यरूप।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिं ॥ ६ ॥

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ७ ॥

अर्थः—रूप, रस आदि पुद्गलके गुण हैं, इनके निमित्तसे जीव अनेक रूप धारण करता है। परन्तु यदि वस्तुस्वरूपका विचार किया जावे तो वह कर्मसे बिलकुल भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है।

भावार्थः—अनंत संसार संसरण करता हुआ जीव, नर नारक आदि जो अनेक पर्यायें प्राप्त करता है वे सब पुद्गलमय हैं और कर्मजनित हैं, यदि वस्तु-स्वभाव विचारा जावे तो वे जीवकी नहीं हैं, जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्यमूर्ति है ॥ ८ ॥

देह और जीवकी भिन्नतापर दूसरा दृष्टान्त (दोहा)

ज्यौं घट कहिये घीवकौ, घटकौ रूप न घीव ।
त्यौं वरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—ज्यौं = जैसे । घट = घड़ा । जड़ता = अचेतनता ।

अर्थः—जिस प्रकार घीके संयोगसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं परन्तु घड़ा घीरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीरके सम्बन्धसे जीव छोटा, बड़ा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है परन्तु वह शरीरके समान अचेतन नहीं हो जाता।

भावार्थः—शरीर अचेतन है और जीवका उसके साथ अनंत कालसे संबंध है तो भी जीव शरीरके संबन्धसे कभी अचेतन नहीं होता, सदा चेतन ही रहता है ॥ ९ ॥

आत्माका प्रत्यक्ष स्वरूप (दोहा)

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव ।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमैं जीव ॥ १० ॥

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ८ ॥

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—निराबाध = साता असाताकी बाधा रहित। चेतन = ज्ञानदर्शन। अलख = चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं देता। सहज = स्वभावसे। स्वकीव (स्वकीय) = अपना। प्रगट = स्पष्ट।

अर्थः—जीव पदार्थ निराबाध, चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक, ज्ञाता, अचल, अनादि, अनंत और नित्य है सो संसारमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भावार्थः—जीव साता-असाताकी बाधासे रहित है इससे निराबाध है, सदा चेतता रहता है इससे चेतन है, इन्द्रियगोचर नहीं इससे अलख है, अपने स्वभावको आप ही जानता है इससे स्वकीय है, अपने ज्ञानस्वभावसे नहीं चिगता इससे अचल है, आदि रहित है इससे अनादि है, अनंत गुण सहित है इससे अनंत है, कभी नाश नहीं होता इससे नित्य है ॥ १० ॥

अनुभव विधान (सवैया इकतीसा)

रूप-रसवंत मूरतीक एक पुदगल,
रूप बिनु औरु यौं अजीव दर्व दुधा है।
चारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याहीतैं अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है॥
औरसौं न कबहूं प्रगट आप आपुहीसौं,
ऐसौ थिर चेतन-सुभाउ सुद्ध सुधा है।
चेतनकौ अनुभौ अराधैं जग तेई जीव,
जिन्हकौं अखंड रस चाखिवेकी छुधा है॥ ११ ॥

शब्दार्थः—दुधा = दो प्रकारका। मुधा = वृथा। थिर (स्थिर) = अचल। सुधा = अमृत। अखंड = पूर्ण। छुधा (क्षुधा) = भूख।

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यतां ॥ १० ॥

अर्थः—पुद्गलद्रव्य वर्ण रस आदि सहित मूर्तीक है, शेष धर्म, अधर्म आदि चार अजीवद्रव्य अमूर्तीक हैं, इस प्रकार अजीवद्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीक दो भेद रूप है; जीव भी अमूर्तीक है इसलिये अमूर्तीक वस्तुका ध्यान करना व्यर्थ है। आत्मा स्वयंसिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृतस्वरूप है, इस संसारमें जिन्हें परिपूर्ण अमृतरसका स्वाद लेनेकी अभिलाषा है वे ऐसे ही आत्माका अनुभव करते हैं।

भावार्थः—लोकमें छह द्रव्य हैं, उनमें एक जीव और पांच अजीव हैं, अजीव द्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीकके भेदसे दो प्रकारके हैं, पुद्गल मूर्तीक है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्तीक हैं। जीव भी अमूर्तीक है जब कि जीवके सिवाय अन्य भी अमूर्तीक हैं तो अमूर्तीकका ध्यान करनेसे जीवका ध्यान नहीं हो सकता,[1] अतः अमूर्तीकका ध्यान करना अज्ञानता है, जिन्हें स्वात्मरस आस्वादन करनेकी अभिलाषा है उन्हें मात्र अमूर्तीकताका ध्यान न करके शुद्ध चैतन्य, नित्य, स्थिर और ज्ञानस्वभावी आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥ ११ ॥

मूढ़ स्वभाव वर्णन (सवैया तेईसा)

चेतन जीव अजीव अचेतन,
लच्छन-भेद उभै पद न्यारे।
सम्यक्दृष्टि-उदोत विचच्छन,
भिन्न लखै लखिकैं निरवारे ॥
जे जगमांहि अनादि अखंडित,
मोह महामदके मतवारे।
ते जड़ चेतन एक कहैं,
तिन्हकी फिरि टेक टरै नहि टारे ॥ १२ ॥

---

[1] इससे अतिव्याप्ति दोष आता है।

जीवादजीवर्मिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—उभै (उभय) = दो। पद = यहां पदसे पदार्थका प्रयोजन है। उदोत (उद्योत) = प्रकाश। विचच्छन (विचक्षण) = विद्वान्। निरधारे = निश्चय किया। मद = शराब। मतवारे = पागल। टेक = हठ।

अर्थः—जीव चैतन्य है, अजीव जड़ है; इस प्रकार लक्षण भेदसे दोनों प्रकारके पदार्थ पृथक् पृथक् हैं। विद्वान लोग सम्यग्दर्शनके प्रकाशसे उन्हें जुदे-जुदे देखते और निश्चय करते हैं, परन्तु संसारमें जो मनुष्य अनादि कालसे दुर्निवार मोहकी तीक्ष्ण मदिरासे उन्मत्त हो रहे हैं वे जीव और जड़को एक ही कहते हैं; उनकी यह कुटेक टालनेसे भी नहीं टलती है।

भावार्थः—कोई एक ब्रह्म ही ब्रह्म बतलाते हैं, कोई जीवको अंगुष्ठ प्रमाण कोई तंदुल प्रमाण और कोई मूर्तीक कहते हैं, सो इस पद्यमें उन सबकी अज्ञानता बतलाई है ॥ १२ ॥

ज्ञाता विलास (सवैया तेईसा)

या घटमैं भ्रमरूप अनादि,
विसाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक,
सौंजि लियैं वरनादि पसारौ।
मोहसौं भिन्न जुदौ जड़सौं,
चिनमूरति नाटक देखन हारौ॥ १३॥

शब्दार्थः—घट = हृदय। भ्रम = मिथ्यात्व। महा = बड़ा। अविवेक = अज्ञान। अखारौ = नाट्यशाला। दीसत = दिखता है। पुग्गल = पुद्गल। नृत्य = नाच। फेरत = बदलता है। सौंजि = सांझा। पसारौ (प्रसार) = विस्तार। कौतुक = खेल।

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ १२॥

अर्थः—इस हृदयमें अनादि कालसे मिथ्यात्वरूप महा अज्ञानकी विस्तृत नाट्यशाला है, उसमें और कोई शुद्ध स्वरूप नहीं दिखता केवल एक पुद्गल ही बड़ा भारी नाच कर रहा है, वह अनेक रूप पलटता है और रूप आदि विस्तार करके नाना कौतुक दिखाता है; परन्तु मोह और जड़से निराला सम्यग्दृष्टि आत्मा उस नाटकका मात्र देखने वाला है (हर्ष-विषाद नहीं करता) ॥ १३ ॥

भेदविज्ञानका परिणाम (सवैया इकतीसा)

जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै,
जैसैं राजहंस निरवारै दूध जलकौं ।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक-सकतिसेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानंद पुदगलकौं ॥
अवधिकौं धावै मनपर्यैकी अवस्था पावै,
उमगिकैं आवै परमावधिके थलकौं ।
याही भांति पूरन सरूपकौ उदोत धरै,
करै प्रतिबिंबित पदारथ सकलकौं ॥ १४ ॥

शब्दार्थः— करवत = आरा । खंड = टुकड़े । निरवारै = पृथक् करे । सेती = से । उमगिकैं = बढ़कर ।

अर्थः—जिस प्रकार आरा काष्टके दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीरका पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदक-शक्तिसे जीव और पुद्गलको जुदा-जुदा करता है। पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते करते अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञानकी अवस्थाको प्राप्त होता है और इस रीतिसे वृद्धि करके पूर्ण स्वरूपका प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान-स्वरूप हो जाता है जिसमें लोक-अलोकके सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं ॥ १४ ॥

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्त प्रसभविकशद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ १३ ॥

इति जीवाजीवाधिकारः ॥ २ ॥

दूसरे अधिकारका सार

मोक्षमार्गमें मुख्य अभिप्राय केवलज्ञान आदि गुण सम्पन्न आत्माका स्वरूप समझानेका है। परन्तु जिस प्रकार सोनेकी परख समझानेके लिये सोनेके सिवाय पीतल आदिका स्वरूप समझाना अथवा हीराकी परख समझानेके लिये हीराके सिवाय कांचकी पहिचान बताना आवश्यक है, उसी प्रकार जीव पदार्थका स्वरूप दृढ़ करनेके लिये श्रीगुरुने अजीव पदार्थका वर्णन किया है। अजीव तत्त्व जीव तत्त्वसे सर्वथा विभिन्न है अर्थात् जीवका लक्षण चेतन और अजीवका लक्षण अचेतन है। यह अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म, कालके नामसे पांच प्रकारका है। उनमेंसे पीछेके चार अरूपी और पहिला पुद्गल रूपी अर्थात् इन्द्रियगोचर है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णवंत है। यह जीव द्रव्यके चिह्नोंसे सर्वथा प्रतिकूल है, जीव सचेतन है तो पुद्गल अचेतन है, जीव अरूपी है तो पुद्गल रूपी है, जीव अखंड है तो पुद्गल सखंड है। मुख्यतया जीवको संसार संसरण करनेमें यही पुद्गल निमित्त कारण है, इन्हीं पुद्गलोंमय शरीरसे वह संवद्ध है, इन्हीं पुद्गलमय कर्मोंसे वह सर्वात्म प्रदेशोंमें जकड़ा हुआ है, इन्हीं पुद्गलोंके निमित्तसे उसकी अनंत शक्तियां ढँक रहीं हैं, इन्हीं पुद्गलोंके निमित्तसे उसमें विभाव उत्पन्न होते हैं, अज्ञानके उदयमें वह इन्हीं पुद्गलोंसे राग-द्वेष करता है, वा इन्हीं पुद्गलोंमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है, अगर पुद्गल न होते तो आत्मामें अन्य वस्तुका संबंध नहीं होता न उसमें विकार वा राग-द्वेष होता न संसार संसरण होता, संसारमें जितना नाटक है सब पुद्गल जनित है।

तुम शरीरमें कहीं चिऊंटीसे दबाओ तो तुम्हें बोध होगा कि हमें दबाया है—हमें दुखका बोध हुआ है। बस, यह जाननेकी शक्ति रखनेवाला जीव है वही तुम हो, चैतन्य हो, नित्य हो, आत्मा हो। आत्माके सिवाय एक और पदार्थ जिसे तुमने चिऊंटीसे दबाया है वह नरमसा कुछ मैला कालासा कुछ खारासा कुछ सुगंध-दुर्गंधवानसा प्रतीत होता है उसे शरीर कहते हैं। यह शरीर जड़ है, अचेतन है, नाशवान है, पर पदार्थ है, आत्मस्वभावसे भिन्न है। इस शरीरसे अहंबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीरके संबंधी धन, स्त्री, पुत्रादिको अपने मानना मिथ्याज्ञान है। लक्षण भेदके द्वारा निज आत्माको स्व और आत्माके सिवाय सब

चेतन-अचेतन पदार्थोंको पर जानना ही भेदविज्ञान है, इसीका नाम प्रज्ञा है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानीको पृथक् पृथक् कर देता है उसी प्रकार विवेकके द्वारा जीव व पुद्गलका पृथक्करण करना पुद्गलोंसे अहंबुद्धि वा राग-द्वेष हटाकर निजस्वरूपमें लीन होना चाहिये और “तेरौ घट सर तामैं तूंही है कमल ताकौ, तूंही मधुकर है स्ववास पहचान रे।” वाली शिक्षाका हमेशा अभ्यास करना चाहिये।

कर्त्ता कर्म क्रियाद्वार ।

(३)

प्रतिज्ञा (दोहा)

यह अजीव अधिकारकौ, प्रगट बखानौ मर्म ।
अब सुनु जीव अजीवके, करता किरिया कर्म ॥ १ ॥

शब्दार्थः—प्रगट = स्पष्ट । बखानौ = वर्णन किया । मर्म = रहस्य । सुनु = सुनो ।

अर्थः—यह अजीव अधिकारका रहस्य स्पष्ट वर्णन किया, अब जीव-अजीवके कर्ता क्रिया कर्मको सुनो ॥ १ ॥

भेदविज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है, निजस्वभावका कर्त्ता है (सवैया इकतीसा)

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ ।
अंतर-विवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरमकौ ।
भासे छहौं दरबके गुन परजाय सब,
नासे दुख लख्यौ सुख पूरन परमकौ ।
करमकौ करतार मान्यौ पुदगल पिंड,
आप करतार भयौ आतम धरमकौ ॥ २ ॥

शब्दार्थः—सदीव = हमेशा । बोध = ज्ञान । भारत = बड़ा । भरम = भूल । भासे = ज्ञात हुए । परम = यहाँ परमात्माका प्रयोजन है ।

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्त्तृकर्मप्रवृत्ति ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥ १ ॥

अर्थः—जीव पहले अज्ञानकी दशामें कहता था कि, मैं सदैव अकेला ही कर्मका कर्ता हूँ दूसरा कोई नहीं है; परन्तु जब अंतरंगमें विवेक हुआ और स्व-परका भेद समझा तब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, भारी भूल मिट गई, छहों द्रव्य, गुण, पर्याय सहित ज्ञात होने लगे, सब दुख नष्ट हो गये और पूर्ण परमात्माका स्वरूप दिखने लगा, पुद्गल पिंडको कर्मका कर्त्ता माना, आप स्वभावका कर्त्ता हुआ।

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान होनेपर जीव अपनेको स्वभावका कर्त्ता और कर्मका अकर्त्ता जानने लगता है ॥ २ ॥ पुनः

जाही समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं।
महा परचंड मति मंडन अखंड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं ॥
ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव,
जैसैं तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं।
ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब,
करता ह्वै कैसे करै पुग्गल करमकौं ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—वेदत = भोगता है। भेदत = नष्ट करता है। परचंड (प्रचंड) = तेज। विपरीत = उल्टा। तम = अंधकार। भानु = सूर्य। ह्वै = होकर।

अर्थः—जब जीव शरीरसे अहंबुद्धिका विकार छोड़ देता है और मिथ्या-मति नष्ट करके निजस्वरूपका स्वाद लेता है तथा अत्यन्त तेज बुद्धिको सुशोभित करनेवाले पूर्ण रस भरे अनुभवके अभ्याससे परमात्माका प्रकाश करता है तब सूर्यके उदयसे नष्ट हुए अंधकारके समान कर्मके कर्त्तापनेका विपरीत भाव हृदयमें नहीं

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः॥ २॥

रहता। ऐसी दशा प्राप्त होनेपर वह आत्मस्वभावका साधक होता है। तब पौद्गलिक कर्मोंको कर्त्ता होकर कैसे करेगा? अर्थात् नहीं करेगा ॥ ३ ॥

आत्मा कर्मका कर्त्ता नहीं है मात्र ज्ञातादृष्टा है। (सवैया इकतीसा)

जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म,
    करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है।
अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी,
    ममता मिटाइ परजाइ बुधि नाखी है॥
निरभै सुभाव लीनौ अनुभौके रस भीनौ,
    कीनौ विवहारदृष्टि निहचैमैं राखी है।
भरमकी डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी,
    परमसौं प्रीति जोरी करमकौ साखी है॥ ४॥

शब्दार्थः—प्रतिपाखी (प्रतिपक्षी) = यहाँ पक्षपातीका प्रयोजन है। नाखी[1] = छोड़ दी। निरभै (निर्भय) = निडर। भीनौ = मग्न हुआ। धोरी = धारण करनेवाला।

अर्थः—संसारमें अनादि कालका यह अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म मेरा है, मैं इसका कर्ता हूँ और यह मेरा किया[2] हुआ है। परन्तु जब अंतरंगमें सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ तब मन वचनके योगोंसे विरक्त हुआ, पर पदार्थोंसे ममत्व हट गया, परजायसे अहंबुद्धि छूट गई, निःशंक निजस्वभाव ग्रहण किया, अनुभवमें मग्न हुआ, व्यवहारमें है तौ भी निश्चयपर श्रद्धा हुई, मिथ्यात्वका बन्धन टूट गया, आत्मधर्मका धारक हुआ, मुक्तिसे मुहब्बत लगाई और कर्मका मात्र ज्ञाता-दृष्टा हुआ, कर्त्ता नहीं रहा ॥ ४ ॥

---

[1] यह शब्द गुजराती भाषामें प्रचलित है। [2] अर्थात् क्रियाका पक्षपात करता है।

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
    स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
    ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥ ३॥

भेदविज्ञानी जीव लोगोंको कर्मका कर्त्ता दिखता है पर वह वास्तवमें अकर्त्ता है। (सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरव ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं।
जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं॥
ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धताके परमानसौं॥५॥

शब्दार्थः—आनसौं (अन्यसे) = दूसरोंसे। अमिल मिलाप = भिन्नता। नितंब = मोती। सुविवेक = सम्यग्ज्ञान। भान (भानु) = सूर्य। सोई = वह।

अर्थः—जो द्रव्य जैसा है उसके वैसे ही गुण-पर्याय होते हैं और वे उसीसे मिलते हैं अन्य किसीसे नहीं मिलते। चैतन्य जीव और जड़ कर्ममें जातिभेद है सो इनका नितम्ब और कानके समान अमिलाप है, ऐसा सम्यग्ज्ञान जिसके हृदयमें जाग्रत होता है उसका मिथ्यात्व, सूर्यके उदयमें अन्धकारके समान दूर हो जाता है। वह लोगोंको कर्मका कर्त्ता दिखता है परन्तु राग-द्वेष आदि रहित शुद्ध होनेसे उसे आगममें अकर्ता कहा है॥५॥

जीव और पुद्गलके जुदे जुदे स्वभाव (छप्पय छन्द)

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक।
आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक॥

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥४॥

जीवदरब चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़।
जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अंतर बड़॥
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट,
तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़ करमकौ,
सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै॥ ६॥

शब्दार्थः—ज्ञायक = जानने वाला। इहि लायक = इस योग्य। अचेत = ज्ञानहीन। बड़ = वहुत। मिथ्यामति = अज्ञान। लसै = रहै। भ्रम = भूल।

अर्थः—जीवमें ज्ञान गुण है, वह अपने और अन्य द्रव्योंके गुणोंका ज्ञाता है। पुद्गल इस योग्य नहीं है और न उसमें अपने वा अन्य द्रव्योंके गुण जाननेकी शक्ति है। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अरूपी है और पुद्गल रूपी, इस प्रकार दोनोंमें वड़ा अंतर है। जव तक भेदविज्ञान नहीं होता तव तक मिथ्यामति रहती है और जीव अपनेको कर्मका कर्ता मानता है परन्तु सुबुद्धिका उजेला होनेपर यह भ्रान्ति मिट जाती है॥ ६॥

कर्त्ता कर्म और क्रियाका स्वरूप (दोहा)

करता परिनामी दरब, करम रूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम॥ ७॥

शब्दार्थः—कर्ता = जो कार्य करे। कर्म = किया हुआ कार्य। क्रिया = पर्यायका रूपान्तर होना, जैसेः—घट बननेमें कुंभकार कर्त्ता है, घट कर्म है और मृत्तिकाका पिंडपर्यायसे घटरूप होना क्रिया है, पर यह भेद विवक्षा कथन है। अभेद विवक्षामें घटको

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न याव-
द्विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः॥ ५॥

यः परिणमतिः स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ ६॥

उत्पन्न करनेवाली मृत्तिका है इसलिये मृत्तिका ही कर्त्ता है, मृत्तिका घटरूप होती है इसलिये मृत्तिका ही कर्म है और पिंड पर्याय मृत्तिकाकी थी वा घट पर्याय भी मृत्तिका ही हुई इसलिये मृत्तिका ही क्रिया है। परिनामी = अवस्थायें पलटनेवाला। परिनाम = अवस्था।

अर्थः—अवस्थाएँ पलटनेवाला द्रव्य कर्ता है, उसकी अवस्था कर्म है और अवस्थासे अवस्थान्तर होना क्रिया है; इस प्रकार एक वस्तुके तीन नाम हैं।

विशेषः—यहाँ अभेदविवक्षासे कथन है, द्रव्य अपने परिणामोंको करनेवाला स्वयं है इसलिये वह उनका कर्ता है, वे परिणाम द्रव्यके हैं और उससे अभिन्न हैं इसलिये द्रव्य ही कर्म है, द्रव्य अवस्थासे अवस्थान्तर होता है और वह अपनी सब अवस्थाओंसे अभिन्न रहता है इसलिये द्रव्य ही क्रिया है। भाव यह है कि द्रव्य ही कर्ता है, द्रव्य ही कर्म है और द्रव्य ही क्रिया है; बात एक ही है नाम तीन हैं॥ ७॥

कर्त्ता कर्म और क्रियाका पकत्व (दोहा)

करता करम क्रिया करै, क्रिया करम करतार।
नाम-भेद बहु विधि भयौ, वस्तु एक निरधार॥ ८॥

शब्दार्थः—बहु विधि = कई प्रकारका। निरधार = निश्चय।

अर्थः—कर्ता, कर्म और क्रियाका करनेवाला है, कर्म भी क्रिया और कर्तारूप है, सो नामके भेदसे एक ही वस्तु कई रूप होती है॥ ८॥ पुनः

एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ।
दुधा दरव सत्ता सधी, एक भाव क्यों होइ॥ ९॥

शब्दार्थः—दुधा = दो प्रकार।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
पकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः॥ ७॥

नोभौ प्ररिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा॥ ८॥

अर्थः—एक कर्मकी एक ही क्रिया व एक ही कर्ता होता है दो नहीं होते, सो जीव पुद्गलकी जब जुदी जुदी सत्ता है तब एक स्वभाव कैसे हो सकता है?

भावार्थः—अचेतन कर्मका कर्ता वा क्रिया अचेतन ही होना चाहिये। चैतन्य आत्मा जड़ कर्मका कर्ता नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

कर्त्ता कर्म और क्रियापर विचार (सवैया इकतीसा)

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है ॥
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परनामनिकौ करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है ॥ १० ॥

शब्दार्थः—करतूति = क्रिया। एक खेत-अवगाही (एक क्षेत्रावगाही) = एक ही स्थानमें रहनेवाले। ना टरतु है = नहीं हटता है। आचरतु है = वर्तता है।

अर्थः—एक परिणामके कर्ता दो द्रव्य नहीं होते, दो परिणामोंको एक द्रव्य नहीं करता, एक क्रियाको दो द्रव्य कभी नहीं करते, दो क्रियाओंको भी एक द्रव्य नहीं करता। जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्रावगाह स्थित हैं तौ भी अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। पुद्गल जड़ है इसलिये अचेतन परिणामोंका कर्त्ता है और चिदानंद आत्मा चैतन्यभावका कर्त्ता है ॥ १० ॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे पकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ९ ॥

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवाऱ्यौ नहि गयौ है ।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ,
याही अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ है ॥
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयौ है ।
तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—धीठ (धृष्ट) = ढीठ। वसीठ = दूत। निवाऱ्यौ = हटायौ। समै (समय) = वक्त। उछेदि = हटाकर। परिनयौ = हुआ। सकति (शक्ति) = बल।

अर्थः—जो अत्यन्त कठोर है, दुःखोंका दूत है, परद्रव्य जनित है, अंधकूपके समान है, किसीसे हटाया नहीं जा सकता[1] ऐसा मिथ्यात्वभाव जीवको अनादि कालसे लग रहा है। और इसी कारण जीव, परद्रव्यमें अहंबुद्धि करके अनेक अवस्थाएँ धारण करता है। यदि कोई जीव किसी समय मिथ्यात्वका अंधकार नष्ट करे और परद्रव्यसे ममत्वभाव हटाकर शुद्धभावरूप परिणाम करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके बंधके कारणोंको[2] हटाकर, अपनी आत्मशक्तिसे संसारको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

---

[1] मिथ्यात्व विभाव भाव है उसे हटाकर अनंत जीव मुक्त हुए हैं। पर हां, कठिनाईसे हटता है इस दृष्टिसे 'निवाऱ्यौ नहिं गयौ है' यह पद दिया है।

[2] मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय योग।

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ १० ॥

जैसा कर्म वैसा कर्त्ता (सवैया इकतीसा)

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन,
दुहूंकौ करतार जीव और नहि मानिये ।
कर्मपिंडकौ विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूंकौ पुदगल परवानिये ॥
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुदगलरूप जानिये ।
समल विमल परिनाम जे जे चेतनके,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—सुद्धभाव = केवलदर्शन केवलज्ञान अनंतसुख आदि । असुद्धभाव = राग द्वेष क्रोध मान आदि । और = दूसरा । फास = स्पर्श । समल = अशुद्ध । विमल = शुद्ध अलख = अरूपी । पुरुष = परमेश्वर ।

अर्थः—शुद्ध चैतन्यभाव और अशुद्ध चैतन्यभाव दोनों भावोंका कर्त्ता जीव है, दूसरा नहीं है । द्रव्यकर्म-परणति और वर्ण, रस, गंध, स्पर्श इन दोनोंका कर्त्ता पुद्गल है; इससे वर्ण रसादि गुण सहित शरीर और ज्ञानावरणादि कर्म-स्कंध इन्हें अनेक प्रकारकी पुद्गल पर्यायें जानना चाहिये । आत्माके शुद्ध और अशुद्ध जो जो परिणाम हैं वे सब अमूर्तीक आत्माके हैं, ऐसा परमेश्वरने कहा है ॥ १२ ॥

नोटः—अशुद्ध परिणाम कर्मके प्रभावसे होते हैं और शुद्ध परिणाम कर्मके अभावसे होते हैं; इससे दोनों प्रकारके भाव कर्म-जनित कहे जा सकते हैं ।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ ११ ॥

भेदज्ञानका मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता इसपर दृष्टान्त

(सवैया इकतीसा)

जैसें गजराज नाज घासके गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है।
जैसें मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद,
जुंगमें मगन कहै गऊ दूध पीयौ है॥
तैसें मिथ्यादृष्टी जीव ग्यानरूपी है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है।
चेतन अचेतन दुहूंकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है॥ १३॥

शब्दार्थः—गजराज = हाथी। गरास (ग्रास) = कौर, कवल। सिखरनि (श्रीखण्ड) = अत्यन्त गाढ़ा दही और मिश्रीका मिश्रण। जुंग = सनक। सुन्न (शून्य) = विवेक रहित।

अर्थः—जैसे हाथी अनाज और घासका मिला हुआ ग्रास खाता है, पर खानेहीका स्वभाव होनेसे जुदा जुदा स्वाद नहीं लेता; अथवा जिस प्रकार मद्यसे मतवालेको श्रीखण्ड खिलाया जावे, तो वह नशेमें उसका स्वाद न पहिचानकर कहता है कि इसका स्वाद गौदुग्धके समान है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि सदा ज्ञानमूर्ति है, तौ भी पुण्य-पापमें लीन होनेके कारण उसका हृदय आत्मज्ञानसे शून्य रहता है, इससे चेतन-अचेतन दोनोंके मिले हुए पिण्डको देखकर एक ही मानता है और कुछ विचार नहीं करता।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि जीव स्व-पर विवेकके अभावमें पुद्गलके मिलापसे जीवको कर्मका कर्त्ता मानता है॥ १३॥

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्॥ १२॥

जीवको कर्मका कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है इसपर दृष्टान्त

(सवैया इकतीसा)

जैसैं महा धूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग,
भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ है ।
जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है ॥
अपनैं सुभाव जैसैं सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौं उछरि अकुलायौ है ।
तैसैं जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—तपति = गर्मी । तिसायौ = प्यासा । मिथ्याजल = मृगजल[1] । जेवरी = रस्सी । सरप (सर्प) = सांप । सागर = समुद्र । थिर = स्थिर । अव्यापक = भिन्न । भरम = भूल ।

अर्थः—जिस प्रकार अत्यन्त तेज धूपमें प्यासका सताया हुआ हिरण भूलसे मृगजल पीनेको दौड़ता है, अथवा जैसे कोई मनुष्य अंधेरेमें रस्सीको देख उसे सर्प जान भयभीत होकर भागता है, और जिस प्रकार समुद्र अपने स्वभावसे सदैव स्थिर है तथापि हवाके झकोरोंसे लहराता है; उसी प्रकार जीव स्वभावतः जड़ पदार्थोंसे भिन्न है, परन्तु मिथ्यात्वी जीव भूलसे अपनेको कर्मका कर्त्ता मानता है ॥ १४ ॥

---

[1] निर्जल देशमें रेतपर गिरी हुई सूर्यकी किरणोंमें पानीका भ्रम ।

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥१३॥

भेदविज्ञानी जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है, मात्र दर्शक है।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसैं समकितीकी सुदृष्टिमैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है॥
जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है॥ १५॥

शब्दार्थः—बदन = मुख। सपरसत (स्पर्शत) = छूनेसे। छीर (क्षीर) = दूध। नीर = पानी। भासै = दिखता है। सीर = साथी। तमासगीर = दर्शक।

अर्थः—जिस प्रकार हंसके मुखका स्पर्श होनेसे दूध और पानी पृथक् पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंकी सुदृष्टिमें स्वभावतः जीव, कर्म और शरीर भिन्न भिन्न भासते हैं। जब शुद्ध चैतन्यके अनुभवका अभ्यास होता है तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है, उसका किसी दूसरेसे मिलाप नहीं दिखता। हां, पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आये हुए दिखते हैं पर अहंबुद्धिके अभावमें उनका कर्त्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है॥ १५॥

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि॥ १४॥

मिले हुए जीव और पुद्गलकी पृथक् पृथक् परख।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं उसनोदकमैं उदक-सुभाव सीरौ,
आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै।
जैसैं स्वाद व्यंजनमैं दीसत विविधरूप,
लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै॥
तैसैं घट पिंडमैं विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार भाव नखियै॥ १६॥

शब्दार्थः—उसनोदक (उष्णोदक) = गरम जल। उदक = जल। सीरौ = ठंडा। उसनता (उष्णता) = गर्मी। फरस = स्पर्श। व्यंजन = तरकारी। नखियै[1] = छोड़ देना चाहिये।

अर्थः—जिस प्रकार स्पर्शज्ञानसे शीत स्वभाववाले गरम जलकी अग्निजनित उष्णता पहिचानी जाती है, अथवा जिस प्रकार जिह्वा इन्द्रियसे अनेक स्वादवाली तरकारीमेंका नमक जुदा चख लिया जाता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानसे घटपिंडमेंका अज्ञानरूप विकार और ज्ञानमूर्ति जीव परख लिया जाता है, आत्माको कर्मका कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है, द्रव्यदृष्टिसे 'आत्मा कर्मका कर्त्ता है' ऐसा भाव ही नहीं होना चाहिये॥ १६॥

---

[1] यह शब्द गुजराती भाषामें प्रचलित है।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥ १५॥

पदार्थ अपने स्वभावका कर्त्ता है (दोहा)

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान ।
दर्वकर्म पुदगल करै, यह निहचै परवान ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—द्रव्यकर्म = ज्ञानावरणादि कर्मदल । परवान (प्रमाण) = सच्चा ज्ञान ।

अर्थः—ज्ञानभावका कर्त्ता ज्ञानी है अज्ञानका कर्त्ता अज्ञानी है और द्रव्यकर्मका कर्त्ता पुद्गल है ऐसा निश्चयनयसे जानो ॥ १७ ॥

ज्ञानका कर्त्ता जीव ही है, अन्य नहीं है (दोहा)

ग्यान सरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और ।
दरब करम चेतन करै, यह विवहारी दौर ॥ १८ ॥

अर्थः—ज्ञानरूप आत्मा ही ज्ञानका कर्त्ता है और दूसरा नहीं है । द्रव्यकर्मको जीव करता है यह व्यवहार-वचन है ॥ १८ ॥

इस विषयमें शिष्यकी शंका (सवैया तेईसा)

पुग्गलकर्म करै नहि जीव,
कही तुम मैं समुझी नहि तैसी ।
कौन करै यह रूप कहौ अब,
को करता करनी कहु कैसी ॥
आपुही आपु मिलै बिछुरै जड़,
क्यौं करि मो मन संसय ऐसी ?
सिष्य संदेह निवारन कारन,
बात कहैं गुरु है कछु जैसी ॥ १९ ॥

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा
स्यात्कर्त्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ १६ ॥
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ १७ ॥
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—विछुरैं = पृथक् होवे। संसय (संशय) = सन्देह, शक।

अर्थः—पुद्‌गल कर्मको जीव नहीं करता है, ऐसा आपने कहा सो मेरी समझमें नहीं आता। कर्मका कर्त्ता कौन है और उसकी कैसी क्रिया है? ये अचेतन कर्म अपने आप जीवसे कैसे वँधते-छूटते हैं? मुझे यह सन्देह है। शिष्यकी इस शंकाका निर्णय करनेके लिये श्रीगुरु यथार्थ वात कहते हैं ॥ १९ ॥

ऊपर की हुई शंकाका समाधान (दोहा)

पुदगल परिनामी दरब, सदा परिनवै सोइ।
यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ ॥ २० ॥

शब्दार्थः—परिनामी (परिणामी) = अपना स्वभाव न छोड़कर पर्यायसे पर्यायान्तर होनेवाला। सोइ = वह। यातैं = इससे। होइ = होता है।

अर्थः—पुद्‌गल द्रव्य परिणामी है, वह सदैव परिणमन किया करता है, इससे पुद्‌गल कर्मका पुद्‌गल ही कर्त्ता है ॥ २० ॥

जीव चेतना संजुगत, सदा पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—संजुगत = संयुक्त, सहित। ठौर = जगह, स्थान।

अर्थः—जीव चेतना संयुक्त है, सब जगह सदा पूर्ण है, इस कारण चेतनभावोंका कर्त्ता जीव ही है और कोई नहीं है ॥ २१ ॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्त्ता ॥ १९ ॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्त्ता ॥ २० ॥

शिष्यका पुनः प्रश्न (अडिल्ल छंद)

ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु है।
अज्ञानीकौ भोग बंध फल देतु है॥
यह अचरजकी बात हिये नहि आवही।
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही॥ २२॥

शब्दार्थः—भोग = शुभ अशुभ कर्मोंका विपाक। निर्जरा-हेतु = कर्म झड़नेके लिये। हिये = मनमें।

अर्थः—कोई शिष्य प्रश्न करता है, कि हे गुरुजी! ज्ञानीके भोग निर्जराके लिये हैं और अज्ञानीके भोगोंका फल बंध है, यह अचरज भरी हुई बात मेरे चित्तपर नहीं जमती? इसको श्रीगुरु समझाते हैं॥ २२॥

ऊपर की हुई शंकाका समाधान (सवैया इकतीसा)

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसै एकसे पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देतु है॥
ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु है।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है॥ २३॥

शब्दार्थः—खेतु (क्षेत्र) = स्थान। परिनाम (परिणाम) = भाव। उदासीन = रागादि रहित। मगनरूप = तल्लीन। अंध = विवेकशून्य।

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥ २१॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥ २२॥

अर्थः—दया, दान, पूजादि पुण्य वा विषय, कषाय आदि पाप दोनों कर्मबंध हैं और दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक ही है। इन दोनों प्रकारके कर्मोंके करनेमें सम्यग्ज्ञानी और मिथ्यात्वी एकसे दिखते हैं, परन्तु उनके भावोंमें अन्तर होनेसे फल भी भिन्न भिन्न होता है। ज्ञानीकी क्रिया विरक्तभाव सहित और अहंबुद्धि रहित होती है, इसलिये निर्जराका कारण है, और वही क्रिया मिथ्यात्वी जीव विवेक रहित तल्लीन होकर अहंबुद्धि सहित करता है, इसलिये बन्ध और उसके फलको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

मिथ्यात्वीके कर्तापनेकी सिद्धिपर कुंभकारका दृष्टान्त

(छप्पय)

ज्यौं माटीमैं कलस होनकी, सकति रहे ध्रुव ।
दंड चक्र चीवर कुलाल, बाहजि निमित्त हुव ॥
त्यौं पुदगल परवांनु, पुंज वरगना भेस धरि ।
ग्यानावरनादिक स्वरूप, विचरंत विविध परि ॥
बाहजि निमित्त बहिरातमा,
गहि संसै अग्यानमति ।
जगमांहि अहंकृत भावसौं,
करमरूप ह्वै परिनमति ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—कलस = घड़ा। सकति = शक्ति। चक्र = चाक। चीवर = धागा। कुलाल = कुंभकार। बाहजि = बाह्य। पुंज = समुदाय। परवांनु = परमाणु। वरगना = वर्गणा। भेस = रूप। विचरंत = भ्रमण करते हैं। विविध = भाँति भाँति। गहि = धारण करके। बहिरातमा = मिथ्यादृष्टि। अहंकृत = ममत्व।

अर्थः—जिस प्रकार मिट्टीमें घटरूप होनेकी शक्ति सदा मौजूद रहती है

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाः ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ २३ ॥

और दंड, चाक, धागा, कुंभकार आदि बाह्य निमित्त हैं, उसी प्रकार लोकमें पुद्गलपरमाणुओंके दल कर्मवर्गणारूप होकर ज्ञानावरणीय आदि भाँति भाँतिकी अवस्थाओंमें भ्रमण करते हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव बाह्य निमित्त है। जो संशय आदिसे[1] अज्ञानी होता है, सो शरीर आदिमें अहंकार होनेसे वे पुद्गलपिंड कर्मरूप हो जाते हैं ॥ २४ ॥

जीवको अकर्त्ता मानकर आत्म-ध्यान करनेकी महिमा

(सवैया तेईसा)

जे न करैं नयपच्छ विवाद,
धरैं न विखाद अलीक न भाखैं।
जे उदवेग तजैं घट अंतर,
सोतल भाव निरंतर राखैं॥
जे न गुनी-गुन-भेद विचारत,
आकुलता मनकी सब नाखैं।
ते जगमैं धरि आतम ध्यान,
अखंडित ग्यान-सुधारस चाखैं॥ २५॥

शब्दार्थः—विवाद = झगड़ा। विखाद (विषाद) = खेद। अलीक = झूठ। उद्वेग = चिंता। सीतल (शीतल) = शान्त। नाखैं = छोड़ें। अखंडिन = पूर्ण।

अर्थः—जो नयवादके झगड़ेसे रहित हैं, असत्य, खेद, चिन्ता, आकुलता आदिको हृदयसे हटा देते हैं और हमेशा शान्तिभाव रखते हैं, गुण-गुणीके भेद-विकल्प भी नहीं करते, वे संसारमें आत्मध्यान धारण करके पूर्ण ज्ञानामृतका स्वाद लेते हैं ॥ २५ ॥

---

[1] —संशय, विमोह और विभ्रम ये ज्ञानके दोष हैं।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ २४॥

जीव निश्चय नयसे अकर्त्ता और व्यवहारसे कर्त्ता है

(सवैया इकतीसा)

विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं ।
एक पच्छ बंध्यौ एक पच्छसौं अबंध सदा,
दोऊ पच्छ अपनैं अनादि धरे इनिहीं ॥
कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै,
चिदानंद तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं ।
बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै दोऊ नैको भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—विलोकत = देखनेसे । निहारत = देखनेसे । अबंध = मुक्त । बंध्यो = बंध सहित । तसोई = वैसा ही । खुल्यौ = बंध रहित ।

अर्थः—व्यवहारनयसे देखो तो आत्मा बँधा हुआ दिखता है, निश्चयदृष्टिसे देखो तो यह किसीसे बँधा हुआ नहीं है। एक नयसे बँधा हुआ और एक नयसे सदा अबंध—खुला हुआ है, ऐसे ये अपने दोनों पक्ष अनादि कालसे धारण किये हुए है। एक नय कर्मसहित और एक नय कर्मरहित कहता है, सो जिस नयसे जैसा कहा है वैसा है। जो बँधा हुआ तथा खुला हुआ दोनों ही बातोंको मानता है, और दोनोंका अभिप्राय समझता है, वही सम्यग्ज्ञानी जीवका स्वरूप जानता है ॥ २६ ॥

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २५ ॥

नोटः—इस श्लोकके आगे ४४ वें श्लोक तकके श्लोकमें मात्र एक शब्दका फर्क है, शेष सबके सब श्लोक इसी तरहके हैं। जैसे इसमें बद्धो है तो अगले श्लोकोंमें बद्धोके स्थानमें मूढ़ो, रक्तो, दुष्टो है। इस कारण ये १९ श्लोक नहीं दिये गये हैं। सब श्लोकोंका एक ही आशय होता है।

नयज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानकर समरस भावमें रहनेवालोंकी प्रशंसा

(सवैया इकतीसा)

प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय,
दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं।
ज्यौं ज्यौं नय फलैं त्यौं त्यौं मनके कल्लोल फलैं,
चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं ॥
ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतासौं नहि टले हैं।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं ॥ २७॥

शब्दार्थः—नियत = निश्चय। फलावत = विस्तार करो तो। फले = उपजे। कल्लोल = तरंग। उछले = बढ़े। कक्ष = कोटि। परगासि = प्रगट करके। रले[1] = मिले।

अर्थः—पहला निश्चय और दूसरा व्यवहार नय है, इनका प्रत्येक द्रव्यके गुण-पर्यायोंके साथ विस्तार किया जाय तो अनंत भेद हो जाते हैं। जैसे जैसे नयके भेद बढ़ते हैं वैसे वैसे चंचल स्वभावी चित्तमें तरङ्गें भी उपजती हैं, जो लोक और अलोकके प्रदेशोंके बराबर हैं। जो ज्ञानी जीव ऐसी नयकोटिका पक्ष छोड़कर समता-रस ग्रहण करके आत्मस्वरूपकी एकताको नहीं छोड़ते, वे महामोहको नष्ट करके, अनुभवके अभ्याससे निजात्म बल प्रगट करके, पूर्ण आनंदमें लीन होते हैं ॥ २७॥

---

[1] यह शब्द मारवाड़ी भाषामें प्रचलित है।

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिस्समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ४५॥

सम्यग्ज्ञानसे आतमस्वरूपकी पहिचान होती है (सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं,
भरममैं धाइ बहु काय निज मानी है॥
अब ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है॥ २८॥

शब्दार्थः—बाजीगर = खेल करनेवाला। चौहटे = चौराहे पर। भगल-विद्या = धोखेबाजी। धाइ = भटककर। काय = शरीर। सौंज = वस्तु।

अर्थः—जैसे कोई तमासगीर चौराहेपर ढोल बजावे और अनेक स्वांग बनाके ठगविद्यासे लोगोंको भ्रममें डाल देवे, उसी प्रकार मैं अनादि कालसे मिथ्यात्वके झकोरोंसे भ्रममें भूला रहा और अनेक शरीरोंको अपनाया। अब ज्ञान-ज्योतिका उदय हुआ जिससे मिथ्यादृष्टि हट गई, सब स्व-पर वस्तुकी पहिचान हुई और उस ज्ञानकलाके प्रगट होते ही ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि हमने अपनी असली आत्मज्योति पहिचान ली॥ २८॥

ज्ञानीका आत्मानुभवमें विचार (सवैया इकतीसा)

जैसै महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै,
जलकी तरंग जैसैं लीन होय जलमैं।
तैसैं सुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं॥

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥ ४६॥

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकं।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं॥ ४७॥

ऐसै अविकलपी अजलपी अनंद रूपी,
अनादि अनंत गहि लीजे एक पलमैं ।
ताकौ अनुभव कीजे परम पीयूष पीजे,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुद्गलमैं ॥ २९ ॥

शब्दार्थ:—अविकलपी = विकल्प रहित । अजलपी = यहाँ स्थिरताका प्रयोजन है । गहि लीजै = ग्रहण कीजिये । पीयूष = अमृत । विलास = विस्तार ।

अर्थः—जिस प्रकार उत्तम रत्नकी ज्योतिमें चमक उठती है, अथवा जलमें तरङ्ग उठती है और उसीमें समा जाती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा, पर्यायापेक्षा उपजता और नष्ट होता है, तथा द्रव्यापेक्षा अपने स्वरूपमें स्थिर-अवस्थित रहता है। ऐसे निर्विकल्प, नित्य, आनंदरूप, अनादि, अनंत, शुद्ध आत्माको तत्काल ग्रहण कीजिये । उसीका अनुभव करके परम अमृत-रस पीजिये और कर्मबंधके विस्तारको पुद्गलमें छोड़ दीजिये ॥ २९ ॥

आत्मानुभवकी प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

दरबकी नय परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है ।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है ॥
अनुभौ प्रवांन भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान औ विग्यानघन महा सुखपोख है ।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ विना न कहू और ठौर मोख है ॥ ३० ॥

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—परोख (परोक्ष) = इन्द्रिय और मनः आश्रित ज्ञान। विराजमान = सुशोभित। अदोख (अदोष) = निर्दोष। पोख (पोष) = पोषक। ठौर = स्थान। मोख (मोक्ष) = मुक्ति।

अर्थः—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय श्रुतज्ञान[1] हैं और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण[2] है, पर शुद्ध परमात्माका अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे अनुभव शोभनीय, निर्दोष, प्रमाण, भगवान, पुरुष, पुराण, ज्ञान, विज्ञानघन, परम सुखका पोषक, परम, पवित्र ऐसे और भी अनंत नामोंका धारक है, अनुभवके सिवाय और कहीं मोक्ष नहीं है ॥ ३० ॥

अनुभवके अभावमें संसार और सद्भावमें मोक्ष है, इसपर दृष्टान्त

(सवैया इकतीसा)

जैसे एक जल नानारूप-दरबानुजोग,
भयौ बहु भांति पहिचान्यौ न परतु है।
फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत,
अपने सहज नीचे मारग ढरतु है॥
तैसें यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है।
सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ,
बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है॥ ३१॥

शब्दार्थः—दरबानुजोग = अन्य वस्तुओंका संयोग, मिलावट। भेस (वेष) = रूप। भव-भांवरि = जन्म-मरणरूप संसारका चक्कर। भानि = नष्ट करके।

---

[1] श्रुतज्ञानके अंश हैं। [2] नय और प्रमाणमें अंश अंशी भेद है।

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ४९॥

अर्थः—जिस प्रकार जलका एक वर्ण है, परन्तु गेरु, राख, रंग आदि अनेक वस्तुओंका संयोग होनेपर अनेक रूप हो जानेसे पहचानमें नहीं आता, फिर संयोग दूर होनेपर अपने स्वभावमें बहने लगता है, उसी प्रकार यह चैतन्य-पदार्थ विभाव-अवस्थामें गति, योनि, कुलरूप संसारमें चक्कर लगाया करता है, पीछे अवसर मिलनेपर निजस्वभावको पाकर अनुभवके मार्गमें लगकर कर्म-बन्धनको नष्ट करता है और मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव कर्मका कर्त्ता है (दोहा)

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव ।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यौ सदीव ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—निसिदिन = सदाकाल । तातैं = इससे । भावितकरम = राग-द्वेष-मोह आदि । सदीव = सदैव ।

अर्थः—मिथ्यादृष्टि जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है, इससे वह भावकर्मोंका कर्त्ता है ।

भावार्थः—मिथ्यात्वी जीव अपनी भूलसे पर द्रव्योंको अपना मानता है, जिससे मैंने यह किया, यह लिया, यह दिया इत्यादि अनेक प्रकारके रागादि भाव किया करता है, इससे वह भावकर्मका कर्त्ता होता है ॥ ३२ ॥

मिथ्यात्वी जीव कर्मका कर्त्ता और ज्ञानी अकर्त्ता है। (चौपाई)

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सो जाननहारा ॥
जो करता नहि जानै सोई ।
जानै सो करता नहि होई ॥ ३३ ॥

विकल्पकः परं कर्त्ता विकल्पः कर्म केवलं ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ५० ॥

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—सोई = वही । करतारा = कर्त्ता । जाननहारा = ज्ञाता ।

अर्थः—जो कर्म करे वह कर्त्ता है, और जो जाने सो ज्ञाता है, जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं होता।

भावार्थः—मूढ़ और ज्ञानी दोनों देखनेमें एकसी क्रिया करते हैं, परन्तु दोनोंके भावोंमें बड़ा भेद रहता है। अज्ञानी जीव ममत्वभावके सद्भावमें बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानी ममत्वके अभावमें अबंध रहता है ॥ ३३ ॥

जो ज्ञानी है वह कर्त्ता नहीं है (सोरठा)

ग्यान मिथ्यात न एक, नहि रागादिक ग्यान महि ।
ग्यान करम अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—महि = में । अतिरेक (अतिरिक्त) = भिन्न भिन्न ।

अर्थः—ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं हैं और न ज्ञानमें रागादिभाव होते हैं। ज्ञानसे कर्म भिन्न है, जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है (छप्पय)

करम पिंड अरु रागभाव, मिलि एक होंहि नहि ।
दोऊ भिन्न-सरूप बसहिं, दोऊ न जीवमहि ॥
करमपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ़ भ्रम ।
अलख एक पुग्गल अनंत, किमि धरहि प्रकृति सम ॥

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥५२॥

कर्त्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्त्तरि
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये वत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥५३॥

निज निज विलासजुत जगतमहि,
जथा सहज परिनमहि तिम।
करतार जीव जड़ करमकौ,
मोह-विकल जन कहहि इम ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ:—बसहिं = रहते हैं। महि = में। अलख = आत्मा। किमि = कैसे। प्रकृति = स्वभाव। सम = एकसा। जुत (युत) = सहित। विकल = दुखी।

अर्थ:—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और राग-द्वेष आदि भावकर्म ये दोनों भिन्न भिन्न स्वभाव वाले हैं, मिलकर एक नहीं हो सकते, और न ये जीवके स्वभाव हैं। द्रव्यकर्म पुद्गलरूप हैं और भावकर्म जीवके विभाव हैं। आत्मा एक है और पुद्गलकर्म अनंत हैं, दोनोंकी एकसी प्रकृति कैसे हो सकती है? क्योंकि संसारमें सब द्रव्य अपने अपने स्वभावमें परिणमन करते हैं इसलिये जो मनुष्य जीवको कर्मका कर्त्ता कहते हैं सो केवल मोहकी विकलता है ॥ ३५ ॥

शुद्ध आत्मानुभवका माहात्म्य (छप्पय)

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल।
ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल ॥
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति ॥
जब लगि प्रबोध घटमहि उदित,
तब लगि अनय न पेखिये।
जिमि धरम-राज वरतंत पुर,
जहं तहं नीति परेखिये ॥ ३६ ॥

कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थः—भरम (भ्रम) = अज्ञान। प्रबोध = सम्यग्ज्ञान। उदित = प्रकाशित। अनय = अन्याय। धरम-राज = धर्मयुक्त राज्य। वरतंत = प्रवर्तित। पुर = नगर। परेखिये = दिखाई देती है।

अर्थः—जीव मिथ्याभावको नहीं करता और न रागादि भावमलका धारक है। कर्म पुद्गल हैं और ज्ञान तो ज्ञानरसहीमें लीन रहता है, उसकी जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें स्थिर, गंभीर, धीर, निर्मल ज्योति अत्यन्त जगमगाती है, सो जब तक हृदयमें प्रकाशित रहता है, तब तक मिथ्यात्व नहीं रहता। जैसे कि नगरमें धर्मराज वर्तनेसे जहाँ-तहाँ नीति ही नीति दिखाई देती है, अनीतिका लेश भी नहीं रहता ॥ ३६ ॥

तृतीय अधिकारका सार

करना सो क्रिया, किया जाय सो कर्म, जो करे सो कर्त्ता है। अभिप्राय यह कि जो क्रियाका व्यापार करे अर्थात् काम करनेवालेको कर्त्ता कहते हैं, जिसमें क्रियाका फल रहता है अर्थात् किये हुए कामको कर्म कहते हैं, जो (करतूति) कार्रवाई की जावे उसे क्रिया कहते हैं। जैसे कि कुंभकार कर्त्ता है, घट कर्म है और घट बनानेकी विधि क्रिया है। अथवा ज्ञानीराम आम तोड़ता है, इस वाक्यमें ज्ञानीराम कर्त्ता, आम कर्म और तोड़ना क्रिया है।

स्मरण रहे कि ऊपरके दो दृष्टान्तोंसे जो स्पष्ट किया है वह भेद-विवक्षासे है, क्योंकि कर्त्ता कुंभकार पृथक् पदार्थ है, कर्म घट पृथक् पदार्थ है, घट सृष्टिकी क्रिया पृथक् है। इसी प्रकार दूसरे वाक्यमें ज्ञानीराम कर्त्ता पृथक् है, आम कर्म पृथक् है और तोड़नेकी क्रिया पृथक् है। जैसे भेद-व्यवहारमें कर्त्ता-कर्म-क्रिया भिन्न भिन्न रहते हैं, वैसे अभेद-दृष्टिमें नहीं होते—एक पदार्थमें ही कर्त्ता-कर्म-क्रिया तीनों रहते हैं। जैसे कि "चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहाँ" अर्थात् चिदेश आत्मा कर्त्ता, चैतन्यभाव कर्म और चेतना (जानना) क्रिया है; अथवा मृत्तिका कर्त्ता, घट कर्म और मृत्तिकाका पिंडपर्यायसे घटपर्यायरूप होना क्रिया है। इस अधिकारमें कर्त्ता-कर्म-क्रिया शब्द कहीं भेद-दृष्टिसे और कहीं अभेद-दृष्टिसे आये हैं, सो खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिये।

अज्ञानकी दशामें जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्तिको अपनी मानता है और उनका कर्त्ता आप बनता है, परन्तु खूब ध्यान रहे कि लोकमें अनंत पौद्‌गलिक कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, इन कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी शक्ति है कि आत्माके राग-द्वेषका निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म पुद्‌गलरूप हैं, अचेतन हैं, पुद्‌गल ही इनका कर्त्ता है—आत्मा नहीं है, हाँ, राग-द्वेष-मोह आत्माके विकार हैं। ये आत्म-जनित हैं या पुद्‌गल-जनित हैं इसका बृहद्‌द्रव्यसंग्रहमें बड़ा अच्छा समाधान किया है, वह इस प्रकार है, कि—जैसे संतानको न तो अकेली माताहीसे उत्पन्न कह सकते हैं और न अकेले पितासे उत्पन्न कह सकते हैं, किन्तु दोनोंके संयोगसे संतानकी उत्पत्ति है। उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह न तो अकेला आत्मा उपजाता है और न अकेला पुद्‌गल ही उपजाता है, जीव और पुद्‌गल दोनोंके संयोग राग-द्वेष-मोह भाव-कर्मकी उत्पत्ति है, यदि अकेले पुद्‌गलसे राग-द्वेष उत्पन्न होते तो कलम, कागज, ईंट, पत्थर आदिमें भी राग-द्वेष-मोह पाये जाते, यदि अकेले आत्मासे उत्पन्न होते तो सिद्ध आत्मामें भी राग-द्वेष पाये जाते, अधिक लिखनेसे क्या, राग-द्वेष-मोह पुद्‌गल और आत्मा दोनोंके संयोगसे हैं, जीव-पुद्‌गल परस्पर एक-दूसरेके लिये निमित्त-नैमित्तिक हैं, परन्तु यह ग्रंथ निश्चयनयका है, सो यहाँ राग-द्वेष-मोहको पुद्‌गलजनित बतलाया है, ये आत्माके निजस्वरूप नहीं हैं, इसी प्रकार शुभाशुभ क्रिया पौद्‌गलिक कर्मोंके उदयसे जीवमें होती है, अतः क्रिया भी पुद्‌गलजनित है। सारांश यह कि शुभाशुभ कर्म वा शुभाशुभ क्रियाको आत्माका मानना और उन दोनोंका कर्त्ता जीवको ठहराना अज्ञान है। आत्मा तो अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रियाका कर्त्ता है, और पुद्‌गल कर्मोंका कर्त्ता पुद्‌गल ही है। मिथ्यात्वके उदयसे जीव साता-असाता आदि कर्म और दया दान पूजा वा विषय-कषाय आदि शुभाशुभ क्रियामें अहंबुद्धि करता है कि मेरे कर्म हैं, मेरी क्रिया है, यह मिथ्याभाव है, बंधका कारण है, बंध-परम्पराको बढ़ाता है, और शुभाशुभ क्रियामें अहंबुद्धि नहीं करना अर्थात् अपनी नहीं मानना, और उनमें तन्मय नहीं होना सम्यक् स्वभाव है—निर्जराका कारण है।

पुण्य पाप एकत्व द्वार

(४)

प्रतिज्ञा (दोहा)

करता किरिया करमकौ, प्रगट बखान्यौ मूल ।
अब बरनौं अधिकार यह, पाप पुन्न समतूल ॥ १ ॥

शब्दार्थः—प्रगट = स्पष्ट । बखान्यौ = वर्णन किया । बरनौं = कहता हूँ । समतूल = समानता ।

अर्थः—कर्त्ता क्रिया और कर्मका स्पष्ट रहस्य वर्णन किया । अब पाप-पुण्यकी समानताका अधिकार कहते हैं ।

मंगलाचरण (कवित्त मात्रिक)

जाके उदै होत घट-अंतर,
बिनसै मोह-महातम-रोक ।
सुभ अरु असुभ करमकी दुविधा,
मिटै सहज दीसै इक थोक ॥
जाकी कला होत संपूरन,
प्रतिभासै सब लोक अलोक ।
सो प्रबोध-ससि निरखि बनारसि,
सीस नवाइ देत पग धोक ॥ २ ॥

शब्दार्थः—मोह-महातम = मोहरूपी घोर अंधकार । दुविधा = भेद । इक थोक = एक ही । प्रबोध-ससि = केवलज्ञानरूप चन्द्रमा । पग धोक = चरणवन्दना ।

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १ ॥

अर्थः—जिसके उदय होनेपर हृदयसे मोहरूपी महा अंधकार नष्ट हो जाता है, और शुभकर्म अच्छा है वा अशुभकर्म बुरा है, यह भेद मिटकर दोनों एकसे भासने लगते हैं, जिसकी पूर्ण कलाके प्रकाशमें लोक-अलोक सब झलकने लगते हैं; उस केवलज्ञानरूप चन्द्रमाका अवलोकन करके पं० बनारसीदासजी मस्तक नवाकर वन्दना करते हैं ॥ २ ॥

पुण्य-पापकी समानता (सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बांभनकै एक घर राख्यौ है ।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है ॥
तैसैं एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है ।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—जुगल = दो । बांभन = ब्राह्मण । भिन्न = जुदे । भाख्यौ = कहा । दौर धूप = भटकना । अभिलाख्यौ = चाहा ।

अर्थः—जैसे किसी चांडालनीके दो पुत्र हुए, उनमेंसे उसने एक पुत्र ब्राह्मणको दिया और एक अपने घरमें रक्खा । जो ब्राह्मणको दिया वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-मांसका त्यागी हुआ, पर जो घरमें रहा वह चांडाल कहलाया और मद्य-मांसभक्षी हुआ । उसी प्रकार एक वेदनीय कर्मके पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नाम वाले दो पुत्र हैं, सो दोनोंमें संसारकी भटकना है और दोनों बंध-परंपराको बढ़ाते हैं इससे ज्ञानी लोग दोनोंहीकी अभिलाषा नहीं करते ।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ २ ॥

भावार्थ :— जिस प्रकार पापकर्म बंधन है तथा संसारमें भ्रमानेवाला है, उसी प्रकार पुण्य भी बंधन है, और उसका विपाक संसार ही है, इसलिये दोनों एकहीसे हैं, पुण्य सोनेकी बेड़ीके समान और पाप लोहेकी बेड़ीके समान है, पर दोनों बंधन हैं ॥ ३ ॥

पाप-पुण्यकी समानतामें शिष्यकी शंका (चौपाई)

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं ।
पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं ॥
कारन रस सुभाव फल न्यारे ।
एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ:—गुरु पांही = गुरुके पास । रस = स्वाद, विपाक । अनिष्ट = अप्रिय ।

अर्थ:—श्रीगुरुके समीप कोई शिष्य कहता है कि, पाप और पुण्य दोनों समान नहीं है, क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव तथा फल चारों ही जुदे जुदे हैं । एकके (कारण, रस, स्वभाव, फल) अप्रिय और एकके प्रिय लगते हैं ॥ ४ ॥ पुनः

(सवैया इकतीसा)

संकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानीयै ।
पापके उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै ॥
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूंकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै ।
पापसौं कुगति होइ पुन्नसौं सुगति होइ,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै ॥ ५ ॥

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—संकलेस = तीव्र कषाय। विसुद्ध = मंद कषाय। असाता = दुख। कटुक = कड़वा। साता = सुख। परतच्छि (प्रत्यक्ष) साक्षात्।

अर्थः—संक्लिष्ट भावोंसे पाप और निर्मल भावोंसे पुण्यबंध होता है, इस प्रकार दोनोंके बंधमें कारण-भेद है। पापका उदय असाता है, जिसका स्वाद कड़ुवा है और पुण्यका उदय साता है, जिसका स्वाद मधुर है, इस प्रकार दोनोंके स्वादमें अंतर है। पापका स्वभाव तीव्र कषाय और पुण्यका स्वभाव मंद कषाय है, इस प्रकार दोनोंके स्वभावमें भेद है। पापसे कुगति और पुण्यसे सुगति होती है, इस प्रकार दोनोंमें फल-भेद प्रत्यक्ष जान पड़ता है॥ ५॥

शिष्यकी शंकाका समाधान (सवैया इकतीसा)

पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजालमैं विसेखिए॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमैं न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारगमैं देखिए॥ ६॥

शब्दार्थः—मुकति (मुक्ति) = मोक्ष। मधुर = मिष्ट। तोहि = तुझे। सूझत = दिखते। द्वैत = दुविधा। दुहूंकौ = दोनोंका।

अर्थः—पापबंध और पुण्यबंध दोनों मुक्तिमार्गमें बाधक हैं, इससे दोनों ही समान हैं, इनके कटु और मिष्ट स्वाद पुद्गलके हैं इसलिये दोनोंके रस भी समान हैं, संक्लेश और विशुद्ध भाव दोनों विभाव हैं इसलिये दोनोंके भाव भी समान हैं, कुगति और सुगति दोनों संसारमय हैं, इससे दोनोंका फल भी समान है। दोनोंके कारण, रस, स्वभाव और फलमें तुझे अज्ञानसे भेद दिखता है, परन्तु ज्ञानदृष्टिसे दोनोंमें कुछ अंतर नहीं है—दोनों आत्मस्वरूपको भुलानेवाले हैं,

इसलिये महा अंधकूप हैं, और दोनों ही कर्मबंधरूप हैं, इससे मोक्षमार्गमें इन दोनोंका त्याग कहा है ॥ ६ ॥

मोक्षमार्गमें शुद्धोपयोग ही उपादेय है (सवैया इकतीसा)

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरममैं करम त्याग-जोग है।
भौ-जल-तरैया रागद्वेषकौ हरैया महा,
मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है॥ ७॥

शब्दार्थः—सील (शील) = ब्रह्मचर्य। तप = इच्छाओंका रोकना। संजम (संयम) = छह कायके जीवोंकी रक्षा और इन्द्रियों तथा मनको वशमें करना। विरति (व्रत) = हिंसादि पांच पापोंका त्याग। असंजम = छह कायके जीवोंकी हिंसा और इन्द्रियों तथा मनकी स्वतंत्रता। भौ (भव) = संसार। सुद्ध उपयोग = वीतराग परिणति।

अर्थः—ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ हैं, सो आत्मस्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। भगवान वीतरागदेवने दोनोंको बंधकी परिपाटी बतलाया है, आत्मस्वभावकी प्राप्तिमें दोनों त्याज्य हैं। एक शुद्धोपयोग ही संसार-समुद्रसे तारनेवाला, रागद्वेष नष्ट करनेवाला और परमपदका देनेवाला है ॥ ७ ॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ ४॥

2-2-74

शिष्य-गुरुका प्रश्नोत्तर (सवैया इकतीसा)

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है॥
कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलंब उनहीकौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
और दौर धूप पुदगल परछांही है॥ ८॥

शब्दार्थः—संसै (संशय) = सन्देह। देसविरती = श्रावक। मुनीस = साधु। निरावलंब = निराधार। समाधि = ध्यान।

अर्थः—शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ-अशुभ क्रियाका निषेध किया सो मेरे मनमें सन्देह है, क्योंकि मोक्षमार्गी ज्ञानी अणुव्रती श्रावक वा महाव्रती मुनि तो निरावलंब नहीं होते अर्थात् दान, समिति, संयम आदि शुभ-क्रिया करते ही हैं। इसपर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि कर्म-निर्जरा अनुभवके अभ्याससे है, सो वे अपने ही ज्ञानमें स्वात्मानुभव करते हैं, राग-द्वेष-मोह रहित निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्षरूप है, इसके बिना और सब भटकना पुद्गल जनित है।

भावार्थः—शुभक्रिया समिति व्रत आदि आस्रव ही हैं, इनसे साधु वा श्रावककी कर्म-निर्जरा नहीं होती, निर्जरा तो आत्मानुभवसे होती है[1]॥ ८॥

---

[1] 'येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ इत्यादि (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परममसृतं तत्र निरताः॥५॥

मुनि श्रावककी दशामें बंध और मोक्ष दोनों हैं (सवैया तेईसा)

मोख सरूप सदा चिनमूरति,
बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहां चेतन,
तावत सो रस रीति गही है॥
आतमकौ अनुभौ जबलौं,
तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत,
बंध विथा तब फैल रही है॥ ९॥

शब्दार्थः—चिन्मूरति = आत्मा। करतूति = शुभाशुभ विभाव परिणति। जावत काल = जितने समय तक। तावत = तब तक। निबही = रहती है। अंध = अज्ञानी। विथा (व्यथा) = दुःख।

अर्थः—आत्मा सदैव शुद्ध अर्थात् अबंध है और क्रिया बंधमय कही है, सो जितने समय तक जीव जिसमें (स्वरूप वा क्रियामें) रहता है उतने समय तक उसका स्वाद लेता है, अर्थात् जब तक आत्म-अनुभव रहता है तब तक अबंध-दशा रहती है, परन्तु जब स्वरूपसे चिगकर क्रियामें लगता है तब बंधका प्रपंच बढ़ता है॥ ९॥

मोक्षकी प्राप्ति अंतर्दृष्टिसे है (सोरठा)

अंतर-दृष्टि-लखाउ, निज सरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा॥ १०॥

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं॥ ६॥

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥ ७॥

शब्दार्थः—अंतर-दृष्टि = अंतरंग ज्ञान। स्वरूपकौ आचरण = स्वरूपमें स्थिरता। भाउ = स्वभाव।

अर्थः—अंतरंग ज्ञानदृष्टि और आत्म-स्वरूपमें स्थिरता यह परमात्माका स्वभाव है और यही मोक्षका उपाय है।

भावार्थः—सम्यक्त्व सहित ज्ञान और चारित्र परमेश्वरका स्वभाव है और यही परमेश्वर बननेका उपाय है॥ १० ॥

बाह्यदृष्टिसे मोक्ष नहीं है (सोरठा)

करम सुभासुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए॥ ११ ॥

शब्दार्थः—सुभासुभ = भले-बुरे। विभाव = विकार। मल = कलंक।

अर्थः—शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म मल हैं, पुद्गलपिण्ड हैं, आत्माके विभाव हैं, इनसे मोक्ष नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं पा सकता है॥ ११ ॥

इसपर शिष्य-गुरुका प्रश्नोतर (सवैया इकतीसा)

कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यौं न वरनी।
गुरु कहै जबलौं क्रियाके परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी॥
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथकी कतरनी।
बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी॥ १२ ॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥८॥

मोक्षहेतुतिरोधानद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायि भावत्वात्तन्निषिध्यते॥९॥

शब्दार्थः—असुभ क्रिया = पाप। सुभ क्रिया = पुण्य। क्रिया = शुभाशुभ परिणति। चपल = चंचल। उपयोग = ज्ञान दर्शन। कतरनी = कैंची। निसिद्ध = वर्जित। करनी = क्रिया।

अर्थः—कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! आपने अशुभ क्रियाको अशुद्ध और शुभ क्रियाको शुद्ध क्यों न कहा? इसपर श्रीगुरु कहते हैं कि, जब तक शुभ-अशुभ क्रियाके परिणाम रहते हैं तब तक ज्ञान-दर्शन उपयोग और मन-वचन-कायके योग चंचल रहते हैं तथा जब तक ये स्थिर न होवें तब तक शुद्ध अनुभव नहीं होता। इससे दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्गमें बाधक हैं, दोनों ही बंध उपजाने वाली हैं, दोनोंमेंसे कोई अच्छी नहीं है। दोनों मोक्षमार्गमें बाधक हैं, ऐसा विचार कर मैंने क्रियाका निषेध किया है॥ १२॥

ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है (सवैया इकतीसा)

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब,
आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोख मारगसौं चुक्यौ है॥
सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगटयौ ग्यान,
उरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारन सरूप ह्वैके कारजकौं ढुक्यौ है॥ १३॥

शब्दार्थः—साधक = सिद्धि करनेवाला। लुक्यो = छिपा। चुक्यौ (चूकौ) = भूला। ऊरध (ऊर्ध्व) = ऊपर। उमंगि = उत्साह पूर्वक। आरसी = दर्पण। ढुक्यौ = बढ़ा।

अर्थः—मुक्तिके साधक आत्माको सब कर्म बाधक हैं, आत्मा अनादिकालसे कर्मोंमें छुपा हुआ है, इतनेपर भी जो पापको बुरा और पुण्यको भला कहता है

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥ १०॥

वही महामूर्ख मोक्षमार्गसे विमुख है । जब जीवको सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान प्रगट होता है तब वह अनिवार्य उन्नति करता है । पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह ज्ञान दर्पणके समान उज्ज्वल स्वयं कारणस्वरूप होकर कार्यमें परिणत होता है अर्थात् सिद्धपद प्राप्त करता है ।

भावार्थः—विशुद्धतापूर्वक बढ़ा हुआ ज्ञान किसीका रोका नहीं रुकता बढ़ता ही जाता है, सो पूर्व अवस्थामें जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह कारणरूप था, वही कार्यरूप परिणमन करके सिद्धस्वरूप होता है ।। १३ ।।

ज्ञान और शुभाशुभ कर्मोंका ब्यौरा (सवैया इकतीसा)

जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामैं धारा दोइ बरनी ।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी ।।
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी ।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी ।। १४ ।।

शब्दार्थः—सरवथा (सर्वथा) = बिलकुल । बरनी = वर्तती हैं । धरनी = सत्ता । पराधीन = दूसरेके आश्रित । विविध = भाँति भाँतिके । भौ (भव) = संसार । तरनी = नौका ।

अर्थः—जब तक आठों कर्म बिलकुल नष्ट नहीं होते तब तक सम्यग्दृष्टिमें ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा दोनों वर्तती हैं । दोनों धाराओंका जुदा जुदा स्वभाव और जुदी जुदी सत्ता है । विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बंधरूप है, आत्मशक्तिको पराधीन करती है तथा अनेक प्रकार बंध बढ़ाती है; और ज्ञानधारा मोक्ष-

---

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्‌ न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११ ॥

स्वरूप है, मोक्षकी दाता है, दोषोंको हटाती है, तथा संसार-सागरसे तारनेके लिये नौकाके समान है ॥ १४ ॥

यथायोग्य कर्म और ज्ञानसे मोक्ष है (सवैया इकतीसा)

समुझें न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं ।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूड़े हैं चहलमैं ॥
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं ।
तेई भव सागरके ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—विकल = बेचैन । गहल = पागलपन । सुछंद = मनमाने । चहल = कीचड़ । सावधान = सचेत । टहल = सेवा । महल = मंदिर ।

अर्थः—जो ज्ञानमें नहीं समझते और कर्मसे ही मोक्ष मानते हैं ऐसे क्रियावादी जीव मिथ्यात्वके झकोरोंसे बेचैन रहते हैं। और सांख्यवादी जो सिर्फ ज्ञानका पक्ष पकड़के आत्माको सदा अबंध कहते हैं—तथा मनमाने वर्तते हैं वे भी संसारकी कीचड़में फँसते हैं। पर जो स्याद्वाद-मंदिरके निवासी हैं वे अपने पदस्थके अनुसार कर्म करते हैं और ज्ञान-ध्यानकी सेवामें .सावधान रहते हैं वे ही संसार सागरसे तरते हैं ॥ १५ ॥

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥ १२ ॥

मूढ़ क्रिया तथा विचक्षण क्रियाका वर्णन (सवैया इकतीसा)

जैसैं मतवारौ कोऊ कहै और करै और,
तैसैं मूढ़ प्रानी विपरीतता धरतु है।
असुभ करम बंध कारन वखानै मानै,
मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है॥
अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई,
ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है।
करनीसौं भिन्न रहै आतम-सुरूप गहै,
अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है॥ १६॥

शब्दार्थः—मतवारौ = नशेमें उन्मत्त। मूढ़ प्रानी = अज्ञानी जीव। वखानै = कहे। मानै = श्रद्धान करे। बिसर गई = दूर होगई। उदोत = प्रकाश।

अर्थः—जैसे कोई पागल मनुष्य कुछ कहता और कुछ करता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीवमें विपरीतभाव रहता है, वह अशुभ कर्मको बंधका कारण समझता है और मुक्तिके लिये शुभ आचरण करता है। पर सच्चा श्रद्धान होनेपर अज्ञान नष्ट होनेसे ज्ञानका प्रकाश मिथ्या-अंधकारको दूर करता है और क्रियासे विरक्त होकर आत्मस्वरूपको ग्रहण करके अनुभव धारण कर परमरसमें आनंद करता है॥ १६॥

मेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण॥ १३॥

इति पुण्य-पापाधिकारः॥ ४॥

* * *

चौथे अधिकारका सार

जिसका बंध विशुद्ध भावोंसे होता है वह पुण्य और जिसका बंध संक्लिष्ट भावोंसे होता है वह पाप है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषतारहित भाव, अरहंत आदि पंच परमेष्ठीकी भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान, मंदकषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्यबंधके कारण हैं और साता, शुभ आयु, ऊंच गोत्र, देवगति आदि शुभ नाम पुण्यकर्म हैं। प्रमाद सहित प्रवृत्ति, चित्तकी कलुषता, विषयोंकी लोलुपता, दूसरोंको संताप देना, दूसरोंका अपवाद करना, आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, चारों संज्ञा, तीनों कुज्ञान, आर्त रौद्र ध्यान, मिथ्यात्व, अप्रशस्त राग, द्वेष, अव्रत, असंयम, वहुत आरंभ, दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, योग वक्रता, आत्मप्रशंसा, मूढ़ता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संक्लिष्ट भाव हैं—पाप-बंधके कारण हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असाता, मोहनीय, नर्क आयु, पशु गति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अंतराय आदि पापकर्म हैं।

अशुभ परिणति और शुभ परिणति दोनों आत्माके विभाव हैं, दोनों ही आस्रव–बंधरूप हैं, संवर-निर्जराके कारण नहीं हैं, इसलिये दोनों ही मुक्तिमार्गमें घातक होनेसे पाप और पुण्य दोनों एक ही हैं। यद्यपि दोनोंके कारण रस, स्वभाव, फलमें अंतर है तथा पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय लगता है, तो भी सोनेकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ीके समान दोनों ही जीवको संसारमें संसरण करानेवाले हैं। एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है, शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है, इससे मोक्षमार्गमें दोनोंकी सराहना नहीं है। दोनों ही हेय हैं, दोनों आत्माके विभावभाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, दोनों पुद्गलजनित हैं, आत्मजनित नहीं हैं, इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मामें स्वभाव, विभाव दो प्रकारकी परिणति होती है, स्वभाव परिणति तो वीतरागभाव है और विभाव परिणति राग-द्वेषरूप है। इन राग और द्वेषमेंसे द्वेष तो सर्वथा पापरूप है, परंतु राग प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है, सो प्रशस्त राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके पहले स्वभावभावका उदय ही नहीं होता, अतः मिथ्यात्वकी दशामें जीवकी शुभ वा अशुभरूप विभाव परिणति ही रहती है, सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हुए पीछे कर्मका

सर्वथा अभाव होने तक स्वभाव और विभाव दोनों परिणति रहती हैं, सो स्वभाव परिणति संवर–निर्जरा और मोक्षकी जननी रहती है, और विभाव परिणति बंधहीको उत्पन्न करती है। इसका खुलासा इसप्रकार है कि "जावत शुद्धोपयोग पावत नहीं मनोग, तावत ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी" की रीतिसे सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि, पाप परिणतिसे बचकर शुभोपयोगका अवलंबन लेते हैं और शुभ परिणति उन्हें आस्रव ही उपजाती है। उन्हें जो गुणश्रेणिरूप निर्जरा होती है वह शुद्धोपयोगके बलसे होती है, शुभोपयोग तो आस्रव ही करता है। भाव यह कि, जितने अंश राग है उतने अंश बंध है, और जितने अंश ज्ञान और निश्चयचारित्र है उतने अंश बंध नहीं है, इसलिये पुण्यको भी पापके समान हेय जानकर शुद्धोपयोगकी शरण लेना चाहिये।

आस्रव अधिकार

(५)

प्रतिज्ञा (दोहा)

पाप पुन्नकी एकता, वरनी अगम[1] अनूप।
अब आस्रव अधिकार कछु, कहौं अध्यातम रूप॥ १॥

शब्दार्थः—अगम = गहन। अनूप = उपमा रहित।

अर्थः—पाप-पुण्यकी एकताका गहन और अनुपम अधिकार वर्णन किया, अब आस्रव अधिकारका आध्यात्मिक रीतिसे कुछ वर्णन करता हूँ॥ १॥

सम्यग्ज्ञानको नमस्कार (सवैया इकतीसा)

जेते जगवासी जीव थावर जंगमरूप,
तेते निज बस करि राखे बल तोरिकैं।
महा अभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ मोरिकैं॥
आयौ तिहि थानक अचानक परम धाम,
ग्यान नाम सुभट सवायौ बल फोरिकैं।
आस्रव पछारयौ रन-थंभ तोरि डारयौ ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरिकैं॥ २॥

शब्दार्थः—थावर (स्थावर) = एकेंद्रिय। जंगम = द्वि इन्द्रिय आदि। अभिमानी = घमंडी। अगाध = अपरिमित। रोपि = खड़ा करकें। रन-थंभ = युद्धका झण्डा। थानक = स्थान। अचानक = अकस्मात्। सुभट = योद्धा। फोरिकैं = जाग्रत करके। निरखि = देखकर।

---

[1] 'आगमरूप' ऐसा भी पाठ है।

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररङ्गपरागतमास्रवं।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः॥ १॥

अर्थः—जिसने संसारके सब त्रस–स्थावर जीवोंको बलहीन करके अपने आधीन किया है, ऐसा बड़ा अभिमानी आस्रवरूप महायोद्धा मूछ मरोड़कर लड़ाईका झण्डा स्थापित करके खड़ा हुआ। इतनेमें वहाँ अचानक ही ज्ञान नामक महायोद्धा सवाया बल स्फुरित करके आया तो उसने आस्रवको पछाड़ डाला और रणथंभको तोड़ डाला। ऐसे ज्ञानरूपी योद्धाको देखकर पं० बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

द्रव्यास्रव, भावास्रव और सम्यग्ज्ञानका लक्षण (सवैया तेईसा)

दर्वित आस्रव सो कहिए जहं,
पुग्गल जीवप्रदेस गरासै।
भावित आस्रव सो कहिए जहं,
राग विरोध विमोह विकासै॥
सम्यक पद्धति सो कहिए जहं,
दर्वित भावित आस्रव नासै।
ग्यान कला प्रगटै तिहि थानक,
अंतर बाहिर और न भासै॥ ३॥

शब्दार्थः—दर्वित आस्रव = पुद्गल परमाणुओंका आगमन। गरासै = घेर लेवे। भावित आस्रव = द्रव्य आस्रवमें कारणभूत आत्माकी विभाव परिणति। पद्धति = चाल। ग्यान कला = ज्ञानज्योति।

अर्थः—आत्मप्रदेशोंपर पुद्गलका आगमन सो द्रव्यास्रव है, जीवके राग–द्वेष–मोहरूप परिणाम भावास्रव है, द्रव्यास्रव और भावास्रवका अभाव आत्माका सम्यक् स्वरूप है। जहाँ ज्ञानकला प्रगट होती है वहाँ अंतरंग और बहिरंगमें ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं दिखता ॥ ३ ॥

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥ २ ॥

ज्ञाता निरास्रवी है (चौपाई)

जो दरवास्रव रूप न होई।
जहं भावास्रव भाव न कोई॥
जाकी दसा ग्यानमय लहिए।
सो ग्यातार निरास्रव कहिए॥ ४॥

शब्दार्थः—दसा = अवस्था। ग्यातार = ज्ञानी। निरास्रव = आस्रव रहित।

अर्थः—जो द्रव्यास्रवरूप नहीं होता और जहाँ भावास्रव भाव भी नहीं है और जिसकी अवस्था ज्ञानमय है वही ज्ञानी आस्रव रहित कहाता है॥ ४॥

सम्यग्ज्ञानी निरास्रव रहता है (सवैया इकतीसा)

जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि-पूरवक,
तिह परिनामनकी मतता हरतु है।
मनसौं अगोचर अबुद्धि-पूरवक भाव,
तिनके विनासिवेकौं उद्दिम धरतु है॥
याही भांति पर परनतिकौ पतन करै,
मोखकौ जतन करै भौ-जल तरतु है।
ऐसे ग्यानवंत ते निरास्रव कहावैं सदा,
जिन्हिकौ सुजस सुविचच्छन करतु है॥ ५॥

शब्दार्थः—मनगोचर = जहाँ तक मनकी पहुँच है। मनसौं अगोचर = जहाँ

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव॥ ३॥

सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम्
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा॥ ४॥

मनकी पहुँच नहीं है। उद्दिम = उद्योग। पतन = नाश। जतन = उपाय। भौ-जल (भवजल) = संसार-सागर। सुविचच्छन = पंडित।

अर्थः—जिन्हें मन जान सके ऐसे बुद्धिग्राही अशुद्ध परिणामोंमें आत्म-बुद्धि नहीं करता और मनके अगोचर अर्थात् बुद्धिके अग्राह्य अशुद्ध भाव नहीं होने देनेमें सावधान रहता है; इसप्रकार पर-परिणति नष्ट करके और मोक्षमार्गमें प्रयत्न करके जो संसार-सागरसे तरता है वह सम्यग्ज्ञानी निरास्रवी कहलाता है, उसकी विद्वान् लोग सदा प्रशंसा करते हैं।

भावार्थः—वर्तमान कालके अशुद्ध परिणामोंमें आत्मबुद्धि नहीं करता और भूतकालमें हुए रागादि परिणामोंको अपने नहीं मानता वा आगामी कालमें होनेवाले विभाव मेरे नहीं हैं ऐसा श्रद्धान होनेसे ज्ञानी जीव सदा निरास्रव रहते हैं ॥ ५ ॥

शिष्यका प्रश्न (सवैया तेईसा)

ज्यौं जगमैं विचरै मतिमंद,
सुछंद सदा वरतै बुध तैसो।
चंचल चित्त असंजित वैन,
सरीर-सनेह जथावत जैसो॥
भोग संजोग परिग्रह संग्रह,
मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारजसौं यह,
सम्यकवंत निरास्रव कैसो॥ ६ ॥

शब्दार्थः—विचरै = वर्ताव करे। सुछंद (स्वच्छन्द) = मनमाना। बुध = ज्ञानी। वैन = वचन। सनेह (स्नेह) = मुहब्बत। संग्रह = इकट्ठे करना।

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥ ५ ॥

अर्थः—शिष्य गुरुसे प्रश्न करता है कि हे स्वामी! संसारमें जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव स्वतंत्र वर्तता है वैसी ही तो सम्यग्दृष्टि जीवकी हमेशा प्रवृत्ति रहती है–दोनोंके चित्तकी चंचलता, असंयत वचन, शरीरका स्नेह, भोगका संयोग, परिग्रहका संचय और मोहका विकास एकसा होता है। फिर सम्यग्दृष्टि जीव किस कारणसे आस्रव रहित है? ॥ ६ ॥

शिष्यकी शंकाका समाधान (सवैया इकतीसा)

पूरव अवस्था जे करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई सुभ साता केई असुभ असातारूप,
दुहूंसौं न राग न विरोध समचेत हैं॥
जथाजोग क्रिया करैं फलकी न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकतिकौ बिरद गहि लेत हैं।
यातैं ग्यानवंतकौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धतासौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं॥ ७॥

शब्दार्थः—अवस्था = पर्याय। जथाजोग = जैसी चाहिये वैसी, अपने पदके योग्य। समचेत = समता भाव। बिरद = यश। मुद्धता = मिथ्यात्व। समेत = सहित।

अर्थः—पूर्वकालमें अज्ञान अवस्थामें जो कर्म बंध किये थे वे अब उदयमें आकर फल देते हैं, उनमें अनेक तो शुभ हैं जो सुखदायक हैं और अनेक अशुभ हैं जो दुःखदायक हैं, सो सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों भाँतिके कर्मोंदयमें हर्ष-विषाद नहीं करते–समताभाव रखते हैं। वे अपने पदके योग्य क्रिया करते हैं, पर उसके फलकी आशा नहीं करते, संसारी होते हुए भी मुक्त कहलाते हैं, क्योंकि सिद्धोंके

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः॥ ६ ॥

समान देह आदिसे अलिप्त हैं, वे मिथ्यात्वसे रहित अनुभव सहित हैं, इससे ज्ञानियोंको कोई आस्रव सहित नहीं कहता है ॥ ७ ॥

राग-द्वेष-मोह और ज्ञानका लक्षण

(दोहा)

जो हितभाव सु राग है, अनहितभाव विरोध ।
भ्रामिक भाव विमोह है, निरमल भाव सु बोध ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—भ्रामिक = पर द्रव्यमें अहंबुद्धि । निर्मल = विकार रहित । बोध = ज्ञान ।

अर्थः—प्रेमका भाव राग, घृणाका भाव द्वेष, परद्रव्यमें अहंबुद्धिका भाव मोह और तीनोंसे रहित निर्विकारभाव सम्यग्ज्ञान है ॥ ८ ॥

राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं

(दोहा)

राग विरोध विमोह मल, एई आस्रवमूल ।
एई करम बढ़ाईकैं, करैं धरमकी भूल ॥ ९ ॥

अर्थः—राग-द्वेष-मोह ये तीनों आत्माके विकार हैं, आस्रवके कारण हैं और कर्मबंध करके आत्माके स्वरूपको भुलाने वाले हैं ॥ ९ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है

(दोहा)

जहां न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम ।
यातें सम्यकवंतकौ, कह्यौ निरास्रव नाम ॥ १० ॥

अर्थः—जहां राग-द्वेष-मोह नहीं हैं वह सम्यक्त्वभाव है, इसीसे सम्यग्दृष्टिको आस्रव रहित कहा है ॥ १० ॥

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ ७ ॥

निरास्रवी जीवोंका आनन्द (सवैया इकतीसा)

जे केई निकटभव्यरासी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ग्यान भाव परिनए हैं ।
जिन्हिकी सुदृष्टिमैं न राग द्वेष मोह कहूं,
विमल विलोकनिमैं तीनौं जीति लए हैं ॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग,
सुद्ध उपयोगकी दसामैं मिलि गए हैं ।
तेई बंधपद्धति विदारि परसंग डारि,
आपमैं मगन ह्वैकै आपरूप भए हैं ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—सुदृष्टि = सच्चा श्रद्धान । विमल = उज्ज्वल । विलोकनि = श्रद्धान । परमाद = असावधानी । घट = हृदय । सोधि = शुद्ध करके । सुद्ध उपयोग = वीतराग-परणति । विदारि = हटाकर ।

अर्थः—जो कोई निकट भव्यराशि संसारी जीव मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यग्भाव ग्रहण करते हैं, जिन्होंने निर्मल श्रद्धानसे राग-द्वेष-मोह तीनोंको जीत लिया है और जो प्रमादको हटाकर, चित्तको शुद्ध करके, योगोंका निग्रह कर शुद्ध-उपयोगमें लीन हो जाते हैं, वे ही बन्ध-परंपराको नष्ट करके पर वस्तुका सम्बन्ध छोड़कर, अपने रूपमें मग्न होकर निज-स्वरूपको प्राप्त होते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं ॥ ११ ॥

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥ ८ ॥

उपशम तथा क्षयोपशम भावोंकी अस्थिरता (सवैया इकतीसा)

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्हकी अवस्था ज्यौं लुहारकी संडासी है।
खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसैं एऊ,
खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है॥
जौलैं ग्यान रहै तौलैं सिथिल चरन मोह,
जैसैं कीले नागकी सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करै,
ज्यौं उकीले नागकी सकति परगासी है॥ १२॥

शब्दार्थ:—पंडित = सम्यग्दृष्टि। खयोपसमी = क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि। उपसमी = उपशम सम्यग्दृष्टि। एऊ = वे। खिन (क्षण) = यहां क्षणसे अंतर्मुहूर्तका प्रयोजन है। सिथिल = कमजोर। कीले = मंत्र वा जड़ीसे बाँधे हुए। नाग = सर्प। उकीले = मंत्र-बंधनसे मुक्त। सकति (शक्ति) = बल। परगासी (प्रकाशी) = प्रगट की।

अर्थ:—जिस प्रकार लुहारकी सँडासी कभी अग्निमें तप्त और कभी पानीमें शीतल होती है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवोंकी दशा है अर्थात् कभी मिथ्यात्वभाव प्रगट होता है और कभी ज्ञानकी ज्योति जगमगाती है। जब तक ज्ञान रहता है तब तक चारित्रमोहनीयकी शक्ति और गति कीले हुए सर्पके समान शिथिल रहती है, और जब मिथ्यात्व रस देता है तब वह उकीले हुए सर्पकी प्रगट हुई शक्ति और गतिके समान अनंत कर्मोंका बंध बढ़ाता है।

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥ ९॥

विशेषः—[1]उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट व जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और [2]क्षयोपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल [3]छियासठ सागर और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है। ये दोनों सम्यक्त्व नियमसे नष्ट ही होते हैं, सो जब तक सम्यक्त्व-भाव रहता है तब तक आत्मा एक विलक्षण शान्ति और आनंदका अनुभव करता है और जब सम्यक्त्वभाव नष्ट होनेसे मिथ्यात्वका उदय होता है तब आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर कर्म-परंपराको बढ़ाता है ॥ १२ ॥

अशुद्ध नयसे बन्ध और शुद्ध नयसे मुक्ति है (दोहा)

यह निचोर या ग्रंथकौ, यहै परम रसपोख ।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—निचोर = सार। पोखं = पोषक। गहै = ग्रहणकरनेसे। मोख = मोक्ष।

अर्थः—इस शास्त्रमें सार बात यही है और यही परम तत्त्वकी पोषक है कि शुद्धनयकी रीति छोड़नेसे बन्ध और शुद्धनयकी रीति ग्रहण करनेसे मोक्ष होता है ॥ १३ ॥

जीवकी बाह्य तथा अन्तरंग अवस्था (सवैया इकतीसा)

करमके चक्रमैं फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता ।
अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई,
पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता ॥

इदमेवात्र तात्पर्य्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि ॥ १० ॥

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिम्
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥ ११ ॥

---

[1] अनंतानुबन्धीकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन, इन सात प्रकृतियोंका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। [2] अनन्तानुबन्धीकी चौकड़ी और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंका अनोदय और सम्यक् प्रकृतिका उदय रहते क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। [3] अनंत संसारकी अपेक्षा यह काल भी थोड़ा है।

सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
भ्रमभाव छांड़ि दीनौ भीनौ चित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ,
पद अवलंबि अवलोकै राम रमता ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—बहिरमुख = शरीर विषय भोग आदि बाह्य वस्तुओंका ग्राहक। विषमता = अशुद्धता। सुमति = सम्यग्ज्ञान। भीनौ = लीन।

अर्थः—संसारी जीव कर्मके चक्करमें भटकता हुआ मिथ्यात्वी हो रहा और उसे अशुद्धताने घेर रक्खा है। जब अन्तरंगमें ज्ञान उपजा, निर्मल प्रभुता प्राप्त हुई, शरीर आदिसे स्नेह हटा, राग-द्वेष-मोह छूटा, समता-रसका स्वाद मिला, शुद्धनयका सहारा लिया, अनुभवका अभ्यास हुआ, पर्यायमें अहंबुद्धि नष्ट हुई तब अपने आत्माका अनादि, अनंत, निर्विकल्प, नित्यपद अवलम्बन करके आत्मस्वरूपको देखता है ॥ १४ ॥

शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है (सवैया इकतीसा)

जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह,
आस्रव मिटत नहि बंधकौ तरस है।
तिहूं काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप,
आपहूं अनंत सत्ता नंततैं सरस है॥
भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करै न जहां वानीकौ परस है।
अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम,
चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक दरस है॥ १५॥

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२॥

इत्यास्रवअधिकारः ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—परगास = प्रकाश, उजेला। तरस (त्रास) = कष्ट। प्रतिबिंबित = झलकते हैं। वानी = वचन। परस (स्पर्श) = पहुँच। अतुल = अनुपम।

अर्थः—जिसके उजालेमें राग-द्वेष-मोह नहीं रहते, आस्रवका अभाव होता है, बंधका त्रास मिट जाता है, जिसमें समस्त पदार्थोंके त्रैकाल्यवर्ती अनंत गुण-पर्याय प्रतिबिम्बित होते हैं और जो आप स्वयं अनंतानंत गुण-पर्यायोंकी सत्ता सहित है, ऐसा अनुपम, अखंड, अचल, नित्य, ज्ञानका निधान चिदानंद ही सम्यग्दर्शन है। भावश्रुतज्ञान-प्रमाणसे पदार्थ विचारा जावे तो वह अनुभवगम्य है और द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्द-शास्त्रसे विचारा जावे तो वचनसे कहा नहीं जा सकता ॥ १५ ॥

पाँचवें अधिकारका सार

राग-द्वेष-मोह तो भाव-आस्रव हैं, और अशुद्ध आत्माके द्वारा कार्माण-वर्गणारूप पुद्‌गल प्रदेशोंका आकर्षित होना द्रव्य-आस्रव है। तथा इन द्रव्य-आस्रव और भाव-आस्रवसे रहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शनका उदय होते ही जीवका मौजूदा ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है, इस सम्यग्ज्ञानकी दशामें आस्रवका अभाव है। सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हों, तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि अंतरंगमें सम्यग्दर्शनका उदय होनेसे वे शरीर आदिमें अहंबुद्धि नहीं रखते और विषय आदिमें तल्लीन नहीं होते। यद्यपि बाह्यदृष्टिसे लोगोंके देखनेमें मिथ्यादृष्टि जीवों और अव्रती सम्यग्दृष्टियोंके विषय-भोग परिग्रह-संग्रह आदिकी प्रवृत्ति एकसी दिखती है परन्तु दोनोंके परिणामोंमें बड़ा अन्तर होता है, अज्ञानियोंकी शुभ-अशुभ क्रिया फलकी अभिलाषा सहित होती है और ज्ञानी जीवोंकी शुभाशुभ क्रिया फलकी अभिलाषासे शून्य रहती है, इसीलिये अज्ञानियोंकी क्रिया आस्रवके लिये और ज्ञानियोंकी क्रिया निर्जराके लिये होती है, ज्ञान-वैराग्यकी ऐसी ही महिमा है। जिस प्रकार रोगी अभिरुचि नहीं रहते हुए भी औषधि सेवन करता है और बहुतसे लोग शौकके लिये शर्बत मुरब्बे आदि चखते हैं, इसी प्रकार ज्ञानियोंके उदयकी वरजोरीमें आसक्तता रहित भोगे हुए भोगोंमें और मौजके लिये गृद्धता सहित अज्ञानियोंके भोगोंमें बड़ा अंतर है।

आस्रवकी दौर तेरहवें गुणस्थान तक योगोंकी प्रवृत्ति होनेसे रहती है

और चौथे गुणस्थानमें तो सत्तर प्रकृतियोंका बंध कहा है, फिर सम्यग्दृष्टि जीवोंको अव्रतकी दशामें जो निरास्रव कहा है उसका अभिप्राय यह है कि अनंत संसारका मूल कारण मिथ्यात्व है और उसके साथ अनुबंध करनेवाली अनंतानुबंधी चौकड़ीका उदय सम्यक्त्वकी दशामें नहीं रहता, इसलिये मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी-जनित इकतालीस प्रकृतियोंका तो संवर ही रहता है, शेष प्रकृतियोंका बहुत ही कम अनुभाग वा स्थितिमें बंध होता है और गुणश्रेणि निर्जरा शुरू होती है इसलिये अज्ञानीके सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण और तीव्रतम अनुभागके समक्ष ज्ञानीका यह बंध किसी गिनतीमें नहीं है, इसलिये ज्ञानियोंको निरास्रव कहा है। वास्तवमें मिथ्यात्व ही आस्रव है और वह सम्यक्त्वके उदयमें नहीं रहता। आस्रव विभाव-परिणति है, पुद्गलमय है, पुद्गल-जनित है, आत्माका निज-स्वभाव नहीं है, ऐसा जानकर ज्ञानी लोग अपने स्वरूपमें विश्राम लेते हैं और अतुल, अखंड, अविचल, अविनाशी, चिदानंदरूप सम्यग्दर्शनको निर्मल करते हैं।

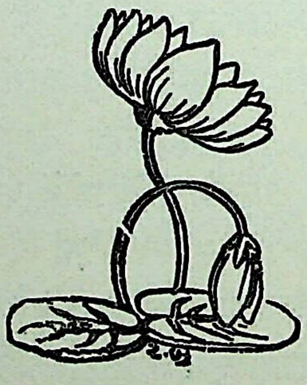

संवर द्वार

(६)

प्रतिज्ञा (दोहा)

आस्रवकौ अधिकार यह, कह्यौ जथावत जेम।
अब संवर वरनन करौं, सुनहु भविक धरि प्रेम॥ १॥

शब्दार्थः—आस्रव = बंधका कारण। जथावत = जैसा चाहिये वैसा। संवर = आस्रवका निरोध। वरनन = कथन। भविक = संसारी।

अर्थः—आस्रवका अधिकार यथार्थ वर्णन किया, अब संवरका स्वरूप कहता हूँ, सो हे भव्यो! तुम प्रेमपूर्वक सुनो॥ १॥

ज्ञानरूप संवरको नमस्कार (सवैया इकतीसा)

आतमकौ अहित अध्यातमरहित ऐसौ,
आस्रव महातम अखंड अंडवत है।
ताकौ विसतार गिलिबेकौं परगट भयौ,
ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है॥
जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै,
सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है।
सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है॥ २॥

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं सम्पादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते॥ १॥

शब्दार्थः—अहित = बुराई करनेवाला । अध्यातम = आत्म-अनुभव । महातम = घोर अंधकार । अखंड = पूरा । अंडवत = अंडाकार । विस्तार = फैलाव । गिलिबेकौं = निगलनेके लिए । ब्रहमंड (ब्रह्मांड) = त्रैलोक्य । विकास = उजेला । अलिप्त = अलग । आकास-खंड = आकाशका प्रदेश । भान (भानु) = सूर्य । रुचि-रेख = किरणरेखा, प्रकाश । दंडवत = प्रणाम ।

अर्थः—जो आत्माका घातक है और आत्म-अनुभवसे रहित है ऐसा आस्रव-रूप महा अंधकार अखंड अंडाके समान जगतके सब जीवोंको घेरे हुए है । उसको नष्ट करनेके लिये त्रिजगत विकासी सूर्यके समान जिसका प्रकाश है और जिसमें सब पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं तथा आप उन सब पदार्थके आकार रूप होता है[1], तौ भी आकाशके प्रदेशके समान उनसे अलिप्त रहता है, वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध संवरके भेषमें है, उसकी प्रभाको हमारा प्रणाम है ॥ २ ॥

भेदविज्ञानका महत्व (सवैया तेईसा)

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा ।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ,
करै जड़-चेतनरूप दुफारा ॥
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ,
न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा ।
आतमको अनुभौ करि ते,
हरखैं परखैं परमातम-धारा ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—सुद्ध (शुद्ध) = निर्विकार । सुछंद (स्वछंद) = स्वतंत्र । अभेद = भेद-

---

[1] 'ज्ञायक ज्ञेयाकार' अथवा 'ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति' यह व्यवहार-वचन है ।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥ २ ॥

रहित–एक। अबाधित=बाधा रहित। सुतीछन (सुतीक्ष्ण)=अतिशय पैना। आरा=करौंत। दुफारा=दो हिस्से।

अर्थः—शुद्ध, स्वतंत्र, एकरूप, निराबाध, भेदविज्ञानरूप तीक्ष्ण करौंत भीतर प्रवेश करके स्वभाव–विभाव और जड़–चेतनको जुदे जुदे कर देता है। वह भेदविज्ञान जिनके हृदयमें उपजा है उन्हें शरीर आदि पर वस्तुका आश्रय नहीं सुहाता, वे आत्म-अनुभव करके प्रसन्न होते हैं और परमात्माका स्वरूप पहचानते हैं।

भावार्थः—ज्ञान, परभावसे रहित है इसलिये शुद्ध है, निज–परका स्वरूप बतलाता है इसलिये स्वच्छंद है, इसमें कोई पर वस्तुका मेल नहीं है इसलिये एक है, नय–प्रमाणकी इसमें बाधा नहीं है इसलिये अबाधित है। सो इस भेदविज्ञानकी पैनी करौंत जब अंतरमें प्रवेश करती है तब स्वभाव–विभावका पृथक्करण कर देती है और जड़–चेतनका भेद बतलाती है। इससे भेदविज्ञानियोंकी रुचि परद्रव्यसे हट जाती है। वे धन परिग्रह आदिमें रहें तौ भी बड़े हर्षसे परम तत्त्वकी परीक्षा करके आत्मीक रसका आनंद लेते हैं ॥ ३ ॥

सम्यक्तसे सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूपकी प्राप्ति (सवैया तेईसा)

जो कबहूं यह जीव पदारथ,
औसर पाइ मिथ्यात मिटावे।
सम्यक धार प्रबाह बहै गुन,
ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै॥
तो अभिअंतर दर्वित भावित,
कर्म कलेस प्रवेस न पावै।
आतम साधि अध्यातमके पथ,
पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै॥ ४॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ ३॥

शब्दार्थः—कबहूं = कभी। औसर (अवसर) = मौका। प्रबाह = वहाव। ऊरध = ऊँचा। धावै = दौड़े। अभिअंतर (अभ्यन्तर) = अंतरंगमें। दर्वितकर्म = ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म। भावितकर्म = राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्म। कलेस = दुख। प्रवेस = पहुँच। पथ = मार्ग। पूरन = पूरा। परब्रह्म = परमात्मा।

अर्थः—जब कभी यह जीवपदार्थ मौका पाकर मिथ्यात्व नष्ट करता है और सम्यक्त्वरूप जलकी धारमें वहकर ज्ञानगुणके प्रकाशमें ऊपरको चलता है तब उसके अंतरंगमें द्रव्यकर्म और भावकर्मका दुःख कुछ असर नहीं करता। वह आत्मशुद्धिके साधन अनुभवके मार्गमें लगकर परिपूर्ण अवस्थाको प्राप्त होता है। उसीको परमात्मा कहते हैं।

भावार्थः—अनंत संसारमें संसरण करता हुआ जीव कभी काललब्धि, दर्शनमोहनीयका अनोदय और गुरु-उपदेश आदिका अवसर पाकर तत्त्वश्रद्धान करता है तब द्रव्यकर्म वा भावकर्मोंकी शक्ति शिथिल हो जाती है और अनुभवके अभ्याससे उन्नति करते करते कर्मबंधनसे मुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करता है अर्थात् सिद्धगतिको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

सम्यग्दृष्टिकी महिमा (सवैया तेईसा)

भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस,
भेद-विज्ञान कला जिन्ह पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत,
त्याग करैं उर सौंज पराई॥
उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट,
होत निरंतर जोति सबाई।
ते मतिमान सुवर्न समान,
लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई॥ ५ ॥

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—भेदि = नष्ट करके। वेदि = जान करके। महारस = आत्मानुभवका अमृत। अवधारत = ग्रहण करता। उद्धत = चढ़ती हुई। फुरी (स्फुरित) = प्रगट। सुवर्न = सोना। काई = मल।

अर्थः—जिन्होंने मिथ्यात्वका विनाश करके और सम्यक्त्वका अमृतरस चाखकर ज्ञानज्योति प्रगट की है, अपने निजगुण—दर्शन, ज्ञान, चारित्र ग्रहण किये हैं, हृदयसे परद्रव्योंकी ममता छोड़ दी है और देशव्रत, महाव्रतादि ऊँची क्रियाएँ ग्रहण करके ज्ञानज्योतिको सवाया वढ़ाया है, वे विद्वान् सुवर्णके समान हैं; उन्हें शुभाशुभ कर्ममल नहीं लगता है ॥ ५ ॥

भेदज्ञान, संवर निर्जरा और मोक्षका कारण है

(अडिल्ल छन्द)

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है।
संवरसौं निजरा, अनुक्रम मोष है॥
भेदग्यान सिवमूल, जगतमहि मानिये।
जदपि हेय है तदपि, उपादेय जानिये ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—निदान = कारण। निरदोष = शुद्ध। निरजरा = कर्मोंका एकदेश झड़ना। अनुक्रम = क्रमशः। सिव = मोक्ष। मूल = जड़। हेय = छोड़ने योग्य। उपादेय = ग्रहण करने योग्य।

अर्थः—लोकमें भेदविज्ञान निर्दोष है, संवरका कारण है; संवर निर्जराका कारण है और निर्जरा मोक्षका कारण है। इससे उन्नतिके क्रममें भेदविज्ञान ही परंपरा मोक्षका कारण है। यद्यपि वह त्याज्य है तौ भी उपादेय है।

भावार्थः—भेदविज्ञान आत्माका निजस्वरूप नहीं है इसलिये मोक्षका परंपरा-कारण है, असली कारण नहीं है। परन्तु उसके विना मोक्षके असली कारण सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा नहीं होते, इसलिये प्रथम अवस्थामें उपादेय है, और कार्य

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ ५॥

होनेपर कारण-कलाप प्रपंच ही होते हैं इसलिये शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर हेय है ॥ ६ ॥

आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होने पर भेदज्ञान हेय है (दोहा)

भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुकति न होइ।
परम जोति परगट जहां, तहां न विकलप कोइ॥ ७॥

शब्दार्थः—तबलौं = तब तक। भलौ = अच्छा। परम जोति = उत्कृष्ट ज्ञान। परगट (प्रगट) = प्रकाशित।

अर्थः—भेदविज्ञान तभी तक सराहनीय है जबतक मोक्ष अर्थात् शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती और जहाँ ज्ञानकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकाशवान है वहाँ कोई भी विकल्प नहीं है। (भेदविज्ञान तो रहेगा ही कैसे) ॥ ७ ॥

भेदज्ञान परंपरा मोक्षका कारण है (चौपाई)

*भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।
सो चेतन सिवरूप कहायौ॥
भेदग्यान जिन्हके घट नांही।
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही॥ ८॥

शब्दार्थः—चेतन = आत्मा। सिवरूप = मोक्षरूप। घट = हृदय।

अर्थः—जिन जीवोंने भेदज्ञानरूप संवर प्राप्त किया है वे मोक्षरूप ही कहलाते हैं और जिनके हृदयमें भेदविज्ञान नहीं है वे मूर्ख जीव शरीर आदिसे बँधते हैं ॥ ८ ॥

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ६ ॥
* भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ ७ ॥

भेदज्ञानसे आत्मा उज्ज्वल होता है (दोहा)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर॥ ९॥

शब्दार्थ:—साबू = साबुन। समरस = समताभाव। नीर = पानी। अंतर आतमा = सम्यग्दृष्टि। चीर = कपड़ा।

अर्थ:—सम्यग्दृष्टिरूप धोबी, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारूप निर्मल जलसे आत्मगुणरूप वस्त्रको साफ करते हैं॥ ९॥

भेदविज्ञानकी क्रियाके दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कुतल फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं॥ १०॥

शब्दार्थ:—रज = धूल। दरब (द्रव्य) = सोना चांदी। पावक = अग्नि। कनक = सोना। दाहत = जलाता है। उपल = पत्थर। पंक = कीच। गरभ = भीतर। कुतक फल = निर्मली। वेदै = अनुभव करे। उछेदै (उच्छेदै) = त्याग करे। पर-दल = आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्म्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्॥ ८॥

इति संवराधिकारः॥ ६॥

अर्थः—जैसे रजसोधा धूल शोधकर सोना चांदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धाउको गलाकर सोना निकालती है, कर्दममें निर्मली डालनेसे वह पानीको साफ करके मैल हटा देती है, दहीका मथनेवाला दही मथकर मक्खनको निकाल लेता है, हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी लोग भेद-विज्ञानके बलसे आत्म-सम्पदा ग्रहण करते हैं और रागद्वेष आदि वा पुद्गलादि पर पदार्थोंको त्याग देते हैं ॥ १० ॥

मोक्षका मूल भेदविज्ञान है (छप्पय छन्द)

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै ।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै ।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै ।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर
परम अतींद्रिय सुख लहै ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—परित्याग = छोड़कर । थिति ठानै = स्थिर करे । परगासै (प्रकाशै) = प्रगट करे । निरोधि = रोककर । तिमिर = अंधकार । समभाव = समताभाव । भजि = ग्रहण करके । सासुत (शाश्वत) = स्वयंसिद्ध । सुथिर = अचल । अतीन्द्रिय = जो इन्द्रिय-गोचर नहीं ।

अर्थः—भेदविज्ञान आत्माके और परद्रव्योंके गुणोंको स्पष्ट जानता है, परद्रव्योंसे आपा छोड़कर शुद्ध अनुभवमें स्थिर होता है ओर उसका अभ्यास करके संवरको प्रगट करता है, आस्रवद्वारका निग्रह करके कर्मजनित महा अंधकार नष्ट करता है, राग-द्वेष आदि विभाव छोड़कर समताभाव ग्रहण करता है और विकल्प-रहित अपना पद पाता है तथा निर्मल, शुद्ध, अनंत, अचल और परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

छट्ठे अधिकारका सार

पूर्व अधिकारमें कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है, इसलिये आस्रवका निरोध अर्थात् सम्यक्त्व संवर है। यह संवर निर्जराका और अनुक्रमसे मोक्षका कारण है। जब आत्मा स्वयं बुद्धिसे अथवा श्रीगुरुके उपदेश आदिसे आत्म-अनात्मका भेदविज्ञान अथवा स्वभाव-विभावकी पहिचान करता है तब सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट होता है। स्वको स्व और परको पर जानना इसीका नाम भेदविज्ञान है, इसीको स्व-पर विवेक कहते हैं। 'तासु ज्ञानकौ कारन स्व-पर विवेक बखानौ' की उक्तिसे भेदविज्ञान सम्यग्दर्शनका कारण है। जिस प्रकार कपड़ा साफ करनेमें साबुन सहायक है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जावें तब साबुनका कुछ काम नहीं रहता और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्व-परके विकल्पकी आवश्यकता नहीं रहती तब भेदविज्ञान हेय ही होता है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्थामें उपादेय है और सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है, हेय है। भेदविज्ञान यद्यपि हेय है तौ भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कारण होनेसे उपादेय है, इसलिये स्वगुण और परगुणकी परख करके पर-परिणतिसे विरक्त होना चाहिये और शुद्ध अनुभवका अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिये।

निर्जरा द्वार

(७)

प्रतिज्ञा (दोहा)

वरनी संवरकी दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान ॥ १ ॥

शब्दार्थः—जथा जुगति परवांन = जैसी आगममें कही है। वितरनी = देनेवाली।

अर्थः—जैसा आगममें संवरका कथन है वैसा वर्णन किया, हे भव्यो! अब मोक्षदायिनी निर्जराका कथन कान लगाकर सुनो ॥ १ ॥

मंगलाचरण (चौपाई)

*जो संवरपद पाइ अनंदै।
सो पूरवकृत कर्म निकंदै ॥
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।
सो निरजरा बनारसि बंदै ॥ २ ॥

शब्दार्थः—अनंदै = प्रसन्न होवे। निकंदै = नष्ट करे। अफंद = सुलझना। बहुरि = फिर। फंदै = उलझे।

अर्थः—जो संवरकी अवस्था प्राप्त करके आनंद करता है, जो पूर्वमें बाँधे हुए कर्मोंको नष्ट करता है, जो कर्मके फंदेसे छूटकर फिर नहीं फँसता; उस निर्जराभावको पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

---

* रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥ १ ॥

ज्ञान-वैराग्यके बलसे शुभाशुभ क्रियायोंसे भी बंध नहीं होता

(दोहा)

*महिमा सम्यकज्ञानकी, अरु विरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहि होइ॥ ३॥

शब्दार्थः—महिमा = प्रभाव। अरु = और। भुंजतैं = भोगते हुए।

अर्थः—सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे और वैराग्यके बलसे शुभाशुभ क्रिया करते और उसका फल भोगते हुए भी कर्मबंध नहीं होता है॥ ३॥

भोग भोगते हुए भी ज्ञानियोंको कर्म-कालिमा नहीं लगती।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं भूप कौतुक सरूप करै नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है।
जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जारहीसौं प्रेम भरतासौं चित बंक है॥
जैसैं धाइ बालक चुँघाइ करै लालिपालि,
जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।
तैसैं ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै याते निकलंक है॥ ४॥

शब्दार्थः—भूप = राजा। कौतुक = खेल। नीच कर्म = छोटा काम। रंक = कंगाल। वाकौ = उसका। जार (यार) = दोस्त। भरता = पति। बंक = विमुख। चुँघाइ = पिलाकर। लालिपालि = लालन-पालन। अंक = गोद। निकलंक = निर्दोष।

अर्थः—जिस प्रकार राजा खेल स्वरूप छोटा काम[1] करे तौ भी वह

---

[1] गधेपर चढ़ना आदि।

* तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते॥ २॥

खिलाड़ी कहलाता है उसे कोई गरीब नहीं कहता, अथवा जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पतिके पास रहे तौ भी उसका चित्त यारहीमें रहता है—पतिसे प्रेम नहीं रहता, अथवा जिस प्रकार धाय बालकको दूध पिलाती, लालन-पालन करती और गोदमें लेती है, तौ भी उसे दूसरेका जानती है, उसी प्रकार ज्ञानीजीव उदयकी प्रेरणासे[1] भाँति भाँतिकी शुभाशुभ क्रिया करता है, परन्तु उस क्रियाको आत्मस्वभावसे भिन्न कर्म-जनित मानता है, इससे सम्यग्ज्ञानी जीवको कर्मकालिमा नहीं लगती ॥ ४ ॥ पुनः

जैसैं निसि वासर कमल रहै पंकहीमैं,
पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है ।
जैसैं मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात,
मंत्रकी सकति वाकै विना-विष डंक है ॥
जैसैं जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानीमैं कनक जैसैं काईसौं अटंक है ।
तैसैं ग्यानवंत नानाभांति करतूति ठानै,
किरियाकौ भिन्न मानै यातैं निकलंक है ॥५॥

शब्दार्थः—निसि (निशि) = रात्रि । वासर = दिन । पंक = कीचड़ । पंकज = कमल । विषधर = सर्प । गात = शरीर । काई = कीट । अटंक = बेदाग ।

अर्थः—जैसे कमल कीचसे उत्पन्न होता है और दिन-रात कीचड़में रहता है परन्तु उसपर कीचड़ नहीं जमती, अथवा जिस प्रकार मंत्रवादी अपने शरीरको सांपसे कटवा लेता है पर मंत्रकी शक्तिसे उसपर विष नहीं चढ़ता, अथवा जिस प्रकार जीभ चिकने पदार्थ खाती है पर चिकनी नहीं होती, रूखी रहती है, अथवा जिस प्रकार सोना पानीमें पड़ा रहे तौ भी उसपर काई नहीं जमती; उसी प्रकार ज्ञानीजीव उदयकी प्रेरणासे भाँति भाँतिकी शुभाशुभ क्रिया करता है परन्तु उसे आत्मस्वभावसे भिन्न कर्मजनित मानता है इससे सम्यग्ज्ञानी जीवको कर्मकालिमा नहीं लगती ॥ ५ ॥

---

[1] ग्रहवासी तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, राजा श्रेणिक आदिकी तरह ।

वैराग्यशक्ति वर्णन (सोरठा)

पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती ।
करै न नूतन बन्ध, महिमा ग्यान विरागकी ॥६॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी जीव पूर्ववद्ध कर्मोंके उदयसे विषय आदि भोगते हैं पर कर्मबंध नहीं होता यह ज्ञान और वैराग्यका प्रभाव है ॥ ६ ॥

ज्ञान वैराग्यसे मोक्षकी प्राप्ति है (सवैया तेईसा)

सम्यकवंत सदा उर अंतर,
ग्यान विराग उभै गुन धारै ।
जासु प्रभाव लखै निज लच्छन,
जीव अजीव दसा निरवारै ॥
आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर,
आप तरै अर औरनि तारै ।
साधि सुदर्व लहै सिव सर्म,
सु कर्म-उपाधि विथा वमि डारै ॥ ७॥

शब्दार्थः—उर = हृदय । प्रभाव = प्रतापसे । निरवारै = निर्णय करे । औरनि = दूसरोंको । सुद्रव्य = (स्वद्रव्य) = आत्मतत्त्व । सर्म (शर्म) = आनंद । उपाधि = दंद-फंद । व्यथा = कष्ट । वमि डारै = निकाल देता है ।

अर्थः—सम्यग्दृष्टी जीव सदैव अंतःकरणमें ज्ञान और वैराग्य दोनों गुण धारण करते हैं जिनके प्रतापसे निज आत्मस्वरूपको देखते हैं और जीव-अजीव

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ३ ॥

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥ ४ ॥

तत्त्वोंका निर्णय करते हैं[1]। वे आत्म-अनुभव कर निज स्वरूपमें स्थिर होते हैं तथा संसार-समुद्रसे आप स्वयं तरते हैं वा दूसरोंको तारते हैं[2]। इस प्रकार आत्मतत्त्वको सिद्ध करके कर्मोंका फंदा हटा देते हैं और मोक्षका आनंद प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

सम्यग्ज्ञानके विना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है।

(सवैया तेईसा)

जो नर सम्यकवंत कहावत,
सम्यकग्यान कला नहि जागी।
आतम अंग अबंध विचारत,
धारत संग कहै हम त्यागी॥
भेष धरै मुनिराज-पटंतर,
अंतर मोह-महा-नल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी॥ ८॥

शब्दार्थः—संग = परिग्रह। पटंतर (पटतर) = समान। महानल = तेज अग्नि। दागी = धधकती है। सुन्न हिये = शून्य हृदयसे। सठ = मूर्ख।

अर्थः—जिस मनुष्यके सम्यग्ज्ञानकी किरण तो प्रगट हुई नहीं और अपनेको सम्यग्दृष्टी मानता है, वह निजात्म स्वरूपको अबंध चिंतवन करता[3] है, शरीर आदि परवस्तुमें ममत्व रखता है और कहता है कि हम त्यागी हैं। वह

---

[1] जीवने अनादि कालसे देहादि पर वस्तुओंको अपनी मान रक्खीं थीं सो उस हठको छोड़ देता है और अपने आत्माको उनसे पृथक् मानने लगता है। [2] धर्मोपदेश देकर।

[3] निश्चयनयका एकान्त पक्ष लेकर।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः॥ ५॥

मुनिराजके समान भेष धरता है परन्तु अंतरंगमें मोहकी महाज्वाला धधकती है, वह शून्य-हृदय होकर (मुनिराज जैसी) क्रिया करता है परन्तु वह मूर्ख है; वास्तवमें साधु नहीं है द्रव्यलिंगी है ॥ ८ ॥

भेदविज्ञानके बिना समस्त चारित्र निस्सार है ।

(सवैया तेईसा)

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,
लखै जगमैं विवहार सुपत्ता ।
साधि संतोष अराधि निरंजन,
देइ सुसीख न लेइ अदत्ता ॥
नंग धरंग फिरै तजि संग,
छकै सरवंग मुधारस मत्ता ।
ए करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—रचै = बनावे । चरचै = कथन करे । सुभ पंथ = धर्ममार्ग । सुपत्ता = सुपात्र । निरंजन = ईश्वर । सुसीख = अच्छा उपदेश । अदत्ता = विना दिया हुआ । नंग धरंग = नग्न, नंगे । संग = परिग्रह । मुधारस मत्ता = अज्ञान रसमें उन्मत्त । आतम सत्ता = शुद्ध चैतन्यभाव । अनातम सत्ता = शरीर राग-द्वेष-मोह आदि ।

अर्थः—वह मूर्ख ग्रन्थ-रचना करता है, धर्मकी चर्चा करता है, शुभ-अशुभ क्रियाको जानता है, योग्य व्यवहार रखता है, संतोषको सम्हालता है, अरहंत भगवानकी भक्ति करता है, अच्छा उपदेश देता है, विना दिया हुआ नहीं लेता[1], बाह्य परिग्रह छोड़कर नग्न फिरता है, अज्ञानरसमें उन्मत्त होकर बाल-तप करता है, वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ताका भेद नहीं जानता ॥ ९ ॥

---

[1] अचौर्य्यादि व्रत और एषणा आदि समिति पालता है ।

पुनः

ध्यान धरै करै इंद्रिय-निग्रह,
विग्रहसौं न गनै निज नत्ता।
त्यागि विभूति विभूति मढै तन,
जोग गहै भवभोग-विरत्ता॥
मौन रहै लहि मंदकषाय,
सहै बध बंधन होइ न तत्ता।
ए करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता॥ १०॥

शब्दार्थः—निग्रह = दमन करना। विग्रह = शरीर। नत्ता (नाता) = रिश्ता, संबंध। विभूति = धन-सम्पति। विभूति = भस्म (राख)। मढ़े = लगावे। जोग = योग[१]। विरत्ता (विरक्त) = त्यागी। तत्ता (तप्त) = क्रोधित, दुखी।

अर्थः—आसन लगाकर ध्यान करता है, इन्द्रियोंका दमन करता है, शरीरसे अपने आत्माका कुछ सम्बन्ध नहीं गिनता, धन-सम्पत्तिका त्याग करता है, शरीरको राखसे लिप्त रखता है[२], प्राणायाम आदि योग साधन करता है, संसार और भोगोंसे विरक्त रहता है, मौन धारण करता है, कषायोंको मंद करता है, बध बंधन सहकर संतापित नहीं होता। वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता और अनात्मसत्ताका भेद नहीं जानता॥ १०॥

(चौपाई)

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै।
जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै॥
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया।
सो अजान मूढनिमैं मुखिया॥ ११॥

---

[१] दोहा—आसन प्राणायाम यम, नियम धारणा ध्यान।
प्रत्याहार समाधि ये, अष्ट योग पहिचान॥

[२] स्नान आदि नहीं करनेसे।

शब्दार्थः—क्रिया = चारित्र। अवगाहै = ग्रहण करे। अजान = मूर्ख। मूढ़निमें = मूर्खोंमें। मुखिया = प्रधान।

अर्थः—जो सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र धारण करता है, वा बिना चारित्रके मोक्षपद चाहता है, तथा बिना मोक्षके अपनेको सुखी कहता है, वह अज्ञानी है, मूर्खोंमें प्रधान अर्थात् महामूर्ख है ॥ ११ ॥

श्रीगुरुका उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते (सवैया इकतीसा)

जगवासी जीवनिसौं गुरु उपदेस कहै,
तुमैं इहां सोवत अनंत काल बीते हैं।
जागौ ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं॥
आवौ मेरै निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरै उर,
मित्रकैसे पुत्र किधौं चित्रकैसे चीते हैं॥ १२ ॥

शब्दार्थः—मित्रकैसे पुत्र = मिट्टीके पुतले जैसे। चित्रकैसे चीते = चित्रमें बने हुए।

अर्थः—श्रीगुरु जगवासी जीवोंको उपदेश करते हैं कि, तुम्हें इस संसारमें मोहनिद्रा लेते हुए अनन्त काल बीत गया; अब तो जागो और सावधान वा शान्तचित्त होकर भगवानकी वाणी सुनो, जिससे इन्द्रियोंके विषय जीते जा सकते हैं। मेरे समीप आओ, मैं कर्म-कलंक रहित परम आनंदमय तुम्हारे आत्माके गुण तुम्हें बताऊँ। श्रीगुरु ऐसे बचन कहते हैं तौ भी संसारी मोहीजीव कुछ ध्यान नहीं देते, मानों वे मिट्टीके पुतले हैं अथवा चित्रमें बने हुए मनुष्य हैं ॥ १२ ॥

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
पतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥ ६ ॥

जीवकी शयन और जागृत दशा कहनेकी प्रतिज्ञा (दोहा)

एतेपर बहुरौं सुगुरु, बोलैं वचन रसाल।
सैन दसा जागृत दसा, कहै दुहूंकी चाल॥ १३॥

शब्दार्थः—रसाल = मीठे। सैन (शयन) = सोती हुई। दसा = अवस्था।

अर्थः—इतनेपर फिर कृपालु सुगुरु जीवकी निद्रित और जागृत दशाका कथन मधुर वचनोंमें कहते हैं॥ १३॥

जीवकी शयनअवस्था (सवैया इकतीसा)

काया चित्रसारीमैं करम परजंक भारी,
मायाकी संवारी सेज चादरि कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लियैं,
मोहकी मरोर यहै लोचनकौ ढपना॥
उदै बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर,
विषै-सुख कारजकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दसामैं मगन रहै तिहूं काल,
धावै भ्रम जालमैं न पावै रूप अपना॥ १४॥

शब्दार्थः—काया = शरीर। चित्रसारी = शयनागार, निद्रा लेनेकी जगह। संवारी = सजी। परजंक (पर्यंक) = पलंग। सेज = विस्तर। चादरि = ओढ़नेका वस्त्र। अचेतना = स्वरूपका भूलना। लोचन = नेत्र। स्वासकौ सबद = घुरकना।

अर्थः—शरीररूपी महलमें कर्मरूपी बड़ा पलंग है, मायाकी सेज सजी हुई है, कल्पनारूपी[1] चादर है, स्वरूपकी भूलरूप नींद ले रहा है, मोहके झकोरोंसे नेत्रोंके पलक ढँक रहे हैं, कर्मोंदयकी जबरदस्ती घुरकनेकी आवाज है, विषय-सुखके कार्योंके हेतु भटकना यह स्वप्न है; ऐसी अज्ञान-अवस्थामें आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्वमें भटकता फिरता है परन्तु अपने आत्मस्वरूपको नहीं देखता॥ १४॥

---

[1] जब राग-द्वेषके बाह्य निमित्त नहीं मिलते तब मनमें भाँति भाँतिके संकल्प-विकल्प करना।

जीवकी जाग्रत दशा (सवैया इकतीसा)

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारी सेज न्यारी,
चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी थपना ।
अतीत अवस्था सैन निद्रा वाहि कोउ पै,
न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना ॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग बूझै,
सूझै सब अंग लखि आतम दरपना ।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि,
भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना ॥ १५ ॥

शब्दार्थ:—थपना = स्थापना । अतीत = भूतकाल । निद्रा वाहि = सोने वाला । यामें = इसमें । छपना = लगाना । अलंग = संबंध । दरपना = दर्पण । भालै = देखे ।

अर्थ:—जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है कि शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलँग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नहीं है—पूर्वकालमें सोनेवाली मेरी दूसरी ही पर्याय थी । अब वर्तमानका एक पल भी निद्रामें नहीं बिताऊँगा । उदयका निःश्वास और विषयका स्वप्न ये दोनों निद्राके संयोगसे दिखते थे अब आत्मरूप दर्पणमें मेरे समस्त गुण दिखने लगे । इस प्रकार आत्मा अचेतन भावोंका त्यागी होकर ज्ञान-दृष्टिसे देखकर अपने स्वरूपको सम्हालता है ॥ १५ ॥

जाग्रत दशाका फल (दोहा)

इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव ।
जे सोवहि संसारमैं, ते जगवासी जीव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ:—इह विधि = इस प्रकार । जागे = सचेत हुए । ते = वे । सदीव (सदैव) = हमेशा । जगवासी = संसारी ।

अर्थ:—जो जीव संसारमें इस प्रकार आत्म-अनुभव करके सचेत हुए हैं वे सदैव मोक्षरूप ही हैं और जो अचेत हुए सो रहे हैं वे संसारी हैं ॥ १६ ॥

आत्म-अनुभव ग्रहण करनेकी शिक्षा (दोहा)

*जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदारूप॥ १७॥

शब्दार्थः—भौ (भव) = संसार। सेऊ = स्वीकार करो। अनूप = उपमा रहित। परसत (स्पर्शत) = ग्रहण करते ही। आपदा = कष्ट।

अर्थः—जो जन्म-मरणका भय हटाता है, उपमा रहित है, जिसे ग्रहण करनेसे और सब पद[1] विपत्तिरूप भासने लगते हैं उस आत्म-अनुभवरूप पदको अंगीकार करो॥ १७॥

संसार सर्वथा असत्य है (सवैया इकतीसा)

जब जीव सोवै तब समुझै सुपन सत्य,
वहि झूठ लागै तब जागै नींद खोइकै।
जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज,
ताहू झूठ मानत मरन-थिति जोइकै॥
जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ,
बूझै जब और अवतार रूप होइकै।
वाहू अवतारकी दसामैं फिरि यहै पेच,
याही भांति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै॥ १८॥

शब्दार्थः—सौंज = वस्तु। अवतार = जन्म। टोइकै = खोज करके।

अर्थः—जब जीव सोता है तब स्वप्नको सत्य मानता है, जब जागता है तब वह झूठा दिखता है और शरीर वा धन-सामग्रीको अपनी गिनता है। पश्चात् मृत्युका खयाल करता है तब उन्हें भी झूठी मानता है, जब अपने स्वरूपका

---

[1] इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्रादि।

*एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः॥ ७॥

विचार करता है तब मृत्यु भी असत्य दिखती है और दूसरा अवतार सत्य दिखता है। जब दूसरे अवतारपर विचार करता है तब फिर इसी चक्करमें पड़ जाता है, इस प्रकार खोजकर देखा तो यह जन्म-मरणरूप सब संसार झूठा ही झूठा दिखता है ॥ १८ ॥

सम्यग्ज्ञानीका आचरण (सवैया इकतीसा)

पंडित विवेक लहि एकताकी टेक गहि,
दुंदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मनमैं धरतु है॥
इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैकै,
परमके रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है॥ १९ ॥

शब्दार्थः—टेक = हठ। दुंदज = विकल्परूप, आकुलतारूप। मेटि = हटाकर। समाधि = ध्यान। परकीं उपाधि = राग-द्वेष-मोह।

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीव भेदज्ञान प्राप्त करके एक आत्माहीको ग्रहण करता है, देहादिसे ममत्वके नाना विकल्प छोड़ देता है। मति, श्रुत, अवधि इत्यादि क्षायोपशमिकभाव छोड़कर निर्विकल्प केवलज्ञानको अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रियजनित सुख-दुखसे रुचि हटाकर शुद्ध आत्म-अनुभव करके कर्मोंकी निर्जरा करता है और राग-द्वेष-मोहका त्याग करके उज्ज्वल ध्यानमें लीन होकर आत्माकी आराधना करके परमात्मा होता है॥ १९ ॥

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्॥ ८॥

सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा (सवैया इकतीसा)

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमैं अघट-रस कौतुक करतु है॥
जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।
सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमैं अनेकता धरतु है॥२०॥

शब्दार्थः—अंतर = भीतर। अघट[1] = पूर्ण। औधि (अवधि) = द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको एकदेश स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान। पंचधा = पांच प्रकारकी। तरंगनि = लहरें। ग्यान उदधि = ज्ञानका समुद्र। निराधार = स्वतंत्र।

अर्थः—जिस ज्ञानरूप समुद्रमें अनंत द्रव्य अपने गुण-पर्यायों सहित सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायक-स्वभावको छोड़ता है। वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्ण रसमें मौज करता है तथा जिसमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पांच प्रकारकी लहरें उठती हैं, जो महान है, जिसकी महिमा अपरंपार है, जो निजाश्रित है वह ज्ञान एक है तौ भी ज्ञेयोंको जाननेकी अनेकता लिये हुए है।

भावार्थः—यहाँ ज्ञानको समुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमें रत्नादि अनंत द्रव्य रहते हैं, ज्ञानमें भी अनंत द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं। समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता। समुद्रका जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी

---

[1] घट = कमती। अघट = कमती नहीं, संपूर्ण।

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः॥९॥

निर्मल रहता है। समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है, समुद्रमें लहरें उठती हैं, ज्ञानमें भी मति, श्रुत आदि तरंगें हैं। समुद्र महान होता है, ज्ञान भी महान होता है। समुद्र अपार होता है, ज्ञान भी अपार है। समुद्रका जल निजाधार[1] रहता है, ज्ञान भी निजाधार है। समुद्र अपने स्वरूपकी अपेक्षा एक और तरंगोंकी अपेक्षा अनेक होता है, ज्ञान भी ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा एक और ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा अनेक होता है॥ २०॥

ज्ञानरहित क्रियासे मोक्ष नहीं होता (सवैया इकतीसा)

केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वैकै झूले हैं।
केई महाव्रत गहैं क्रियामैं मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयारकैसे पूले हैं॥
इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नांहि,
फिरैं जगमांहि ज्यौं वयारिके बघूले हैं।
जिन्हके हियमैं ग्यान तिन्हिहीकौ निरवान,
करमके करतार भरममैं भूले हैं॥ २१॥

शब्दार्थः—केई = अनेक। क्रूर = मूर्ख। दहैं = जलावें अधोमुख ह्वै = नीचेको सिर और ऊपरको पैर करके। वयारि = हवा। निरवान = मोक्ष।

अर्थः—अनेक मूर्ख कायक्लेश करते हैं, पंचाग्नि तप आदिसे शरीरको जलाते हैं, गाँजा चरस आदि पीते हैं, नीचेको सिर और ऊपरको पैर करके लटकते हैं, महाव्रत ग्रहण करके तपाचरणमें लीन रहते हैं, परिषह आदिका कष्ट उठाते हैं; परन्तु ज्ञानके बिना उनकी यह सब क्रिया, कण रहित पयालके गट्ठेके समान निस्सार है। ऐसे जीवोंको कभी मुक्ति नहीं मिल सकती, वे पवनके बघूलेके

---

[1] समुद्रका पानी रत्नोंके ढेरके समान ऊंचा ढीला हुआ रहता है। चरचाश०

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥ १०॥

समान संसारमें भटकते हैं—कहीं ठिकाना नहीं पाते। जिनके हृदयमें सम्यग्ज्ञान है उन्हींको मोक्ष है; जो ज्ञानशून्य क्रिया करते हैं वे भ्रममें भूले हुए हैं॥ २१॥

व्यवहार-लीनताका परिणाम (दोहा)

लीन भयौ विवहारमैं, उकति न उपजै कोइ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ?॥ २२॥

शब्दार्थः—लीन=मग्न। उकति=भेदज्ञान। प्रभुपद जपै=भगवत चरण जपता है।

अर्थः—जो क्रियामें लीन है, भेदविज्ञानसे रहित है और दीन होकर भगवानके चरणोंको जपता है, और इसीसे मुक्तिकी इच्छा करता है सो आत्मानुभवके बिना मोक्ष कैसे मिल सकता है? ॥ २२॥

पुनः (दोहा)

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करौ विविध विवहार।
मोख सरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार॥ २३॥

शब्दार्थः—सुमरौ=स्मरण करो। विविध विवहार=नाना प्रकारका चारित्र।

अर्थः—भगवानका स्मरण करने, पूजा-स्तुति पढ़ने वा अनेक प्रकारका चारित्र ग्रहण करनेसे कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षस्वरूप आत्मा अनुभवज्ञानगोचर है॥ २३॥

ज्ञानके बिना मुक्तिमार्ग नहीं जाना जा सकता (सवैया तेईसा)

काज विना न करै जिय उद्यम,
लाज विना रन मांहि न जूझै।
डील विना न सधै परमारथ,
सील विना सतसौं न अरूझै॥
नेम विना न लहै निहचै पद,
प्रेम विना रस रीति न बूझै।
ध्यान विना न थंभै मनकी गति,
ग्यान विना सिव पंथ न सूझै॥ २४॥

शब्दार्थः—उद्यम = उद्योग। लाज = स्वाभिमान। डील = शरीर। जूझै = लड़े। परमारथ (परमार्थ) = मोक्ष। अरूझै = मिले। नेम = नियम। बूझै = समझे। सिव पंथ = मोक्षमार्ग। सूझै = दिखे।

अर्थः—विना प्रयोजन जीव उद्यम नहीं करता, विना स्वाभिमानके संग्राममें नहीं लड़ता, शरीरके बिना मोक्ष नहीं सधता, शील धारण किये बिना सत्यका मिलाप नहीं होता, संयमके बिना मोक्षपद नहीं मिलता, प्रेमके बिना रसरीति नहीं जानी जाती, ध्यानके विना चित्त स्थिर नहीं होता और ज्ञानके बिना मोक्षमार्ग नहीं जाना जाता॥ २४॥

ज्ञानकी महिमा (सवैया तेईसा)

ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर,
जोति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय,
आतमध्यानकला विधि फैली॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखैं,
सुविवेक लियैं परखैं गुन-थैली।
ते जगमैं परमारथ जानि,
गहैं रुचि मानि अध्यातमसैली॥ २५॥

शब्दार्थः—अंतर = भीतर। मति = बुद्धि। मैली = गन्दी। बाहिज दिष्टि = शरीर आदिमें आत्मबुद्धि। भिन्न = जुदे। परखैं = परीक्षा करें। रुचि = श्रद्धान। अध्यातमसैली = आत्म-अनुभव।

अर्थः—जिनके अंतरंगमें सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ है, जिनकी आत्म-ज्योति जाग्रत हुई है और बुद्धि निर्मल रहती है, जिनकी शरीर आदिसे आत्मबुद्धि हट गई है, जो आत्मध्यानमें निपुण हैं, वे जड़ और चैतन्यके गुणोंकी परीक्षा करके उन्हें जुदा जुदा जानते हैं और मोक्षमार्गको अच्छी तरह समझकर रुचिपूर्वक आत्म-अनुभव करते हैं॥ २५॥

पुनः (दोहा)

*बहुविधि क्रिया कलेससौं, सिवपद लहै न कोइ।
ग्यानकला परकाशसौं, सहज मोखपद होई॥ २६॥
ग्यानकला घटघट बसै, जोग जुगतिके पार।
निज निज कला उदोत करि, मुकत होइ संसार॥ २७॥

शब्दार्थः—बहुविधि = अनेक प्रकारकी। बसै = रहे। पार (परे) = अगम्य। उदोत = प्रगट। मुकत = मुक्त।

अर्थः—अनेक प्रकारकी बाह्य क्रियाओंके क्लेशसे कोई मोक्ष नहीं पा सकता और सम्यग्ज्ञान प्रकाशित होनेसे बिना क्लेशके ही मोक्षपद प्राप्त होता है॥ २६॥

अर्थः—ज्ञानज्योति समस्त जीवोंके अंतरंगमें रहती है, वह मन, वचन, काय और युक्तिके अगम्य है, हे भव्यो! अपनी अपनी ज्ञानज्योति प्रगट करके संसारसे मुक्त होओ॥ २७॥

अनुभवकी प्रशंसा (कुंडलिया)

×अनुभव चिंतामनि रतन, जाके हिय परगास।
सो पुनीत सिवपद लहै, दहै चतुरगतिवास॥
दहै चतुरगतिवास, आस धरि क्रिया न मंडै।
नूतन बंध निरोधि, पूब्बकृत कर्म बिहंडै॥
ताके न गनु विकार, न गनु बहु भार न गनु भव।
जाके हिरदै मांहि, रतन चिंतामनि अनुभव॥२८॥

---

*पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत्॥ ११॥

×अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥ १२॥

शब्दार्थः—पुनीत = पवित्र । दहै = जलावे । आस = आशा । मंडै (माँडै) = करे । निरोधि = रोककर । विहंडै = झड़ावे । भार = बोझ । भव = जन्म ।

अर्थः—अनुभवरूप चिन्तामणि रत्नका जिसके हृदयमें प्रकाश हो जाता है वह पवित्र आत्मा चतुर्गति भ्रमणरूप संसारको नष्ट करके मोक्षपद पाता है । उसका चारित्र इच्छा रहित होता है, वह कर्मोंका संवर और पूर्वकृत कर्मोंकी निर्जरा करता है । उस अनुभवी जीवके राग-द्वेष परिग्रहका भार और आगे होनेवाले जन्म किसी गिनतीमें नहीं हैं अर्थात् स्वल्प कालहीमें सिद्धपद पावेगा ॥ २८ ॥

सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जिन्हके हियेमैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है ।
जिन्हकी सुदिष्टिमैं न परचै विषमतासौं,
समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट पुष्ट है ॥
जिन्हके कटाक्षमैं सहज मोखपंथ सधै,
मनकौ निरोध जाके तनकौ न कष्ट है ।
तिन्हके करमकी कलोलै यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—परचै (परिचय) = संबंध, नाता । विषमता = राग-द्वेष । समता = वीतरागता । लष्ट पुष्ट = विरुद्ध । कटाक्ष = निगाह । करमकी कलोलै = कर्मके झकोरे । समाधि = ध्यान । डोलै = फिरै । मष्ट = मौन ।

अर्थः—जिनके हृदयमें अनुभवका सत्य सूर्य प्रकाशित हुआ है और सुबुद्धिरूप किरणें फैलकर मिथ्यात्वका अंधकार नष्ट करती हैं; जिनके सच्चे श्रद्धानमें राग-द्वेषसे नाता नहीं है, समतासे जिनका प्रेम और ममतासे द्रोह है; जिनकी चितवन मात्रसे मोक्षमार्ग सधता है और जो कायक्लेश आदिके विना मन आदि योगोंका निग्रह करते हैं, उन सम्यग्ज्ञानी जीवोंके विषय-भोग भी समाधि हैं, चलना-फिरना योग वा आसन हैं और बोलना-चालना ही मौनव्रत है ।

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान प्रगट होते ही गुणश्रेणी निर्जरा प्रगट होती है; ज्ञानी जीव चारित्रमोहके प्रबल उदयमें यद्यपि संयम नहीं लेते—अव्रतकी दशामें रहते हैं—तौ भी कर्मनिर्जरा होती ही है अर्थात् विषय आदि भोगते, चलते-फिरते और बोलते-चालते हुए भी उनके कर्म झड़ते हैं। जो परिणाम, समाधि योग आसन मौनका है वही परिणाम ज्ञानीके विषय-भोग, चलन-फिरन और बोल-चालका है। सम्यक्त्वकी ऐसी ही अटपटी महिमा है॥ २९॥

परिग्रहके विशेष भेद कथन करनेकी प्रतिज्ञा (सवैया इकतीसा)

आतम सुभाउ परभाउकी न सुधि ताकौं,
जाकौ मन मगन परिग्रहमैं रह्यौ है।
ऐसौ अविवेककौ निधान परिग्रह राग,
ताकौ त्याग इहांलौं समुच्चैरूप कह्यौ है॥
अब निज पर भ्रम दूरि करिवैकै काज,
बहुरौं सुगुरु उपदेसको उमह्यौ है।
परिग्रह त्याग परिग्रहकौ विशेष अंग,
कहिवेकौ उद्दिम उदार लहलह्यौ है॥ ३०॥

शब्दार्थः—सुधि = खबर। अविवेक = अज्ञान। राग = प्रेम। समुच = इकट्ठा। उमह्यो है = तत्पर हुआ है। कहिवेकौ = कहनेको।

अर्थः—जिसका चित्त परिग्रहमें रमता है उसे स्वभाव-परभावकी खबर नहीं रहती, इसलिये परिग्रहका प्रेम अज्ञानका कोष ही है। उसका यहां तक सामान्य रीतिसे समुच्चयरूप त्याग कहा है, अब श्रीगुरु निज-परका भ्रम दूर करनेके लिये परिग्रह और परिग्रहके विशेष भेद कहनेको उत्साहपूर्वक सावधान हुए हैं॥ ३०॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्त्तुमयं प्रवृत्तः॥ १३॥

सामान्य-विशेष परिग्रहका निर्णय (दोहा)

त्याग जोग परवस्तु सब, यह सामान्य विचार ।
विविध वस्तु नाना विरति, यह विशेष विस्तार ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—परवस्तु = अपने आत्माके सिवाय अन्य सब चेतन-अचेतन पदार्थ ।
सामान्य = साधारण । विरति = त्याग ।

अर्थः—अपने आत्माके सिवाय अन्य सब चेतन–अचेतन पर पदार्थ त्यागने योग्य हैं यह सामान्य उपदेश है और उनका अनेक प्रकारसे त्याग करना यह परिग्रहका विशेष त्याग है।

भावार्थः—मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि चौदह अंतरंग परिग्रह और धन-धान्यादि दस बाह्य परिग्रह–इन सबका त्याग सामान्य त्याग है, और मिथ्यात्वका त्याग, अव्रतका त्याग, कषायका त्याग, कुकथाका त्याग, प्रमादका त्याग, अभक्ष्यका त्याग, अन्यायका त्याग आदि विशेष त्याग हैं ॥ ३१ ॥

परिग्रहमें रहते हुए भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह है (चौपाई)

*पूरव करम उदै रस भुंजै,
ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै ।
उरमैं उदासीनता लहिये,
यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—पूरव (पूर्व) = पहलेका । भुंजै = भोगे । प्रयुंजै = लीन होवे ।
उदासीनता = वैराग्य । बुध = सम्यग्दृष्टि ।

अर्थः—ज्ञानी जीव पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे सुख–दुख दोनों भोगते हैं पर वे उसमें ममता और राग–द्वेष नहीं करते–ज्ञानहीमें मस्त रहते हैं इससे उन्हें निष्परिग्रह ही कहा है ॥ ३२ ॥

---

*पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥ १४ ॥

परिग्रहमें रहने पर भी ज्ञानी जीवोंको परिग्रह रहित कहनेका कारण।

(सवैया इकतीसा)

जे जे मनवंछित विलास भोग जगतमैं,
ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम,
तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं॥
एकता न दुहूं मांहि तातैं वांछा फुरै नांहि,
ऐसे भ्रम कारजकौं मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत,
यातैं ग्यानवंतकौ अवंछक कहत हैं॥ ३३॥

शब्दार्थः—विनासीक = नाशवान। फुरै = उपजे। कारज (कार्य) = काम। सतत = हमेशा। सचेत =सावधान। अवंछक = इच्छारहित।

अर्थः—संसारकी मनवांछित भोग-विलासकी सामग्री अथिर हैं, वे अनेक चेष्टाएँ करनेपर भी स्थिर नहीं रहतीं, इसी प्रकार विषय-अभिलाषाओंके भाव भी अनित्य हैं। भोग और भोगकी इच्छाएँ इन दोनोंमें एकता नहीं है और नाशवान हैं इससे ज्ञानियोंको भोगोंकी अभिलाषा ही नहीं उपजती, ऐसे भ्रमपूर्ण कार्योंको तो मूर्ख ही चाहते हैं, ज्ञानी लोग तो सदा सावधान रहते हैं—पर पदार्थोंसे अनुराग नहीं करते, इससे ज्ञानियोंको निर्वांछक ही कहा है॥ ३३॥

परिग्रहमें रहने पर भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं इसपर दृष्टान्त।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं फिटकड़ी लोद हरड़ेकी पुट बिना,
स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं।

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति॥ १५॥

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीव॥ १६॥

भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीरमैं ॥
तैसैं समकितवंत राग द्वेष मोह बिनु,
रहै निशि वासर परिग्रहकी भीरमैं ।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करै,
जाचै न जगत-सुख राचै न सरीरमैं ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—मजीठ = आल । चिरकाल = सदैव । सर्वथा = बिलकुल । चीर = वस्त्र। निशि वासर = रात–दिन । भीर = समुदाय । जाच = चाहे । राचै = लीन होवे ।

अर्थः—जिस प्रकार फिटकरी, लोद और हरड़ेकी पुट दिये बिना मजीठके रंगमें सफेद कपड़ा डुवानेसे तथा बहुत समय तक डूबा रखनेसे भी उसपर रंग नहीं चढ़ता—वह बिलकुल लाल नहीं होता अंतरंगमें सफेदी ही रहती है। उसी प्रकार राग–द्वेष–मोहरहित ज्ञानी मनुष्य परिग्रह-समूहमें रात–दिन रहता है तौ भी पूर्व-संचित कर्मोंकी निर्जरा करता है, नवीन बंध नहीं करता। वह विषय-सुखकी वाञ्छा नहीं करता और न शरीरसे मोह रखता है।

भावार्थः—राग–द्वेष–मोहरहित होनेके कारण सम्यग्दृष्टी जीव परिग्रह आदिका संग्रह रखते हुए भी निष्परिग्रह है ॥ ३४ ॥

पुनः

जैसैं काहू देसकौ बसैया बलवंत नर,
जंगलमैं जाइ मधु-छत्ताकौं गहतु है ।
वाकौं लपटांहि चहुओर मधु-मच्छिका पै-
कंबलकी ओटसौं अडंकित रहतु है ॥
तैसैं समकिती सिवसत्ताकौ स्वरूप साधै,
उदैकी उपाधिकौं समाधिसी कहतु है ।

पहिरै सहजकौ सनाह मनमैं उछाह,
ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—समाधि = ध्यान । सनाह = बख्तर । उछाह = उत्साह । उदवेग = आकुलता ।

अर्थः--जैसे कोई बलवान पुरुष जंगलमें जाकर मधुका छत्ता निकालता है तो उसको वहुतसी मधु-मक्खियां लिपट जाती हैं, परन्तु कम्बल ओढ़े हुए होनेसे उसे उनके डंक नहीं लग सकते । उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव उदयकी उपाधि रहते हुए भी मोक्षमार्गको साधते हैं, उन्हें ज्ञानका स्वाभाविक बख्तर प्राप्त है, इससे आनंदमें रहते हैं--उपाधिजनित आकुलता नहीं व्यापती, समाधिका काम देती है ।

भावार्थः--उदयकी उपाधि सम्यग्ज्ञानी जीवोंको निर्जराहीके लिये है इससे वह उन्हें चारित्र और तपका काम देती है, अतः उनकी उपाधि भी समाधि है ॥ ३५ ॥

ज्ञानी जीव सदा अबंध है (दोहा)

*ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोइ ।
चित उदास करनी करै, करम बंध नहिं होइ ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—मल = दोष । खोइ = हटाकर । करनी = क्रिया ।

अर्थः--ज्ञानी मनुष्य राग-द्वेष-मोह आदि दोषोंको हटाकर ज्ञानमें मस्त रहता है और शुभाशुभ क्रिया वैराग्यसहित करता है, इससे उसे कर्मबंध नहीं होता ॥ ३६ ॥

पुनः

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास ।
मुकति पंथ परगट करै, दीपक ग्यान विलास ॥ ३७॥

शब्दार्थः—सुमति = अच्छी बुद्धि । मुकति पंथ = मोक्षमाग ।

---

* ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १७ ॥

अर्थः—ज्ञानरूपी दीपक मोहरूपी महा अंधकारका मल नष्ट करके सुबुद्धिका प्रकाश करता है और मोक्षमार्गको दरसाता है ॥ ३७ ॥

ज्ञानरूपी दीपककी प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जामैं धूमकौ न लेस वातकौ न परवेस,
करम पतंगनिकौं नास करै पलमैं ।
दसाकौ न भोग न सनेहकौ संजोग जामैं,
मोह अंधकारकौ वियोग जाके थलमैं ॥
जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहै समता समाधि जोग जलमैं ।
ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पै दुरी है पुदगलमैं ॥३८॥

शब्दार्थः—धूम = धुवाँ । वात = हवा । परवेस (प्रवेश) = पहुँच । दसा = बत्ती, सनेह (स्नेह) = चिकनाई (तेल आदि) । तताई = गर्मी । रकताई = ललाई । अभंग = अखंड । फुरी = स्फुरायमान हुई । दुरी = छुपी ।

अर्थः—जिसमें किंचित् भी धुवाँ नहीं है, जो हवाके झकोरोंसे बुझ नहीं सकता, जो एक क्षणभरमें कर्म-पतंगोंको जला देता है, जिसमें बत्तीका भोग नहीं है, और न जिसमें घृत तेल आदि आवश्यक हैं, जो मोहरूपी अंधकारको मिटाता है, जिसमें किंचित् भी आँच नहीं है, और न रागकी लालिमा है; जिसमें समता समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं वह ज्ञानकी अखंड ज्योति स्वयंसिद्ध आत्मामें स्फुरित हुई है—शरीरमें नहीं है ॥ ३८ ॥

ज्ञानकी निर्मलतापर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दर्व काहूकौ सुभाउ न गहतु है ।
जैसैं संख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटीसौ न दीसै नित उज्जल रहतु है ॥
तैसैं ग्यानवंत नाना भोग परिगह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है ।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है ॥३९॥

शब्दार्थः—दर्व (द्रव्य) = पदार्थ । भखै = खाता है । दुंददसा = भ्रान्ति । सूनी = (शून्य) = अभाव । ऊनी = कमती । भौ-थिति = भवस्थिति ।

अर्थः—पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि, जो पदार्थ जैसा होता है उसका वैसा ही स्वभाव होता है, कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थके स्वभावको ग्रहण नहीं कर सकता, जैसे कि शंख सफेद होता है और मिट्टी खाता है पर वह मिट्टी सरीखा नहीं हो जाता—हमेशा उजला ही रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोग परिग्रहके संयोगसे अनेक भोग भोगते हैं पर वे अज्ञानी नहीं हो जाते । उनके ज्ञानकी किरण दिन दूनी बढ़ती है भ्रामक दशा मिट जाती है और भव-स्थिति घट जाती है ॥ ३९ ॥

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततम्
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥ १८॥

विषयवासनाओंसे विरक्त रहनेका उपदेश (सवैया इकतीसा)

जौलौं ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,
बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है।
ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भौगनिसौं,
जोगनिसौं उद्दमकी रीति तैं बिछोहि है॥
सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है।
विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है॥४०॥

शब्दार्थः—उदोत (उद्योत) = उजेला। जोग = संयम। बिछोहि है = छोड़ दी है। उद्दम = प्रयत्न। दिरोहि (द्रोही) = बैरी (अहित करनेवाला)। अरोहि = ग्रहण करके। टोहि = देखकर। सोहि है = शोभा देती है।

अर्थः—हे भाई भव्य सुनो! जब तक ज्ञानका उजेला रहता है तब तक बंध नहीं होता और मिथ्यात्वके उदयमें अनेक बंध होते हैं, ऐसी चरचा सुनकर तुम विषयभोगोंमें लग जाओ तथा संयम ध्यान चारित्रको छोड़ दो और अपनेको सम्यक्त्वी कहो तो तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्माका अहित करता है। विषयसुखसे विरक्त होकर आत्म-अनुभव ग्रहण करके मोक्षसुखकी ओर देखो ऐसी बुद्धिमानी तुम्हें शोभा देगी।

भावार्थः—ज्ञानीको बंध नहीं होता ऐसा एकान्तपक्ष ग्रहण करके विषय-सुखमें निरंकुश नहीं हो जाना चाहिये, मोक्षसुखकी ओर देखना चाहिये॥ ४०॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्॥ १९॥

ज्ञानी जीव विषयोंमें निरंकुश नहीं रहते (चौपाई)

ग्यानकला जिनके घट जागी ।
ते जगमांहि सहज वैरागी ।
ग्यानी मगन विषैसुखमांही ।
यह विपरीति संभवै नांही ॥ ४१ ॥

अर्थः—जिनके चित्तमें सम्यग्ज्ञानकी किरण प्रकाशित हुई है वे संसारमें स्वभावसे ही वीतरागी रहते हैं, ज्ञानी होकर विषयसुखमें आसक्त हों यह उलटी रीति असम्भव है ॥ ४१ ॥

ज्ञान और वैराग्य एकसाथ ही होते हैं (दोहा)

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधैं समकाल ।
ज्यौं लोचन न्यारे रहैं, निरखैं दोउ नाल ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—निरखैं = देखें । नाल = एकसाथ ।

अर्थः—ज्ञान वैराग्य एकसाथ उपजनेसे सम्यग्दृष्टी जीव मोक्षमार्गको साधते हैं, जैसे कि नेत्र पृथक् पृथक् रहते हैं पर देखनेका काम एकसाथ करते हैं।

भावार्थः—जिस प्रकार नेत्र पृथक् पृथक् होते हुए भी देखनेकी क्रिया एकसाथ करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य एक ही साथ कर्म-निर्जरा करते हैं। बिना ज्ञानका वैराग्य और बिना वैराग्यका ज्ञान मोक्षमार्ग साधनेमें असमर्थ है ॥ ४२ ॥

अज्ञानी जीवोंकी क्रिया बन्धके लिये और ज्ञानो जीवोंकी क्रिया निर्जराके लिये है।

(चौपाई)

मूढ़ करमकौ करता होवै ।
फल अभिलाष धरै फल जोवै ॥

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥ २० ॥

ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी ।
लगै न लेप निर्जरा दूनी ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—जोवै = देखे । सूनी (शून्य) = रहित । लेप = बंध ।

अर्थः—मिथ्यादृष्टी जीव क्रियाके फलकी (भोगोंकी) अभिलाषा करता है और उसका फल चाहता है इससे वह कर्मबंधका कर्ता है । सम्यग्ज्ञानी जीवोंकी भोग आदि शुभाशुभ क्रिया उदासीनता पूर्वक होती है इससे उन्हें कर्मका बंध नहीं होता और दिन दूनी निर्जरा ही होती है ।

विशेषः—यहां 'निर्जरा दूनी' यह पद कविताका प्रास मिलानेकी दृष्टिसे दिया है, सम्यग्दर्शन उपजे उपरान्त समय समय पर असंख्यातगुनी निर्जरा होती है ॥ ४३ ॥

ज्ञानीके अबंध और अज्ञानीके बंधपर कीटकका दृष्टान्त (दोहा)

बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन पेम ।
खुलै करमसौं समकिती, गोरख धंधा जेम ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—पाट = रेशम । कीट = कीड़ा । जेम = जैसे ।

अर्थः—जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने शरीरपर आप ही जाल पूरता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव कर्मबंधनको प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार गोरख-धंधा नामका कीड़ा जालसे निकलता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं ॥ ४४ ॥

ज्ञानीजीव कर्मके कर्ता नहीं हैं (सवैया तेईसा)

*जे निज पूरब कर्म उदै,
सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे ।

---

*त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥ २१ ॥

जे दुखमैं न विलाप करैं,
निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे ॥
है जिन्हकै दिढ़ आतम ग्यान,
क्रिया करिकैं फलकौं न चहैंगे ।
ते सु विचच्छन ग्यायक हैं,
तिन्हकौं करता हम तौ न कहैंगे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—भुंजत = भोगते हुए। उदास = विरक्त। विलाप = हाय हाय करना। निरबैर = द्वेष रहित। ताप = कष्ट।

अर्थः—जो पूर्वमें बाँधे हुए पुण्यकर्मके उदय-जनित सुख भोगनेमें आसक्त नहीं होते और पापकर्मके उदय-जनित दुख भोगते हुए संतापित नहीं होते—न दुःख देनेवालेसे द्वेषभाव करते हैं बल्कि साहसपूर्वक शारीरिक कष्ट सहते हैं, जिनका भेद-विज्ञान अत्यन्त दृढ़ है, जो शुभ क्रिया करके उसका फल स्वर्ग आदि नहीं चाहते, वे विद्वान सम्यग्ज्ञानी हैं। वे यद्यपि सांसारिक सुख भोगते हैं तो भी उन्हें कर्मका कर्ता हम तो नहीं कहते ॥ ४५ ॥

सम्यग्ज्ञानीका विचार (सवैया इकतीसा)

जिन्हकी सुदृष्टिमैं अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
जिन्हकौ अचार सु विचार सुभ ध्यान है ।
स्वारथकौं त्यागि जे लगे हैं परमारथकौं,
जिन्हकै बनिजमैं न नफा है न ज्यान है ॥
जिन्हकी समुझिमैं सरीर ऐसौ मानियत,
धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है ॥

पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है॥ ४६॥

शब्दार्थः—बनिज = व्योपार। ज्यान = जाना–टोटा या नुकसान। छीलक = छिलका। कृपान = तलवार। पारखी = परीक्षक। भारथ (भारत) = लड़ाई।

अर्थः—जिनकी ज्ञानदृष्टिमें इष्ट–अनिष्ट दोनों समान हैं, जिनकी प्रवृत्ति और विचार शुभ ध्यानके लिये होती है, जो लौकिक प्रयोजन छोड़कर सत्यमार्गमें चलते हैं, जिनके वचनका व्यवहार किसीको हानिकारक वा किसीको लाभकारक नहीं है, जिनकी सुबुद्धिमें शरीर धानके छिलके व तलवारके म्यानके समान आत्मासे जुदा गिना जाता है, जो जीव–अजीव पदार्थोंके परीक्षक हैं, संशय आदि मिथ्यात्वकी खींचतानके जो मात्र ज्ञातादृष्टा हैं वे ही साधु हैं और उन्हींको वास्तविक ज्ञान है॥ ४६॥

ज्ञानकी निर्भयता (सवैया इकतीसा)

जमकौसौ भ्राता दुखदाता है असाता कर्म,
ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है।
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
सबहीकौ तन मन कंपितु रहतु है॥
उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौं,
डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है।
सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ,
ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु है॥ ४७॥

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधोच्च्यवन्ते न हि॥ २२॥

शब्दार्थः—भ्राता = भाई। साहस = हिम्मत। सुरगनिवासी = देव। भूमिवासी = मनुष्य पशु आदि। पतालवासी = व्यंतर, भवनवासी, नारकी आदि। सपत (सप्त) = सात। भै (भय) = डर। सास्वत = कभी नाश नहीं होनेवाला। आरज = पवित्र।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुखदाई है मानों जमका भाई ही है, जिससे स्वर्ग, मध्य और पाताल त्रैलोक्यके जीवोंका तन मन काँपता रहता है, ऐसे असाता कर्मके उदयमें अज्ञानी जीव हतसाहस हो जाता है। परन्तु ज्ञानी जीवके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश है, वह आत्मबलसे बलवान है, उसका ज्ञानरूपी शरीर अविनाशी है, वह परम पवित्र है और सप्त भयसे रहित निःशंकित डोलता है॥ ४७॥

सप्त भयके नाम (दोहा)

इहभव-भय परलोक-भय, मरन-वेदना-जात।
अनरच्छा अनगुप्त-भय, अकस्मात-भय सात॥ ४८॥

अर्थः—इहभव-भय, मरण-भय, परलोक-भय, वेदना-भय, अनरक्षा-भय, अनगुप्त-भय और अकस्मात-भय ये सात भय हैं॥ ४८॥

सप्त भयका पृथक् पृथक् स्वरूप (सवैया इकतीसा)

दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये।
प्राननिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये॥
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा-भय,
चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगतमैं जानिये॥ ४९॥

शब्दार्थः—दसधा = दस प्रकारका। वियोग = छूटना। चिंता = फिकर दुर्गति = खोटी गति। अनगुप्त[1] = चोर।

---

[1] गुप्त = साहूकार, अनगुप्त = चोर।

अर्थः—क्षेत्र, वास्तु आदि दस[1] प्रकारके परिग्रहका वियोग होनेकी चिंता करना इस भवका भय है, कुगतिमें जन्म होनेका डर मानना परलोकभय है, दस प्रकारके प्राणोंका वियोग हो जानेका डर मानना मरणभय है, रोग आदि दुख होनेका डर मानना वेदनाभय है, कोई हमारा रक्षक नहीं ऐसी चिंता करना अनरक्षाभय है, चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेंगे ऐसी चिन्ता करना अनगुप्तभय है, अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो ऐसी चिन्ता करना अकस्मातभय है। संसारमें ऐसे ये सात भय हैं ॥ ४९ ॥

इस भवका भय निवारणका उपाय (छप्पय)

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत ।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत ॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु ।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु ॥
परिगह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजै न चित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—नख सिख मित = पैरसे सिरकी चोटी तक। अवगाह = व्याप्त। निरक्खत = देखता है। अक्खत = जानता है। विभव = धन, सम्पत्ति। प्रलय = नाश। प्रपंच = जाल। परखि = देखकर।

अर्थः—आत्मा सिरसे पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि पर-

---

[1] क्षेत्र, वास्तु, चांदी, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड।

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २३ ॥

पदार्थ हैं, संसारका सब वैभव और कुटुम्बियोंका समागम क्षणभंगुर है। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश है। जिसका संयोग है उसका वियोग है, और परिग्रह-समूह जंजालके समान है। इस प्रकार चिंतवन करनेसे चित्तमें इस भवका भय नहीं उपजता। ज्ञानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं॥ ५० ॥

परभवका भय निवारण करनेका उपाय (छप्पय)

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख।
इतर लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमाहिं दोख दुख॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित सिवनायक॥
इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्यापत वरतै सुखित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—जासु = जिसे। इतर = दूसरा। खंडित = नाशवान। अखंडित = अविनाशी। सिवनायक = मोक्षका राजा।

अर्थः—ज्ञानका पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें मोक्षका सुख मिलता है। जिसमें दोष और दुःख हैं ऐसे स्वर्ग आदि अन्य लोक मेरे नहीं हैं! नहीं हैं!! सुगतिका दाता पुण्य और दुखदायक दुर्गतिपदका दाता पाप है, सो दोनोंही नाशवान हैं और मैं अविनाशी हूँ—मोक्षपुरीका बादशाह हूँ। ऐसा विचार करनेसे परलोकका भय नहीं सताता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं॥ ५१ ॥

मरणका भय निवारण करनेका उपाय (छप्पय)

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति ।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति ॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ ।
ग्यान-प्रान संजुगत, जोव तिहुं काल न छिज्जइ ॥
यह चिंत करत नहि मरन भय,
नय-प्रवांन जिनवरकथित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—फरस = स्पर्श । नासिका = नाक । नैन = नेत्र । श्रवन = कान । अच्छ (अक्ष) = इन्द्रिय । संजुगत = सहित । कथित = कहा हुआ ।

अर्थः—स्पर्श, जीभ, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियां; मन, वचन, काय ये तीन बल; श्वासोच्छ्वास और आयु इन दस प्राणोंके वियोगको लोकमें लोग मरण कहते हैं; परन्तु आत्मा ज्ञानप्राणसंयुक्त है वह तीनकालमें कभी भी नाश होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जिनराजका कहा हुआ नय–प्रमाणसहित तत्त्वस्वरूप चिंतवन करनेसे मरणका भय नहीं उपजता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५२ ॥

वेदनाका भय निवारण करनेका उपाय (छप्पय)

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोऊ जिय ।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि बिय ॥

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २७ ॥

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हिं भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २४ ॥

करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख ।
दोऊ मोह विकार, पुग्गलाकार बहिरमुख ॥
जब यह विवेक मनमहिं धरत,
तब न वेदनाभय विदित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५३ ॥

शब्दार्थः—वेदनवारौ = जाननेवाला । जाहि = जिसे । अभंग = अखंड । बिय = व्यापता । बहिरमुख = बाह्य ।

अर्थः—जीव ज्ञानी है और ज्ञान जीवका अभंग अंग है, मेरे ज्ञानरूप अंगमें जड़ कर्मोंकी वेदनाका प्रवेश ही नहीं हो सकता। दोनों प्रकारका सुख-दुखरूप कर्म-अनुभव मोहका विकार है, पौद्गलिक है और आत्मासे बाह्य है। इस प्रकारका विवेक जब मनमें आता है तब वेदना-जनित भय विदित नहीं होता। ज्ञानी पुरुष अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५३ ॥

अनरक्षाका भय निवारण करनेका उपाय (छप्पय)

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहिं त्रिकालगत ।
तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत ॥
सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर ।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर ॥

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दत्ति ॥ २५॥

जब इहि प्रकार निरधार किय,
तब अनरच्छा-भय नसित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५४ ॥

शब्दार्थः—स्ववस्तु = आत्मपदार्थ। तासु = उसका। रच्छक (रक्षक) = बचानेवाला। भच्छक = नाश करनेवाला। निरधार = निश्चय।

अर्थः—सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगतमें सदा नित्य है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, यह बात निश्चयनयसे निश्चित है। सो मेरा आत्मपदार्थ कभी किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता, इससे आत्माका न कोई रक्षक है न कोई भक्षक है। इस प्रकार जब निश्चय हो जाता है तब अनरक्षा-भयका अभाव हो जाता है। ज्ञानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५४ ॥

चोर भय निवारण करनेका उपाय (छप्पय)

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित।
पर प्रवेस तहां नाहिं, माहिं महि अगम अखंडित ॥
सो ममरूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन ॥
चितवंत एम धरि ध्यान जब,
तब अगुप्त भय उपसमित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५५ ॥

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—परतच्छ (प्रत्यक्ष) = साक्षात्। प्रवेस = पहुँच। महि = पृथ्वी। अक्कृत = स्वयंसिद्ध। अनमित = अपार। अटूट = अक्षय। ठौर = स्थान। अगुप्त = चोर उपसमित = नहीं रहता, हट जाता है।

अर्थः—आत्मा साक्षात् परमात्मारूप है, ज्ञानलक्षणसे विभूषित है, उसकी अगम्य[१] और नित्य भूमिपर परद्रव्यका प्रवेश नहीं है। इससे मेरा धन अनुपम, स्वयंसिद्ध, अपरंपार और अक्षय है, उसे चोर कैसे ले सकता है? दूसरे मनुष्यके पहुँचनेको उसमें स्थान ही नहीं है। जब ऐसा चिंतवन किया जाता है तब अनगुप्त-भय नहीं रहता। ग्यानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५५ ॥

अकस्मात भय निवारण करनेका उपाय (छप्पय)

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल सरूप मम ॥
चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक।
जहां दुविधा नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक ॥
जब यह विचार उपजंत तब,
अकस्मात भय नहि उदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५६ ॥

---

[१] इन्द्रिय और मनके अगोचर।

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—सुद्ध = कर्मकलंक रहित । बुद्ध = केवलज्ञानी । अविरुद्ध = वीतराग। समृद्ध = वैभवशाली । अलख = अरूपी । अतुल = उपमा रहित । वीत-विकल्प = निर्विकल्प ।

अर्थः—मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतरागभावमय है और सिद्ध भगवानके समान समृद्धशाली है। मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनंत, अनुपम, नित्य, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनंदकंद और निर्द्वंद्व है। उसपर कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती, जब इस प्रकारका भाव उपजता है तब अकस्मात-भय उदय नहीं होता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५६ ॥

सम्यग्ज्ञानी जीवोंको नमस्कार (छप्पय)

जो परगुन त्यागंत, सुद्ध निज गुन गहंत धुव ।
विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहिं प्रकास हुव ॥
जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार बहावत ।
जो नव बंध निरोध, मोख-मारग-मुख धावत ॥
निःसंकतादि जस अष्ट गुन,
अष्ट कर्म अरि संहरत ।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद,
बानारसि वंदन करत ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः—धुव (ध्रुव) = नित्य । धार = प्रवाह । निरोध = रोककर । मोख-मारग-मुख = मोक्षमार्गकी ओर । धावत = दौड़ते हैं । संहरत = नष्ट करते हैं ।

अर्थः—जो परद्रव्यसे आत्मबुद्धि छोड़कर निज स्वरूपको ग्रहण करते हैं, जिनके हृदयमें निर्मल ज्ञानका अंकुर प्रगट हुआ है, जो निर्जराके प्रवाहमें पूर्वकृत

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्म्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ २९ ॥

कर्मोंको बहा देते हैं, और नवीन कर्मबंधका संवर करके मोक्षमार्गके सन्मुख हुए हैं, जिनके निःशंकितादि गुण अष्टकर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं। उन्हें पं० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५७ ॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अंगोंके नाम (सोरठा)

प्रथम निसंसै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन ।
तृतिय अंग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुन ॥ ५८ ॥
पंच अकथ परदोष, थिरीकरन छट्ठम सहज ।
सत्तम वच्छल पोष, अष्टम अंग प्रभावना ॥ ५९ ॥

शब्दार्थः—निसंसै (निःसंशय) निःशंकित । अवंछित = वाञ्छारहित, निःकांक्षित । अगिलानि = ग्लानि रहित, निर्विचिकित्सित । निर्मल दिष्टि = यथार्थ विवेक, अमूढ़दृष्टि । अकथ परदोष = दूसरोंके दोष नहीं कहना, उपगूहन । थिरीकरन = स्थिर करना, स्थितिकरण, वत्सल = वात्सल्य, प्रेम ।

अर्थः—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं ॥ ५९ ॥

सम्यक्त्वके आठ अंगोंका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

धर्ममैं न संसै सुभकर्म फलकी न इच्छा,
अ‌सुभकौ देखि न गिलानि आनै चितमैं ।
सांची दिष्टि राखै काहू प्रानीकौ न दोष भाखै,
चंचलता भानि थिति ठानै बोध वितमैं ॥
प्यार निज रूपसौं उछाहकी तरंग उठै,
एई आठौं अंग जब जागै समकितमैं ।
ताहि समकितकौं धरै सो समकितवंत,
वहै मोख पावै जौ न आवै फिरि इतमैं ॥ ६० ॥

शब्दार्थः—संसै (संशय) = सन्देह। भानि = नष्ट करके। थिति ठानै = स्थिर करे। बोध = रत्नत्रय। तरंग = लहर। उछाह = उत्साह। इतमें = यहां (संसारमें)।

अर्थः—स्वरूपमें सन्देह नहीं करना निःशंकित अंग है, शुभ क्रिया करके उसके फलकी अभिलाषा नहीं करना निःकांक्षित अंग है, दुखदायक पदार्थ देखकर ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है, मूर्खता त्यागकर तत्त्वका यथार्थ निर्णय करना अमूढदृष्टि अंग है, दूसरोंके दोष प्रगट नहीं करना उपगूहन अंग है, चित्तकी चंचलता हटाकर रत्नत्रयमें स्थिर होना स्थितिकरण अंग है, आत्मस्वरूपमें अनुराग रखना वात्सल्य अंग है, आत्मउन्नतिके लिये उत्साहित रहना प्रभावना अंग है, इन आठ अंगोंका प्रगट होना सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्वको जो धारण करता है वह सम्यग्दृष्टी है, सम्यग्दृष्टी ही मोक्ष पाता है और फिर इस संसारमें नहीं आता।

विशेषः—जिस प्रकार शरीरके आठ अंग[1] होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् शरीरसे पृथक् नहीं होते और न शरीर उन अंगोंसे पृथक् होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके निःशंकित आदि आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पृथक् नहीं होते और न सम्यग्दर्शन अष्ट अंगोंसे निराला होता है—आठों अंगोंका समुदाय ही सम्यग्दर्शन है ॥ ६० ॥

चैतन्यनटका नाटक (सवैया इकतीसा)

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
    नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
    समता अलाप चारी करै सुर भरिकै ॥

---

[1] सिर नितंब उर पीठ कर, जुगल जुगल पद टेक। आठ अंग ये तन विषैं, और उपंग अनेक ॥

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
    प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
    ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥ ३० ॥

इति निर्ज्जरा निष्क्रान्ता ॥ ७ ॥

निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानंदमैं समाधि रीझि करिकै ।
सत्ता रंगभूमिमैं मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ—संगीत = गायन । सखा = साथी । नाद = ध्वनि । छक्यौ = लीन हुआ । महानंद = बड़ा हर्ष । रंगभूमि = नाट्यशाला ।

अर्थः—सम्यग्दृष्टी रूपी नट, ज्ञानका स्वाँग बनाकर सत्तारूप रंगभूमिपर मोक्ष होनेके लिये सदा नृत्य करता है; पूर्वबंधका नाश उसकी गायन विद्या है, नवीन बंधका संवर मानों उसका ताल तोड़ना है, निःशंकित आदि आठ अंग उसके सहचारी हैं, समताका अलाप स्वरोंका उच्चारण है, निर्जराकी ध्वनि हो रही है, ध्यानका मृदंग बजता है, समाधिरूप गायनमें लीन होकर बड़े आनंदमें मस्त है ॥ ६१ ॥

सातवें अधिकारका सार

संसारी जीव अनादि कालसे अपने स्वरूपको भूले हुए हैं, इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करनेकी भावना ही नहीं होती, यदि कभी इस विषयमें उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलनेसे बहुधा व्यवहारमें लीन होकर संसारको ही बढ़ाते हैं और अनंत कर्मोंका बंध करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानकी खूंटीका सहारा मिलनेपर गृहस्थ मार्ग और परिग्रह–संग्रहकी उपाधि रहनेपर भी जीव संसारकी चक्कीमें नहीं पिसता और दूसरोंको जगज्जालसे छूटनेका रास्ता बतलाता है। इसलिये मुक्तिका उपाय ज्ञान है, बाह्य आडंबर नहीं। और ज्ञानके बिना संपूर्ण क्रिया बोझा ही है, कर्मका बंध अज्ञानकी दशामें ही होता है। जिस प्रकार कि रेशमका कीड़ा अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है उसी प्रकार अज्ञानी अपने आप ही शरीर आदिसे अहंबुद्धि करके अपने ऊपर अनंत कर्मोंका बंध करते हैं, पर ज्ञानी लोग सम्पत्तिमें हर्ष नहीं करते, विपत्तिमें विषाद नहीं करते, सम्पत्ति और विपत्तिको कर्मजनित जानते हैं इसलिये उन्हें संसारमें न कोई पदार्थ सम्पत्ति है न कोई पदार्थ विपत्ति है, वे तो ज्ञान–वैराग्यमें मस्त रहते हैं।

उनके लिये संसारमें अपने आत्माके सिवाय और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिससे वे राग करें और न संसारमें कोई ऐसा पदार्थ है जिससे वे द्वेष करें। उनकी क्रिया फलकी इच्छा रहित होती है इससे उन्हें कर्मबंध नहीं होता, क्षण-क्षणपर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उन्हें शुभ–अशुभ, इष्ट–अनिष्ट दोनों एकसे हैं अथवा संसारमें उन्हें कोई पदार्थ न तो इष्ट है न अनिष्ट है। फिर राग-द्वेष किससे करेंगे? किससे संयोग–वियोगमें लाभ–हानि गिनेंगे? इससे विवेकवान जीव लोगोंके देखनेमें सधन हों चाहे निर्धन हों वे तो आनंदहीमें रहते हैं। जब उन्होंने पदार्थका स्वरूप समझ लिया और अपने आत्माको नित्य और निराबाध जान लिया तो उनके चित्तपर सप्त प्रकारका भय नहीं उपजता और उनका अष्टांग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है जिससे अनंत कर्मोंकी निर्जरा होती है।

बंध द्वार

(८)

प्रतिज्ञा (दोहा)

कही निरजराकी कथा, सिवपथ साधनहार ।
अब कछु बंध प्रबंधकौ, कहूं अलप विस्तार ॥ १ ॥

शब्दार्थः—सिवपथ = मोक्षमार्ग । अलप = थोड़ा ।

अर्थः—मोक्षमार्ग सिद्ध करनेवाले निर्जरा तत्त्वका कथन किया, अब बंधका व्याख्यान कुछ विस्तार करके कहता हूँ ॥ १ ॥

मंगलाचरण (सवैया इकतीसा)

मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीनें,
याहीतैं अजानुबाहु बिरद बिहतु है ।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है ॥
ताकौ बल भंजिवेकौं घटमैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है ।
सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है ॥ २ ॥

शब्दार्थः—पाइ = पिलाकर । विकल = दुःखी । बिरद = नामवरी । अजानुबाहु (आजानुबाहु) = घुटने तक जिसकी लम्बी भुजायें हैं । भंजिवेकौं = नष्ट करनेके लिये । उद्धत = बलवान । उदार = महान । नमो नमो (नमः नमः) = नमस्कार नमस्कार ।

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाटयेन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटन्नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १ ॥

अर्थः—जिसने मोहकी शराव पिलाकर संसारी जीवोंको व्याकुल कर डाला है, जिसकी घुटनेतक लम्बी भुजायें हैं ऐसी संसारमें प्रसिद्धि है, जो महाजालके समान है, और जो ज्ञानरूपी चन्द्रमाको प्रभारहित करनेके लिये राहुके सदृश है। ऐसे बंधरूप भयंकर योद्धाका बल नष्ट करनेके लिये जो हृदयमें उत्पन्न हुआ है, जो बहुत बलवान महान और पुरुषार्थी है; ऐसे आनंदमय सम्यक्त्वरूपी योद्धाको पंडित बनारसीदासजी वार बार नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

ज्ञानचेतना और कर्मचेतनाका वर्णन (सवैया इकतीसा)

जहां परमातम कलाकौ परकास तहां,
धरम धरामैं सत्य सूरजकी धूप है।
जहां सुभ असुभ करमकौ गढ़ास तहां,
मोहके बिलासमैं महा अंधेर कूप है।
फैली फिरै घटासी छटासी घन-घटा बीचि,
चेतनकी चेतना दुहूंधा गुपचूप है।
बुद्धिसौं न गही जाइ बैनसौं न कही जाइ,
पानीकी तरंग जैसैं पानीमैं गुड़ूप है ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—धरा = भूमि। गढ़ास = सघनता। छटा = बिजली। घन = मेघ। दुहूंधा = दोनों ओर, दोनों अवस्थाओंमें। बैन = वचन। गुड़ूप = डूबी।

अर्थः—जहाँ आत्मामें ज्ञानकी ज्योति प्रकाशित है वहाँ धर्मरूपी धरतीपर सत्यरूप सूर्यका उजाला है और जहाँ शुभ-अशुभ कर्मोंकी सघनता है वहाँ मोहके फैलावका घोर अंधकारमय कुआ ही है। इस प्रकार जीवकी चेतना दोनों अवस्थाओंमें गुपचुप होकर शरीररूपी मेघ-घटामें बिजलीके समान फैल रही है। वह बुद्धिग्राह्य नहीं है और न वचनगोचर है, वह तो पानीकी तरंगके समान पानीहीमें गर्क हो जाती है अर्थात् समा जाती है ॥ ३ ॥

कर्मबन्धका कारण अशुद्ध उपयोग है (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गनासौं जगमैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं ।
चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं ॥
कर्मसौं अबंध सिद्ध जोगसौं अबंध जिन,
हिंसासौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोगसौं ।
इत्यादिक वस्तुके मिलापसौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोगसौं ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—वर्गना = कर्मपरमाणुओंके समूहको वर्गना कहते हैं । कदापि = कभी भी । अलख = आत्मा । पंच-विषै = पाँच इन्द्रियोंके विषय-भोग । असुद्ध उपयोग = जीवकी शुभाशुभ परिणति ।

अर्थः—जीवको बंधके कारण न तो कार्मांण वर्गणाएँ हैं, न मन–वचन–कायके योग हैं, न चेतन–अचेतनकी हिंसा है, और न इन्द्रियोंके विषय हैं, केवल राग आदि अशुद्ध उपयोग बंधका कारण है । क्योंकि कार्मांण वर्गणाओंके रहते हुए भी सिद्ध भगवान अबंध रहते हैं, योग[1] होते हुए भी अरहंत भगवान अबंध रहते हैं, हिंसा[2] हो जाने पर भी मुनि महाराज अबंध रहते हैं और पंचेन्द्रियोंके

---

[1] मनयोग दो—सत मनयोग, अनुभय मनयोग । वचनयोग दो—सत वचनयोग, अनुभय वचनयोग । काययोग तीन—औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग और कार्मांण काययोग–ऐसे सात योग सयोगी जिनराजके होते हैं ।

[2] त्रस स्थावर हिंसाके त्यागी महाव्रती मुनि ईर्या समिति पूर्वक विहार करते हैं और अकस्मात कोई जीव उनके पांवके नीचे आ पड़े तथा मर जावे तो प्रमत्तयोग नहीं होनेसे उन्हें हिंसाका बंध नहीं होता ।

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥ २ ॥

भोग भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टी जीव अबंध रहते हैं।

भावार्थः—कार्माण वर्गणा, योग, हिंसा, इन्द्रिय-विषयभोग ये बंधके कारण कहे जाते हैं, परन्तु सिद्धालयमें अनंतानंत कार्माण पुद्‌गलवर्गणाएँ भरी हुई हैं, वे रागादिके बिना सिद्ध भगवानसे नहीं बँध जातीं; तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवानको मन–वचन–कायके योग रहते हैं परन्तु राग–द्वेष आदि नहीं होते इससे उन्हें कर्मबंध नहीं होता; महाव्रती साधुओंसे अबुद्धिपूर्वक हिंसा हुआ करती है परन्तु राग–द्वेष नहीं होनेसे उन्हें बंध नहीं है, अव्रतसम्यग्दृष्टी जीव पंचेन्द्रियोंके विषय भोगते हैं पर तल्लीनता न होनेसे उन्हें निर्जरा ही होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्माण वर्गणाएँ, योग, हिंसा और सांसारिक विषय बंधके कारण नहीं हैं; केवल अशुद्ध उपयोगहीसे बंध होता है ॥ ४ ॥

पुनः

कर्मजाल-वर्गनाकौ वास लोकाकासमांहि,
मन-वच-कायकौ निवास गति आउमैं।
चेतन अचेतनकी हिंसा वसै पुग्गलमैं,
विषैभोग वरतै उदैके उरझाउमैं ॥
रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलखकी,
यहै उपादान हेतु बंधके बढ़ाउमैं।
याहीतैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूं काल,
राग दोष मोह नाहीं सम्यक सुभाउमैं ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—लोकाकास = जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य पाये जाँय। उपादान हेतु = जो स्वयं कार्यको करे। विचच्छन = सम्यग्दृष्टी। तिहूं काल = भूत भविष्यत वर्तमान।

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवेत् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दगात्मा ध्रुवम् ॥ २ ॥

अर्थः—कार्माण वर्गणाएँ लोकाकाशमें रहती हैं, मन-वचन-कायके योगोंकी स्थिति गति और आयुमें रहती है, चेतन—अचेतनकी हिंसाका अस्तित्व पुद्गलमें है, इन्द्रियोंके विषय—भोग उदयकी प्रेरणासे होते हैं; इससे वर्गणा, योग, हिंसा और भोग इन चारोंका सद्भाव पुद्गलसत्तापर है—आत्मसत्तापर नहीं है, अतः ये जीवको कर्मबंधके कारण नहीं हैं और राग—द्वेष—मोह जीवके स्वरूपको भुला देते हैं इससे बंधकी परंपरामें अशुद्ध उपयोग ही अंतरंग कारण है। सम्यक्त्वभावमें राग—द्वेष—मोह नहीं होते इससे सम्यग्ज्ञानीको सदा बंध रहित कहा है॥ ५॥

यद्यपि ज्ञानी अबन्ध हैं तौ भी पुरुषार्थ करते हैं (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधै पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिन बैनमैं।
ग्यानदिष्टि देत विषै-भोगनिसौं हेत दोऊ—
क्रिया एक खेत यौं तौ बनै नांहि जैनमैं॥
उदै-बल उद्दिम गहै पै फलकौं न चहै,
निरदै दसा न होइ हिरदैके नैनमैं।
आलस निरुद्दिमकी भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहां न संभारै जीव मोह नींद सैनमैं॥ ६॥

शब्दार्थः—उद्दिमी = पुरुषार्थी। बखान्यौ = कहा। बैन = वचन। निरदै = कठोर। न सँभारै (न सम्हालै) = असावधान रहै। सैन (शयन) = निद्रा।

अर्थः—स्वरूपकी सम्हाल और भोगोंका अनुराग ये दोनों बातें एक साथ ही जैनधर्ममें नहीं हो सकतीं, इससे यद्यपि सम्यग्ज्ञानी वर्गणा, योग, हिंसा और भोगोंसे अबंध हैं तौ भी उन्हें पुरुषार्थ करनेके लिये जिनराजकी आज्ञा है।

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च॥ ४॥

वे शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करते हैं पर फलकी अभिलाषा नहीं करते और हृदयमें सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते। प्रमाद और पुरुषार्थहीनता तो मिथ्यात्वदशाहीमें होती है जहाँ जीव मोहनिद्रासे अचेत रहता है, सम्यक्त्वभावमें पुरुषार्थहीनता नहीं है ॥ ६ ॥

उदयकी प्रवलता (दोहा)

जब जाकौ जैसौ उदै, तब सो है तिहि थान।
सकति मरोरै जीवकी, उदै महा बलवान ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—जाकौ = जिसका। थान = स्थान। उदै (उदय) = कर्मविपाक।

अर्थः—जब जिस जीवका जैसा उदय होता है तब वह जीव उसी माफिक वर्तता है। कर्मका उदय बहुत ही प्रवल होता है वह जीवकी शक्तियोंको कुचल डालता है और उसे अपने उदयके अनुकूल परिणमाता है ॥ ७ ॥

उदयको प्रवलतापर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं गजराज परयौ कर्दमके कुंडबीच,
उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुख-दंदसौं।
जैसैं लोह-कंटककी कोरसौं उरझ्यौ मीन,
ऐंचत असाता लहै साता लहै संदसौं ॥
जैसैं महाताप सिर वाहिसौं गरास्यौ नर,
तकै निज काज उठि सकै न सुछंदसौं।
तैसैं ग्यानवन्त सब जानै न बसाइ कछू,
बंध्यौ फिरै पूरब करम-फल-फंदसौं ॥ ८ ॥

शब्दार्थः— गजराज = हाथी। कर्दम = कीचड़। कंटक = काँटा। कोर = नोक। उरझ्यो = फँसा हुआ। मीन = मछली। संदसौं = छूटनेसे।

अर्थः—जिस प्रकार कीचड़के गड्ढेमें पड़ा हुआ हाथी अनेक चेष्टाएँ करने पर भी दुःखसे नहीं छूटता, जिस प्रकार लोह-कंटकमें फँसी हुई मछली दुःख

पाती है—निकल नहीं सकती, जिस प्रकार तेज बुखार और मस्तक-शूलमें पड़ा हुआ मनुष्य अपना कार्य करनेके लिये स्वाधीनतापूर्वक नहीं उठ सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव जानते सब हैं परन्तु पूर्वोपार्जित कर्मोदयके फंदेमें फँसे होनेसे उनका कुछ वश नहीं चलता अर्थात् व्रत संयम आदि ग्रहण नहीं कर सकते ॥ ८॥

मोक्षमार्गमें अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं।

(चौपाई)

जे जिय मोह नींदमैं सोवैं।
ते आलसी निरुद्दिम होवैं॥
द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना।
तिनि आलस तजि उद्दिम कीना ॥ ९॥

शब्दार्थः—निरुद्दिम = पुरुषार्थहीन। प्रवीना = पंडित।

अर्थः—जो जीव मिथ्यात्वकी निद्रामें सोते रहते हैं वे मोक्षमार्गमें प्रमादी वा पुरुषार्थहीन होते हैं और जो विद्वान ज्ञाननेत्र उघाड़कर जाग्रत हुए हैं वे प्रमाद छोड़कर मोक्षमार्गमें पुरुषार्थ करते हैं ॥ ९॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी परिणतिपर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

काच बांधै सिरसौं सुमनि बांधै पाइनिसौं,
जानै न गंवार कैसी मनि कैसौ काच है।
यौंही मूढ़ झूठमैं मगन झूठहीकौं दौरै,
झूठी बात मानै पै न जानै कहा साच है॥
मनिकौं परखि जानै जौंहरी जगत मांहि,
साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है।
जहांको जु वासी सो तौ तहांकौ मरम जानै,
जाको जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है॥ १०॥

शब्दार्थः—सिर = माथा। सुमनि = रत्न। पाइनिसौं = पैरोंसे। परखि = परीक्षा। लोचन = नेत्र। स्वांग = वेष।

अर्थः—जिस प्रकार विवेकहीन मनुष्य माथेमें काँच और पैरमें रत्न पहिनता है वह काँच और रत्नका मूल्य नहीं समझता, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव अतत्त्वमें मग्न रहता है और अतत्त्वहीको ग्रहण करता है, वह सत्–असत्‌को नहीं जानता। संसारमें हीराकी परीक्षा जौहरी ही जानते हैं, साँच–झूठकी पहिचान मात्र ज्ञानदृष्टिसे होती है। जो जिस अवस्थाका रहनेवाला है वह उसीको भली जानता है और जिसका जैसा स्वरूप है वह वैसीही परणति करता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वहीको ग्राह्य समझता है और उसे अपनाता है तथा सम्यक्त्वी सम्यक्त्वको ही ग्राह्य जानता है वा उसे अपनाता है।

भावार्थः—जौहरी मणिको परीक्षा करके लेता है और काँचको काँच जानकर उसकी कदर नहीं करता, पर मूर्ख लोग काँचको हीरा और हीराको काँच समझकर काँचकी कदर और हीराका अनादर करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वीका हाल रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव अतत्त्वहीको तत्त्वश्रद्धान करता है और सम्यक्त्वी जीव पदार्थका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता है ॥ १० ॥

जैसी क्रिया तैसा फल (दोहा)

बंध बढ़ावै अंध है, ते आलसी अजान।
मुकति हेतु करनी करैं, ते नर उद्दिमवान ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—अंध = विवेकहीन। आलसी = प्रमादी। अजान (अज्ञान) = अज्ञानी। उद्दिमवान = पुरुषार्थी।

अर्थः—जो विवेकहीन होकर कर्मकी बंध-परंपरा बढ़ाते हैं वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पानेका प्रयत्न करते हैं वे पुरुषार्थी हैं ॥ ११ ॥

जबतक ज्ञान है तबतक वैराग्य है (सवैया इकतीसा)

जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारै ध्यावै,
तबलग भौगसौं उदासी सरवंग है।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥ ५ ॥

भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नांहि,
भोग-अभिलाषकी दसा मिथ्यात अंग है ॥
तातैं विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौं उदास सो समकिती अभंग है ।
ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है ॥ १२ ॥

शब्दार्थ:—उदासी = विरक्ति । सरवंग = बिलकुल । जगन = उदय । अभिलाष = इच्छा । मुकति (मुक्ति) = मोक्ष । चंग (चंगा[1]) = पवित्र । कठौती = काष्ठका एक वर्तन (काठकी हौदी) ।

अर्थ:—जब तक जीवका विचार शुद्ध वस्तुमें रमता है तब तक वह भोगोंसे सर्वथा विरक्त रहता है और जब भोगोंमें लीन होता है तब ज्ञानका उदय नहीं रहता, क्योंकि भोगोंकी इच्छा अज्ञानका रूप है। इससे स्पष्ट है कि जो जीव भोगोंमें मग्न होता है वह मिथ्यात्वी है और जो भोगोंसे विरक्त है वह सम्यग्दृष्टी है। ऐसा जानकर भोगोंसे विरक्त होकर मोक्षका साधन करो ! यदि मन पवित्र है तो कठौतीके जलमें नहाना ही गंगा-स्नानके समान है और यदि मन, मिथ्यात्व विषय-कषाय आदिसे मलीन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थोंके स्नानसे भी आत्मामें पवित्रता नहीं आती ॥ १२ ॥

चार पुरुषार्थ (दोहा)

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग ।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग ॥ १३ ॥

शब्दार्थ:—पुरुषारथ = उत्तम पदार्थ । चतुरंग = चार । कुधी = मूर्ख । सुधी = ज्ञानी । सरवंग (सर्वांग) = पूरा ।

अर्थ:—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थके चार अंग हैं। उन्हें दुर्बुद्धि जीव मनचाहे ग्रहण करते हैं और सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव सम्पूर्णतया

---

[1] यह शब्द पंजाबी (गुरुमुखी) भाषामें प्रचलित है ।

वास्तविक रूपसे अंगीकार करते हैं॥ १३॥

चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीका विचार (सवैया इकतीसा)

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौं।
खेहकौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौं॥
दंपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं।
इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बंधके अभाउकौं॥ १४॥

शब्दार्थ—खेह = मिट्टी। (दंपति) = पुरुष—स्त्री। दुरबुद्धि = मूर्ख। सुधी = ज्ञानी। इंद्रलोक = स्वर्ग।

अर्थः—अज्ञानी लोग कुलपद्धति—स्नान चौका आदिको धर्म कहते हैं और पंडित लोग वस्तुस्वभावको धर्म कहते हैं। अज्ञानी लोग मिट्टीके ढेर सोने—चांदी आदिको द्रव्य कहते हैं, परन्तु ज्ञानी लोग तत्त्व-अवलोकनको द्रव्य कहते हैं। अज्ञानी लोग पुरुष—स्त्रीके विषय—भोगको काम कहते हैं, ज्ञानी आत्माकी निस्पृहताको काम कहते हैं। अज्ञानी स्वर्गलोकको वैकुंठ (मोक्ष) कहते हैं पर ज्ञानी लोग कर्मबन्धन नष्ट होनेको मोक्ष कहते हैं॥ १४॥

आत्माहीमें चारों पुरुषार्थ हैं (सवैया इकतीसा)

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै,
अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमैं।
यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद,
सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं॥

अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घटमैं ।
साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—विलेछ = भिन्न भिन्न ग्रहण करना । संग्रहै = ग्रहण करे । निरासपद = निस्पृहता । सौंज = सामग्री । अलट = भ्रम ।

अर्थः—वस्तुस्वभावका यथार्थ जानना धर्म–पुरुषार्थकी सिद्धि करना है, छह द्रव्योंका भिन्न भिन्न जानना अर्थ–पुरुषार्थकी साधना है, निस्पृहताका ग्रहण करना काम–पुरुषार्थकी सिद्धि करना है और आत्मस्वरूपकी शुद्धता प्रगट करना मोक्ष–पुरुषार्थकी सिद्धि करना है। ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको सम्यग्दृष्टी जीव अपने हृदयमें सदा अंतर्दृष्टिसे देखते हैं और मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वके भ्रममें पड़कर चारों पुरुषार्थोंकी साधक और आराधक सामग्री पासमें रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है ॥ १५ ॥

वस्तुका सत्य स्वरूप और मूर्खका विचार (सवैया इकतीसा)

तिहूं लोकमांहि तिहूं काल सब जीवनिकौ,
पूरब करम उदै आइ रस देतु है ।
कोउ दीरघाउ धरै कोउ अलपाउ मरै,
कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है ॥
याहि मैं जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
याहि दुखी करौ ऐसे मूढ़ मान लेतु है ।
याही अहंबुद्धिसौं न विनसै भरम भूल,
यहै मिथ्या धरम करम-बंध-हेतु है ॥ १६ ॥

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकोय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—दीरघाउ (दीर्घायु) = अधिक उमर। अलपाउ (अल्पायु) = छोटी उमर। जिवायौ = जिलाया। मूढ़ = मिथ्यादृष्टि। हेतु = कारण।

अर्थः—तीन लोक और तीनों कालमें जगतके सब जीवोंको पूर्व-उपार्जित कर्म उदयमें आकर फल देता है जिससे कोई अधिक आयु पाते हैं, कोई छोटी उमरमें मरते हैं, कोई दुखी होते हैं, कोई सुखी होते हैं और कोई साधारण स्थितिमें रहते हैं। इसपर मिथ्यात्वी ऐसा मानने लगता है कि मैंने इसे जिलाया है, इसे मारा, इसे सुखी किया, इसे दुखी किया है। इसी अहंबुद्धिसे अज्ञानका परदा नहीं हटता और यही मिथ्याभाव है जो कर्मबंधका कारण है ॥ १६ ॥

पुनः

जहांलौं जगतके निवासी जीव जगतमैं,
सबै असहाइ कोऊ काहूकौ न धनी है।
जैसी जैसी पूरब करम-सत्ता बांधी जिन,
तैसी उदैमैं अवस्था आइ बनी है॥
एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊं मारूं,
इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है।
सो तौ अहंबुद्धिसौं विकल भयौ तिहूं काल,
डोलै निज आतम सकति तिन हनी है ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—असहाइ = निराधार। धनी = रक्षक। अवस्था = हालत। घनी = बहुतसी। विकल = बेचैन। डोलै = फिरता है। तिहूँ काल = सदैव। हनी = नष्ट की।

अर्थः—जब तक संसारी जीवोंका जन्म-मरणरूप संसार है तब तक वे असहाय हैं—कोई किसीका रक्षक नहीं है। जिसने पूर्वकालमें जैसी कर्मसत्ता बाँधी है उदयमें उसकी वैसीही दशा हो जाती है। ऐसा होनेपर भी जो कोई

अज्ञानमेतद्धिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ ७ ॥

कहता है कि मैं पालता हूँ, मैं मारता हूँ इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करता है, सो वह इसी अहंबुद्धिसे व्याकुल होकर सदा भटकता फिरता है और अपनी आत्मशक्तिका घात करता है ॥ १७ ॥

उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवोंका स्वभाव (सवैया इकतीसा)

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यौं किसमिस दाख,
बाहिज अभिंतर विरागी मृदु अंग है ।
मध्यम पुरुष नारिअरकीसी भांति लियैं,
बाहिज कठिन होय कोमल तरंग है ॥
अधम पुरुष बदरीफल समान जाकैं,
बाहिरसैं दीखै नरमाई दिल संग है ।
अधमसैं अधम पुरुष पूंगीफल सम,
अंतरंग बाहिज कठोर सरवंग है ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—अभिंतर = भीतर । बदरीफल = बेर । नरमाई = कोमलता । दिल = हृदय । संग = पत्थर । पूंगीफल = सुपारी ।

अर्थः—उत्तम मनुष्यका स्वभाव अन्तरंग और बाह्यमें किसमिश दाखके समान कोमल (दयालु) रहता है। मध्यम पुरुषका स्वभाव नारियलके समान बाहर तो कड़ा (अभिमानी) और अन्तरङ्गमें कोमल रहता है। अधम पुरुषका स्वभाव बेर फलके समान बहरसे कोमल पर अंतरंगमें कठोर रहता है और अधमाधम पुरुषका स्वभाव सुपारीके समान अंतरंग और बाह्य सर्वांग कठोर रहता है ॥ १८ ॥

उत्तम पुरुषका स्वभाव (सवैया इकतीसा)

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी ।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुदगल-छबि छारसी ॥

जालसौ जग-विलास भालसौ भुवन वास,
कालसौ कुटुंब काज लोक-लाज लारसी ।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—मीच = मृत्यु । मिताई = मित्रता । गरुवाई = बड़प्पन । गार (गाल) = गाली । जोग-जाति = योगकी क्रियायें । कहर = दुःख । हहर = अनर्थ । हौस = हविस—महत्त्वाकांक्षा । पुद्गल-छवि = शरीरकी कान्ति । छार = भस्म । भाल = वाणपर लगी हुई लोहेकी नोंक:। लार = मुखकी राल । सीठ = नाकका मैल । बीठ = विष्टा । वखत = भाग्योदय ।

अर्थः—कंचनको कीचड़के समान, राज्यपदको नितान्त तुच्छ, लोगोंकी मित्रताको मृत्युके समान, प्रशंसाको गालीके समान, योगकी क्रियायोंको जहरके समान, मंत्रादि करामातको दुःखके समान, लौकिक उन्नतिको अनर्थके समान, शरीरकी कान्तिको राखके समान, संसारकी मायाको जंजालके समान, घरके निवासको वाणकी नोंकके समान, कुटुम्वके कार्यको कालके समान, लोकलाजको लारके समान, सुयशको नाकके मैलके समान और भाग्योदयको विष्टाके समान जो जानता है, (वह उत्तम पुरुष है) उसे पं० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ यह है कि ज्ञानी जीव सांसारिक अभ्युदयको एक आपत्तिही समझते हैं।

मध्यम पुरुषका स्वभाव (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ सुभट सुभाइ ठग-मूर खाइ,
चेरा भयौ ठगनीके घेरामैं रहतु है ।
ठगौरी उतरि गइ तबै ताहि सुधि भई,
परयौ परवस नाना संकट सहतु है ॥
तैसेही अनादिकौ मिथ्याती जीव जगतमैं,
डोलै आठौं जाम विसराम न गहतु है ।

ग्यानकला भासी भयौ अंतर उदासी पै,
तथापि उदै व्याधिसौं समाधि न लहतु है ॥ २० ॥

शब्दार्थः—मूर = मूल या जड़ी। चेरा = चेला। जाम = पहर। विसराम = चैन। व्याधि = आपत्ति। समाधि = स्थिरता।

अर्थः—जैसे किसी सज्जनको कोई ठग ठगमूली खिला देवे तो वह मनुष्य ठगोंका दास बन जाता है और उन ठगोंकी आज्ञामें चलता है। परन्तु जब उस बूटीका असर मिट जाता है और उसे होश आता है तब ठगोंको भला नहीं जानता हुआ भी उनके आधीन रहकर अनेक प्रकारके कष्ट सहता है। उसी प्रकार अनादि कालका मिथ्यात्वी जीव संसारमें सदैव भटकता फिरता है और चैन नहीं पाता। परन्तु जब ज्ञानज्योतिका विकास होता है तब अंतरंगमें यद्यपि विरक्तभाव रहता है तौ भी कर्म-उदयकी प्रबलताके कारण शान्ति नहीं पाता। (ऐसा मध्यम पुरुष है) ॥ २० ॥

अधम पुरुषका स्वभाव (सवैया इकतीसा)

जैसें रंक पुरुषकै भायैं कानी कौड़ी धन,
उलुवाके भायैं जैसें संझा ही विहान है।
कूकरुके भायैं ज्यौं पिडोर जिरवानी मठा,
सूकरुके भायैं ज्यौं पुरीष पकवान है॥
बायसके भायैं जैसें नींबकी निंबोरी दाख,
बालकके भायैं दंत-कथा ज्यौं पुरान है।
हिंसकके भायैं जैसें हिंसामैं धरम तैसें,
मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—रंक = गरीब। भायैं = प्रिय लगै। कानी = फूटी। उलुवा = उल्लू। विहान = सवेरा। कूकरु = कुत्ता। पिड़ोर = बमन। सूकरु = सूअर। पुरीष = विष्टा। बायस = कौवा। दंत-कथा = लौकिक वार्ता। निरवान = मोक्ष।

अर्थः—जिस प्रकार गरीब मनुष्यको एक फूटी कौड़ी भी बड़ी सम्पत्तिके समान प्रिय लगती है, उल्लूको संध्या ही प्रभातके समान इष्ट होती है, कुत्तेको वमनही दहीके समान रुचिकर होता है, कौवेको नीमकी निबोरी दाखके समान प्रिय होती है, बच्चेको लौकिक वार्ताएँ (गप्पें) ही शास्त्रवत् रोचक होती हैं, हिंसक मनुष्यको हिंसाहीमें धर्म दिखता है, उसी प्रकार मूर्खको पुण्यबंधही मोक्षके समान प्रिय लगता है (ऐसा अधम पुरुष होता है) ॥ २१ ॥

अधमाधम पुरुषका स्वभाव (सवैया इकतीसा)

कुंजरकौं देखि जैसैं रोस करि भूंसै स्वान,
रोस करै निर्धन विलोकि धनवंतकौं ।
रैनके जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करै,
मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौं ।
हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै,
अभिमानी रोस करै देखत महंतकौं ।
सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै,
त्यौं ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं ॥ २२ ॥

शब्दार्थः— कुंजर = हाथी । रोस (रोष) = गुस्सा । स्वान = कुत्ता । विलोकि = देखकर । काग = कौआ । दुरजन = अधमसे भी अधम ।

अर्थः—जिस प्रकार कुत्ता हाथीको देखनेपर क्रोधित होकर भौंकता है, धनाढ्य पुरुषको देखकर निर्धन मनुष्य क्रोधित होता है, रातमें जागनेवालेको देखकर चोर क्रोधित होता है, सच्चा शास्त्र सुनकर मिथ्यात्वी जीव क्रोधित होता है, हंसको देखकर कौवा क्रोधित होता है, महापुरुषको देखकर घमंडी मनुष्य क्रोध करता है, सुकविको देखकर कुकविके मनमें क्रोध आता है, उसी प्रकार सत्पुरुषको देखकर अधमाधम पुरुष क्रोधित होता है ॥ २२ ॥

पुनः

सरलकौं सठ कहै वकताकौं धीठ कहै,
विनै करै तासौं कहै धनकौ अधीन है ।

छमीकौं निबल कहै दमीकौं अदत्ति कहै,
मधुर वचन बोलै तासौं कहै दीन है ॥
धरमीकौं दंभी निसप्रेहीकौं गुमानी कहै,
तिसना घटावै तासौं कहै भागहीन है ।
जहां साधुगुन देखै तिन्हकौं लगावै दोष,
ऐसौ कछु दुर्जनकौ हिरदौ मलीन है ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—सरल = सीधा । सठ = मूर्ख । वकता = बोलनेमें चतुर । विन (विनय) = नम्रता । छमी = क्षमा देनेवाला । दमी = संयमी । अदत्ति = कंजूस । दीन = गरीब । दंभी = ढोंगी । निसप्रेही (निस्पृही) = इच्छारहित । तिसना (तृष्णा) = लोभ । साधुगुन = सद्गुण ।

अर्थः—अधमाधम मनुष्य, सरल चित्त मनुष्यसे मूर्ख कहता है, जो बातचीतमें चतुर होवे उसे धीठ कहता है, विनयवानको धनके आश्रित बतलाता है, क्षमावानको कमजोर कहता है, संयमीको[१] कृपण कहता है, मधुभाषीको गरीब कहता है, धर्मात्माको ढोंगी कहता है, निस्पृहीको घमंडी कहता है, संतोषीको भाग्यहीन कहता है अर्थात् जहाँ सद्गुण देखता है वहाँ दोष लगाता है। दुर्जनका हृदय ऐसाही मलीन होता है ॥ २३ ॥

मिथ्यादृष्टीकी अहंबुद्धिका वर्णन (चौपाई)

मैं करता मैं कीन्ही कैसी ।
अब यौं करौं कहौ जो ऐसी ।
ए विपरीत भाव है जामैं ।
सो बरतै मिथ्यात दसामैं ॥ २४ ॥

---

[१] जो पान तम्बाकू आदि व्यसन नहीं करते अथवा अनावश्यक शृंगार चटक—मटक नहीं करते उनसे अज्ञानी लोग कंजूस—कृपण आदि कहते हैं ।

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ ८ ॥

अर्थः—मैं कहता हूँ मैंने यह कैसा काम किया (जो दूसरोंसे नहीं बन सकता), अब भी मैं जैसा कहता हूँ वैसाही करूँगा। जिसमें ऐसे अहंकार-रूप विपरीतभाव होते हैं वह मिथ्यादृष्टी होता है ॥ २४ ॥

पुनः (दोहा)

अहंबुद्धि मिथ्यादसा, धरै सो मिथ्यावंत।
विकल भयौ संसारमैं, करै विलाप अनंत ॥ २५ ॥

अर्थः—अहंकारका भाव मिथ्यात्व है, यह भाव जिस जीवमें होता है वह मिथ्यात्वी है। मिथ्यात्वी संसारमें दुखी हुआ भटकता है और अनेक प्रकारके विलाप करता है ॥ २५ ॥

मूढ़ मनुष्य विषयोंसे विरक्त नहीं होते (सवैया इकतीसा)

रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलिकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु है।
कालकै ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,
आरेके चलत मानौ काठ सौ कटतु है ॥
एते परि मूरख न खौजे परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है।
लगौ फिरै लोगनिसौं पग्यौ परै जोगनिसौं,
विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—जीवन = जिंदगी। जीवन = पानी। आरा = करौंत। परमारथ (परमार्थ) = मोक्ष। स्वारथ (स्वार्थ) = खुदगरजी। लोगनि = लौकिक-परवस्तु। पग्यौ = लीन। नेकु = किंचित् भी।

अर्थः—जिस प्रकार अंजुलिका पानी क्रमशः घटता है, उसी प्रकार सूर्यका उदय अस्त होता है और प्रतिदिन जिन्दगी घटती है। जिस प्रकार करौंत

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ ९ ॥

खींचनेसे काठ कटता है, उसी प्रकार काल शरीरको क्षण क्षणपर क्षीण करता है। इतनेपर भी अज्ञानी जीव मोक्षमार्गकी खोज नहीं करता और लौकिक स्वार्थके लिये अज्ञानका बोझा उठाता है, शरीर आदि परवस्तुओंसे प्रीति करता है, मन वचन कायके योगोंमें अहंबुद्धि करता है और सांसारिक विषय–भोगोंसे किंचित् भी विरक्त नहीं होता ॥ २६ ॥

अज्ञानी जीवकी मूढ़तापर मृगजल और अंधेका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं मृग मत्त वृषादित्यकी तपत माँहि,
तृषावंत मृषा-जल कारन अटतु है।
तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है।
आगेकौं धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसैं नैन हीन नर जेवरी बटतु है।
तैसैं मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—वृषादित्य = वृष[१] संक्रान्तिका सूर्य। तृषावंत = प्यासा। मृषा = झूठा। अटतु है = भटकता है। नटतु है = नाचता है। नैनहीन नर = अंधा मनुष्य।

अर्थः—जिस प्रकार ग्रीष्मकालमें सूर्यका तीव्र आताप होनेपर प्यासा मृग उन्मत्त होकर मिथ्याजलकी ओर व्यर्थही दौड़ता है, उसी प्रकार संसारी जीव मायाहीमें कल्याण सोचकर मिथ्या कल्पना करके संसारमें नाचते हैं। जिस प्रकार अंध मनुष्य आगेको रस्सी बटता (भाँजता) जावे और पीछेसे बछड़ा खाता जावे, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया करता है वा शुभक्रियाके फलमें हर्ष और अशुभक्रियाके फलमें विषाद करके क्रियाका फल खो देता है ॥ २७ ॥

---

[१] जेठ महीनेमें सूर्य वृष संक्रान्तिपर आता है।

अज्ञानी जीव बंधनसे न सुलझ सकनेपर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

लियैं द्रिढ़ पेच फिरै लोटन कबूतरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है ।
जाकौ फल दुख ताहि सातासौं कहत सुख,
सहत-लपेटी असि-धारासी चटतु है ॥
ऐसैं मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंही,
यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है ।
याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यौं फटतु है ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—द्रिढ़ (दृढ़) = मजबूत । सहत (शहद) = मधु । असि = तलवार । निसिवासर = रात-दिन । परस (स्पर्श) = छूना ।

अर्थः—जिस प्रकार लोटन कबूतरके पंखोंमें मजबूत पेंच लगे होनेसे वह उलट-पुलट फिरता है, उसी प्रकार संसारी जीव अनादि कालसे कर्म-बन्धनके पेंचमें उलटा हो रहा है, कभी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता, और जिसका फल दुःख है, ऐसी विषय-भोगकी किंचित् साताको सुख मानकर शहद लपेटी तलवारकी धारको चाटता है। ऐसा अज्ञानी जीव सदाकाल परवस्तुओंको मेरी मेरी कहता है और अपनी ज्ञानादि विभूतिको नहीं देखता, परद्रव्यके इस ममत्वभावसे आत्महित ऐसा नष्ट हो जाता है जैसे कि कांजीके स्पर्शसे दूध फट जाता है ॥ २८ ॥

अज्ञानी जीवकी अहंबुद्धिपर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

रूपकी न झाँक हीयैं करमकौ डांक पियैं,
ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घनमैं ।
लोचनकी ढांकसौं न मानै सदगुरु हांक,
डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूं पनमैं ॥
टांक एक मांसकी डलीसी तामैं तीन फांक,
तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमैं ।

तासौं कहै नांक ताके राखिवैकौं करै कांक,
लांकसौं खड़ग बांधि बांक धरै मनमैं ॥२९॥

शब्दार्थः—मिरगांक (मृगांक) = चन्द्रमा। ढांक = ढक्कन। हांक = पुकार। टांक (टंक) = तोलनेका एक बाट (चार माशे)। फांक = खण्ड। कांक = झगड़ा। लांक (लंक) = कमर। खड़ग (खड्ग) = तलवार। बांक = वक्रता।

अर्थः—अज्ञानी जीवको अपने स्वरूपकी खबर नहीं है, उस पर कर्मोंदयका डांक[1] लग रहा है, उसका शुद्ध ज्ञान ऐसा दब रहा है जसे कि चन्द्रमा मेघोंसे दब जाता है.। ज्ञाननेत्र ढँक जानेसे वह सद्‌गुरुकी शिक्षा नहीं मानता, मूर्खतावश दरिद्री हुआ सदैव निःशंक फिरता है। नाक है सो मांसकी एक डली है, उसमें तीन फाँक है, मानो किसीने शरीरमें तीनका अंकही लिख रक्खा है, उसे नाक कहता है, उस नाक (अहंकार) के रखनेको लड़ाई करता है, कमरसे तलवार बाँधता है और मनमें वक्रता ग्रहण करता है ॥ २९ ॥

अज्ञानीकी विषयासक्ततापर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोउ कूकर छुधित सूके हाड़ चाबै,
हाड़निकी कोर चहुं ओर चुभैं मुखमैं।
गाल तालु रसना मसूढ़निकौ मांस फाटै,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुखमैं॥
तैसैं मूढ़ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामैं चित्त सानै हित मानै खेद दुखमैं।
देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत-खानि,
गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं॥ ३० ॥

शब्दार्थः—पगि रहै = मग्न हो रहै। रुख = द्वेष।

अर्थः—जिस प्रकार भूखा कुत्ता हड्डी चबाता है और उसकी नौंक चारों

---

[1] सफेद कांचपर जिस रंगका डाँक लगाया जाता है, उसी रंगका काँच दिखने लगता है। उसी प्रकार जीवरूप काँचपर कर्मका डाँक लग रहा है, सो कर्म जैंसा रस देता है, जीवात्मा उसी रूप हो जाता है।

ओरसे मुखमें चुभ जाती है, जिससे गाल, तालु, जीभ तथा जवड़ोंका मांस फट जाता है और खून निकलता है, उस निकले हुए अपने ही रक्तको वह बड़े स्वादसे चाटता हुआ आनंदित होता है। उसी प्रकार अज्ञानी विषयलोलुपी जीव काम–भोगमें आसक्त होकर संताप और कष्टमें भलाई मानता है। कामक्रीड़ामें शक्तिकी हानि और मल–मूत्रकी खानि साक्षात् दिखती है, तो भी ग्लानि नहीं करता, राग–द्वेषमें मग्न ही रहता है ॥ ३० ॥

जो निर्मोही है वह साधु है (अडिल्ल)

सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ ।
मोह-विकलता मानि, मिथ्याती ह्वै रह्यौ ॥
करै विकल्प अनंत, अहंमति धारिकै ।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त निवारिकै ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—अहंमति = अहंबुद्धि। निवारिकै = दूर करके।

अर्थः—वास्तवमें आत्मा कर्मोंसे निराला है, परन्तु मोहके कारण स्वरूपको भूलकर मिथ्यात्वी बन रहा है और शरीर आदिमें अहंबुद्धि करके अनेक विकल्प करता है। जो जीव परद्रव्योंसे ममत्वभाव छोड़कर आत्मस्वरूपमें स्थिर होता है वह साधु है ॥ ३१ ॥

सम्यग्दृष्टी जीव आत्मस्वरूपमें स्थिर होते हैं (सवैया इकतीसा)

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं ।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत हैं ॥

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १० ॥

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति संतो धृतिम् ॥ ११ ॥

निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वैकै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—असंख्यात लोक परवांन = जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं। उकत = कहा हुआ। नियत = निश्चयनय। मुकत = छूटे हुए।

अर्थः—जिनराजका कथन है कि जीवके जो लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर मिथ्यात्वभावके अध्यवसाय हैं वे व्यवहारनयसे हैं। जिस जीवको मिथ्यात्व नष्ट होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह व्यवहार छोड़कर निश्चयमें लीन होता है, वह विकल्प और उपाधिरहित आत्म-अनुभव ग्रहण करके दर्शन–ज्ञान–चारित्र-रूप मोक्षमार्गमें लगता है और वही परमध्यानमें स्थिर होकर निर्वाण प्राप्त करता है, कर्मोंका रोका नहीं रुकता ॥ ३२ ॥

शिष्यका प्रश्न (कवित्त)

जे जे मोह करमकी परनति,
बंध-निदान कही तुम सब्ब।
संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं,
तिन्हकौ मूल हेतु कहु अब्ब ॥
कै यह सहज जीवकौ कौतुक,
कै निमित्त है पुग्गल दब्ब।
सीस नवाइ शिष्य इम पूछत,
कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब ॥ ३३ ॥

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु, तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—परनति = चाल। निदान = कारण। संतत = सदैव। मूल हेतु = मुख्य कारण। कौतुक = खेल।

अर्थः—शिष्य मस्तक नवाकर प्रश्न करता है कि हे गुरुजी! आपने मोह-कर्मकी सब परिणति बंधका कारण कही है, सो वह शुद्ध चैतन्यभावोंसे सदा निराली ही है। अब कहिये बंधका मुख्य कारण क्या है? बंध जीवका ही स्वाभाविक धर्म है अथवा इसमें पुद्‌गल द्रव्यका निमित्त है? इसपर श्रीगुरु उत्तर देते हैं, कि हे भव्य! सुनो ॥ ३३ ॥

शिष्यकी शंकाका समाधान (सवैया इकतीसा)

जैसैं नाना बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ,
उज्जल विमल मनि सूरज-करांति है।
उज्जलता भासै जब वस्तुकौ विचार कीजै,
पुरीकी झलकसौं बरन भांति भांति है॥
तैसैं जीव दरबकौं पुग्गल निमित्तरूप,
ताकी ममतासौं मोह मदिराकी मांति है।
भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहां,
सांची सुद्ध चेतना अवाची सुख सांति है॥ ३४॥

शब्दार्थः—नाना बरन = अनेक रंग। पुरी = डांक। हेठ = नीचे। करांति (क्रान्ति) = चमक। मांति = उन्मत्तता। अवाची = वचन-अगोचर।

अर्थः—जिस प्रकार स्वच्छ और सफेद सूर्यक्रान्ति अथवा स्फटिकमणिके नीचे अनेक प्रकारके डाँक लगाये जावें तो वह अनेक प्रकारका रंग-विरंगा दिखने लगता है, और यदि वस्तुका असली स्वरूप विचार किया जावे तो उज्ज्वलता ही ज्ञात होती है, उसी प्रकार जीवद्रव्यमें पुद्‌गलके निमित्तसे उसकी ममताके कारण मोह-मदिराकी उन्मत्तता होती है, पर भेदविज्ञान द्वारा स्वभाव सोचा जावे, तो सत्य और शुद्ध चैतन्यकी वचनातीत सुख-शान्ति प्रतीत होती है॥ ३४॥

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ १३॥

पुनः

जैसें महिमंडलमैं नदीकौ प्रवाह एक,
ताहीमैं अनेक भांति नीरकी ढरनि है।
पाथरकौ जोर तहां धारकी मरोर होति,
कांकरकी खांनि तहां झागकी झरनि है॥
पौंनकी झकोर तहां चंचल तरंग ऊठै,
भूमिकी निचांनि तहां भौंरकी परनि है।
तैसें एक आतमा अनंत-रस पुदगल,
दुहूंके संजोगमैं विभावकी भरनि है॥ ३५॥

शब्दार्थः—पाथर = पत्थर। झाग = फेन। पौंन = हवा। निचांनि = ढाल।

अर्थः—जिस प्रकार कि पृथ्वीतलपर यद्यपि नदीका प्रवाह एकरूप होता है, तो भी पानीकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् जहाँ पत्थरसे ठोकर खाता है वहाँ पानीकी धार मुड़ जाती है, जहाँ रेतका समूह होता है वहाँ फेन पड़ जाता है, जहाँ हवाका झकोरा लगता है वहाँ लहरें उठती हैं, जहाँ धरती ढालू होती है वहाँ भँवर पड़ती है। उसी प्रकार एक आत्मामें भाँति भाँतिके पुद्गलोंका संयोग होनेसे अनेक प्रकारकी विभावपरिणति होती है॥ ३५॥

जड़ और चैतन्यकी पृथक्ता (दोहा)

चेतन लच्छन आतमा, जड़ लच्छन तन-जाल।
तनकी ममता त्यागिकै, लीजै चेतन-चाल॥ ३६॥

अर्थः—आत्माका लक्षण चेतना है और शरीर आदिका लक्षण जड़ है, सो शरीर आदिसे ममत्व छोड़कर शुद्ध चैतन्यका ग्रहण करना उचित है॥ ३६॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥ १४॥

आत्माकी शुद्ध परिणति (सवैया तेईसा)

जो जगकी करनी सब ठानत,
जो जग जानत जोवत जोई।
देह प्रवांन पैं देहसौं दूसरौ,
देह अचेतन चेतन सोई॥
देह धरैं प्रभु देहसौं भिन्न,
रहैं परछन्न लखै नहि कोई।
लच्छन वेदि विचच्छन बूझत,
अच्छनसौं परतच्छ न होई॥ ३७॥

शब्दार्थः—जोवत = देखता है। प्रवांन = बराबर। परछन्न (प्रच्छन्न) = गुप्त, ढँका हुआ। वेदि = जानकर। विचच्छन = ज्ञानी। बूझत = समझता है। अच्छनसौं = इन्द्रियोंसे। परतच्छ (प्रत्यक्ष) = प्रगट।

अर्थः—जो संसारकी सब क्रियाएँ[1] करता है, जो जगतको जानने-देखनेवाला है, जो शरीरके बराबर रहता है, पर शरीरसे पृथक् है। क्योंकि शरीर जड़ है और वह चैतन्य है, वह प्रभु (आत्मा) यद्यपि देहमें है पर देहसे निराला है, वह ढँका हुआ रहता है, सबको दिखाई नहीं देता, ज्ञानी लोग लक्षण आदिसे उसे पहिचानते हैं, वह इन्द्रियगोचर नहीं है॥ ३७॥

शरीरकी अवस्था (सवैया तेईसा)

देह अचेतन प्रेत-दरी रज,—
रेत-भरी मल-खेतकी क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट,
उपाधिकी जोट समाधिसौं न्यारी॥

---

[1] चतुर्गति गमन, राग–द्वेष आदि।

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः॥ १५॥

रे जिय! देह करै सुख हानि,
इते पर तौ तोहि लागत प्यारी।
देह तौ तोहि तजेगी निदान पै,
तूही तजै किन देहकी यारी॥ ३८॥

शब्दार्थः—प्रेत-दरी = मुर्दखाना। रज = रक्त। रेत = वीर्य। क्यारी = बाड़ी। पोट = गठरी। अराधि = आत्मस्वरूप। उपाधि = क्लेश। जोट = समूह।

अर्थः—देह जड़ है मानों एक मुर्दखाना ही है। वह रज और वीर्यसे भरी हुई है, मल-मूत्ररूपी खेतकी क्यारी है, रोगोंकी गठरी है, आत्माके स्वरूपको ढँकनेवाली है, कष्टोंकी समुदाय है और आत्मध्यानसे पृथक् है। हे जीव! यह देह सुखका घात करती है, तो भी तुझे प्रिय लगती है, आखिरको यह तुझे छोड़ेगी ही, फिर तू ही इससे अनुराग क्यों नहीं छोड़ देता?॥ ३८॥

पुनः (दोहा)

सुन प्रानी सदगुरु कहै, देह खेहकी खांनि।
धरै सहज दुख दोषकौं, करै मोखकी हांनि॥ ३९॥

शब्दार्थः—खेह = मिट्टी। सहज = स्वभावसे।

अर्थः—श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि हे जीव! शरीर मिट्टीकी खदान है, स्वभावसे ही दुख और दोषमय है तथा मोक्षसुखमें बाधक है॥ ३९॥

पुनः (सवैया तेईसा)

रेतकीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसानकीसी,
अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैलकी।
ऊपरकी चमक दमक पट भूषनकी,
धोखै लागै भली जैसी कली है कनैलकी॥
औगुनकी औंडी महा भौंडी मोहकी कनौडी,
मायाकी मसूरति है मूरति है मैलकी।

ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हूकेसे बैलकी ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—गढ़ी = छोटा गढ़ या किला। मढ़ी = छोटा मंदिर—देवली। कंदरा = गुफा। सैल = पहाड़। कली है कनैलकी = कनैरके फूलकी कली। औंडी = गहरी। भौंडी = खराब, भद्दी। कनौडी = कानी आँख। मसूरति = आधार।

अर्थः—यह देह बालूकी गढ़ीके समान अथवा मरघटकी मढ़ीके समान है और भीतर पर्वतकी गुफाके समान अंधकारमय है। ऊपरकी चमक-दमक और वस्त्र-आभूषणोंसे अच्छी दिखती है, परन्तु कनैरकी कलीके समान दुर्गंधित है, अवगुणोंसे भरी हुई, अत्यन्त खराब और कानी आँखके समान निकम्मी है, मायाका समुदाय और मैलकी मूर्ति ही है। इसहीके प्रेम और संगसे हमारी बुद्धि कोल्हूके बैलके समान हो गई है, जिससे संसारमें सदा भ्रमण करना पड़ता है ॥ ४० ॥

पुनः

ठौर ठौर रकतके कुंड केसनिके झुंड,
हाड़निसौं भरी जैसे थरी है चुरैलकी।
नैकुसे[1] धकाके लगै ऐसै फटिजाय मानौ,
कागदकी पूरी किधौं चादरि है चैलकी ॥
सूचै भ्रम वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचांनि,
करै सुख हानि अरु खांनि बदफैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति[2] कोल्हूकेसे बैलकी ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—ठौर ठौर = जगह जगह। केसनिके = बालोंके। झुंड = समूह। थरी (स्थल) = स्थान। चुरैल = भूतनी। पुरी = पुड़िया। वांनि = टेव। चैल = कपड़ा। बदफैल = बुरे काम।

---

[1] 'थोरसे' भी पाठ है। [2] 'गति' भी पाठ है।

22-2.68

अर्थः—इस देहमें जगह जगह रक्तके कुण्ड और बालोंके झुण्ड हैं, यह हड्डियोंसे भरी हुई है, मानो चुड़ैलोंका निवासस्थान ही है। जरासा धक्का लगनेसे ऐसे फट जाती है जैसे कागजकी पुड़िया अथवा कपड़ेकी पुरानी चद्दर, यह अपने अथिर स्वभावको प्रगट करती है, पर मूर्ख लोग इससे स्नेह लगाते हैं। यह सुखकी घातक और बुराइयोंकी खानि है। इसहीके प्रेम और संगसे हमारी बुद्धि कोल्हूके बैलके समान संसारमें चक्कर लगानेवाली हो गई है॥ ४१॥

संसारी जीवोंकी दशा कोल्हूके बैलके समान है

(सवैया इकतीसा)

पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
धायबो ही धंधा अरु कंधामांहि लग्यौ जोत,
बार बार आर सहै कायर है मनकौ॥
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल,
तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ॥४२॥

शब्दार्थः—पाटी = पट्टी। लोचनिसौं = नेत्रोंसे। सकुचै = सिकुड़ता है। कौचनिके = चाबुकोंके। धायबौ = दौड़ना। आर = एक प्रकारका अंकुश। कायर = साहसहीन। त्रास = दुख। उसास = विश्राम। कमेरौ (कमाऊ) = निरन्तर जुतनेवाला।

अर्थः—संसारी जीवोंकी दशा कोल्हूके[1] बैलके समान हो रही है, वह इस प्रकार है कि—नेत्रोंपर ढंकना बँधा हुआ है, स्थानकी कमीके कारण दबोचसे

---

[1] संसारी जीवोंके नेत्रोंपर अज्ञानकी पट्टी बंधी हुई है, वे परिमित क्षेत्रसे आगे नहीं जा सकते, यह उनके लिये दबोचनी है, स्त्री आदिके तीखे वचन चाबुक हैं, विषय–सामग्रीके लिये भटकना उनका धंधा है, गृहस्थी छोड़कर निकल नहीं सकते यह उनपर जोत है, कषाय चिंता आदि अरई हैं, परिग्रह-संग्रहके लिये भूख–प्यास सहते हैं, स्वामी राजा आदिका त्रास सहना पड़ता है, कर्मोंकी पराधीनता है, अनंतकाल चक्कर लगाते हो चुका पर एक क्षणभरके लिये भी सच्चा सुख नहीं पाया।

सिकुड़ासा रहता है, चाबुककी मारके डरसे शरीरके कष्टकी जरा भी परवाह नहीं करता, दौड़ना ही उसका काम है, उसके कंधेमें जोत लगा हुआ है (जिससे निकल नहीं सकता), हर समय अरईकी मार सहता हुआ मनमें हत-साहस होता है, भूख-प्यास और निर्दय पुरुषों द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है, क्षणभर भी विश्राम लेनेकी थिरता नहीं पाता और पराधीन हुआ चक्कर लगाता है ॥ ४२ ॥

संसारी जीवोंकी हालत (सवैया इकतीसा)

जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप धरैं,
प्रेतकेसे दीप किधौं रेतकेसे थूहे हैं ।
दीसैं पट भूषन आडंबरसौं नीके फिरि,
फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं ॥
मोहके अनल दगे मायाकी मनीसौं पगे,
डाभकी अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं ।
धरमकी बूझ नांहि उरझे भरममांहि,
नाचि नाचि मरि जांहि मरीकेसे चूहे हैं ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—डोलैं = फिरैं । प्रेतकेसे दीप = मरघटपर जो चिराग जलाया जाता है । रेतकेसे थूहे = रेतके टीले । नीके = अच्छे । फीके = मलीन । सांझ-अंबर = संध्याका आकाश । अनल = अग्नि । दगे = दाहे जले । डाभकी = दूब-घासकी । अनी = नोंक । फूहे = बिन्दु । बूझ = पहिचान । मरी = प्लेग ।

अर्थः—संसारी जीव मनुष्य आदिका शरीर धारण करके भटक रहे हैं, सो मरघटके दीपक[1] तथा रेतके [2]टीलेके समान क्षणभंगुर हैं । वस्त्र-आभूषण आदिसे अच्छे दिखाई देते हैं परन्तु साँझके आकाशके समान क्षणभरमें मलिन हो जाते हैं । वे मोहकी अग्निसे जलते हैं फिर भी मायाकी ममतामें लीन होते हैं और घासपर पड़ी हुई ओसकी बूंदके समान क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं । उन्हें निज-

---

[1] जल्दी बुझ जाता है, कोई थाँमनेवाला नहीं है ।

[2] मारवाड़में वायुके निमित्तसे बालूके टीले बन जाते हैं और फिर मिट जाते हैं ।

स्वरूपकी पहिचान नहीं है, भ्रममें भूल रहे हैं और प्लेगके चूहोंके[1] समान नाच-नाचकर शीघ्र मर जाते हैं ॥ ४३ ॥

धन सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपदेश (सवैया इकतीसा)

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधनि अडारी ऐसैं जैसै नाक सिनकी ।
ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ,
नरककी साई है बड़ाई डेढ़ दिनकी ॥
घेरा मांहि परयौ तू विचारै सुख आंखिनकौ,
माखिनके चूटत मिठाई जैसै भिनकी ।
एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,
जगमैं असाता है न साता एक छिनकी ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—अडारी = छोड़ी । साई = बयाना । घेरा = चक्कर ।

अर्थः—हे संसारी जीवो ! जिसे तुम कहते हो कि यह हमारा धन है, उसे साधुजन इस तरह छोड़ देते हैं जिस तरह कि नाकका मैल छिनक दिया जाता है और फिर ग्रहण नहीं किया जाता। जिस धनके लिये तुम कहते हो कि पुण्यके निमित्तसे पाया है सो डेढ़ दिनका बड़प्पन है पीछे नरकोंमें पटकनेवाला है, अर्थात् पापरूप है। तुम्हें इससे आँखोंका सुख दिखता है, इसके कारण तुम कुटुम्बीजन आदिसे ऐसे घिर रहे हो जैसे मिठाईके ऊपर मक्खियां भिनभिनाती हैं। आश्चर्य है कि इतनेपर भी संसारी जीव संसारसे विरक्त नहीं होते, सच पूछो तो संसारमें असाता ही असाता है क्षणमात्रको भी साता नहीं है ॥ ४४ ॥

लौकिक जनोंसे मोह हटानेका उपदेश (दोहा)

ए जगवासी यह जगत, इन्हसौं तोहि न काज ।
तेरै घटमैं जग बसै, तामैं तेरौ राज ॥ ४५ ॥

---

[1] जब चूहोंपर प्लेगका आक्रमण होता है तो वे बिल आदिसे निकलकर भूमिपर गिरते हैं और बड़ी बेचैनीके साथ दो चक्कर लगाकर शीघ्र मर जाते हैं।

अर्थः—हे भव्य ! ये संसारी जीव और इस संसारसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम्हारे ज्ञानघटमें[१] समस्त संसारका समावेश है और उसमें तुम्हारा ही राज्य है ॥ ४५ ॥

शरीरमें त्रिलोकके विलास गर्भित हैं (सवैया इकतीसा)

याही नर-पिंडमैं विराजै त्रिभुवन थिति,
याहीमैं त्रिविधि-परिनामरूप सृष्टि है ।
याहीमैं करमकी उपाधि दुख दावानल,
याहीमैं समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है ॥
याहीमैं करतार करतूति हीमैं विभूति,
यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है ।
याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप,
ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है ॥४६॥

शब्दार्थः—नर-पिंड = मनुष्यशरीर । त्रिविध = उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप । वारिद = बादल । घृष्टि = घिसना । गर्भित = समावेश ।

अर्थः—इसी मनुष्य-शरीरमें तीन[२] लोक मौजूद हैं, इसीमें तीनों प्रकारके परिणाम[३] हैं, इसीमें कर्म-उपाधिजनित दुखरूप अग्नि है, इसीमें आत्म-ध्यानरूप सुखकी मेघवृष्टि है, इसमें कर्मका कर्ता आत्मा है, इसीमें उसकी क्रिया है, इसीमें ज्ञान-संपदा है, इसीमें कर्मका भोग वा वियोग है, इसीमें भले-बुरे गुणोंका संघर्षण है और इसी देहमें सब विलास गुप्तरूप गर्भित हैं; परन्तु जिसके अंतरंगमें सम्यग्ज्ञान है उसे ही सब विलास विदित होते हैं ॥ ४६ ॥

---

[१] निर्मल ज्ञानमें समस्त लोक–अलोक प्रतिबिम्बित होते हैं ।

[२] कटिके नीचे पाताल लोक, नाभि मध्यलोक और नाभिसे ऊपर ऊर्ध्वलोक !

[३] उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ।

आत्मविलास जाननेका उपदेश (सवैया तेईसा)

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु,
तू अपनौं पद बूझत नांही।
खोजु हियें निज चेतन लच्छन,
है निजमैं निज गूझत नांही॥
सुद्ध सुछंद सदा अति उज्जल,
मायाके फंद अरूझत नांही।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं,
तोहीमैं है तोहि सूझत नांही॥ ४७॥

शब्दार्थः—रुचिवंत = भव्य। पचारि = बुलाकर। बूझत = पहिचानते। हियें = घटमें। गूझत नाहीं = उलझता नहीं है। सुछंद = स्वतंत्र। उज्जल = निर्मल। अरूझत नाहीं = छूटता नहीं। दुंद (द्वंद) = भ्रमजाल। दोही = दुविधा।

अर्थः—श्रीगुरु बुला करके कहते हैं कि हे भव्य! तुम अपने स्वरूपको पहिचानते नहीं हो, अपने घटमें चैतन्य-चिह्न ढूंढ़ो, वह अपनेहीमें है, अपनेसे उलझता नहीं है, तुम शुद्ध स्वाधीन और अत्यन्त निर्विकार हो, तुम्हारी आत्मसत्ता-पर मायाका प्रवेश नहीं है। तुम्हारा स्वरूप भ्रमजाल और दुविधासे रहित है जो तुम्हें सूझता नहीं है॥ ४७॥

आत्मस्वरूपकी पहिचान ज्ञानसे होती है (सवैया तेईसा)

केई उदास रहैं प्रभु कारन,
केई कहैं उठि जांहि कहींकै।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति,
केई पहार चढ़ैं चढ़ि छींकै॥
केई कहैं असमानके ऊपरि,
केई कहैं प्रभु हेठि जमींकै।

मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर,
मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—उदास =विरक्त । गढ़ि =बनाकर । मूरति (मूर्ति) = प्रतिमा । पहार (पहाड़) = पर्वत । असमांन (आसमान) = ऊर्ध्वलोक । हेठि = नीचे । जमीं (जमीन) = धरती । दिसन्तर (देशान्तर) = अन्य क्षेत्र, विदेश ।

अर्थः—आत्माको जानने अर्थात् ईश्वरकी खोज करनेके लिये कोई तो बाबाजी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्रमें यात्रा आदिको जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमन पूजन करते हैं, कोई छींकेपर[1] बैठ पहाड़ोंपर चढ़ते हैं, कोई कहते हैं कि ईश्वर आसमानमें है और कोई कहते हैं कि पातालमें है; परन्तु हमारा प्रभु दूरदेशमें नहीं है—हमहीमें है सो हमें भले प्रकार अनुभवमें आता है ॥ ४८ ॥

पुनः (दोहा)

कहै सुगरु जो समकिती, परम उदासी होइ ।
सुथिर चित्त अनुभौ करै, प्रभुपद परसै सोइ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—परम = अत्यन्त । उदासी = वीतरागी । परसै = प्राप्त करे ।

अर्थः—श्रीगुरु कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टी अत्यन्त वीतरागी होकर मनको खूब स्थिर करके आत्म-अनुभव करता है वही आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

मनकी चंचलता (सवैया इकतीसा)

छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन,
छिनकमैं दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है ।
लियैं दौर धूप छिन छिनमैं अनंतरूप,
कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है ॥
नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ,
धारकौसौ भौंर कि कुंभारकौसौ चक्र है ।

---

[1] बुंदेलखंडमें सींका कहते हैं ।

ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसै होई,
ओरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है ॥५०॥

शब्दार्थः—प्रवीण = चतुर। सक्र (शक्र) = इन्द्र। ठानत = करता है। मथान = बिलोवना। तक्र = छाँछ। थार = थाली। हार = माला। चक्र = चाक। भ्रामक = भ्रमण करनेवाला। चंचल = चपल। वक्र = टेढ़ा।

अर्थः—यह मन क्षणभरमें पंडित बन जाता है, क्षणभरमें मायासे मलिन हो जाता है, क्षणभरमें विषयोंके लिये दीन होता है, क्षणभरमें गर्वसे इन्द्र जैसा बन जाता है, क्षणभरमें जहाँ तहाँ दौड़ लगाता है और क्षणभरमें अनेक वेष बनाता है। जिस प्रकार दही बिलोवनेपर छाँछकी गड़गड़ी होती है वैसा कोलाहल मचाता है; नटका थाल, रहटकी माला, नदीकी धारका भँवर अथवा कुंभारके चाकके समान घूमताही रहता है। ऐसा भ्रमण करनेवाला मन आज कैसे स्थिर हो सकता है, जो स्वभावसे ही चंचल और अनादिकालसे वक्र है ॥ ५० ॥

मनकी चंचलतापर ज्ञानका प्रभाव (सवैया इकतीसा)

धायौ सदा काल पै न पायौ कहूं साचौ सुख,
रूपसौं विमुख दुखकूपवास बसा है।
धरमकौ घाती अधरमकौ संघाती महा,
कुरापाती जाकी संनिपातकीसी दसा है॥
मायाकौं झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीरमैं बहीरकौसौ ससा है।
ऐसौ मन चंचल पताकासौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है॥५१॥

शब्दार्थः— धायौ = दौड़ा। विमुख = विरुद्ध। संघाती = साथी। कुरापाती = उपद्रवी। गहै = पकड़े। बहीर = बहेलिया। ससा (शशा) = खरगोश। पताका = ध्वजा। अंचल = कपड़ा।

अर्थः—यह मन सुखके लिये हमेशासे ही भटकता रहा है पर कहीं सच्चा

सुख नहीं पाया। अपने स्वानुभवके सुखसे विरुद्ध हुआ दुःखोंके कुएमें पड़ रहा है। धर्मका घाती, अधर्मका संगाती, महा उपद्रवी, सन्निपातके रोगीके समान असावधान हो रहा है। धन सम्पत्ति आदिको फुर्तीके साथ ग्रहण करता है और शरीरसे मुहब्बत लगाता है, भ्रमजालमें पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है जैसा शिकारीके घेरेमें खरगोश भ्रमण करता है। यह मन पताकाके वस्त्रके समान चंचल है, वह ज्ञानका उदय होनेसे मोक्षमार्गमें प्रवेश करता है॥ ५१॥

मनकी स्थिरताका प्रयत्न (दोहा)

जो मन विषै कषायमैं, बरतै चंचल सोइ।
जो मन ध्यान विचारमौं, रुकै सु अविचल होइ॥५२॥

शब्दार्थः—रुकै = ठहरे। अविचल = स्थिर।

अर्थः—जो मन विषय कषाय आदिमें वर्तता है वह चंचल रहता है और जो आत्मस्वरूपके चिंतवनमें लगा रहता है वह स्थिर हो जाता है॥ ५२॥

पुनः (दोहा)

तातैं विषै कषायसौं, फेरि सु मनकी बांनि।
सुद्धातम अनुभौविषै, कीजे अविचल आनि॥५३॥

शब्दार्थः—बांनि = आदत-स्वभाव। अविचल = स्थिर। आनि = लाकर।

अर्थः—इससे मनकी प्रवृत्ति विषय कषायसे हटाकर उसे शुद्ध आत्मअनुभवकी ओर लाओ और स्थिर करो॥ ५३॥

आत्मानुभव करनेका उपदेश (सवैया इकतीसा)

अलख अमूरति अरूपी अविनासी अज,
निराधार निगम निरंजन निरंध है।
नानारूप भेस धरै भेसकौ न लेस धरै,
चेतन प्रदेस धरै चेतनकौ खंध है॥

मोह धरै मोहीसौ विराजै तोमैं तोहीसौ,
न तोहीसौ न मोहीसौ न रागी निरबंध है ॥
ऐसौ चिदानंद याही घटमें निकट तेरे,
ताहि तू विचारु मन और सब धंध है ॥५४॥

शब्दार्थः—अमूरति (अमूर्ति) = आकार रहित । अविनासी = नित्य । अज = जन्म-रहित । निगम = ज्ञानी । निरंध = अखंड । खंध (स्कंध)= पिंड । धंध (द्वंद)= द्विविधा ।

अर्थः—यह आत्मा अलख, अमूर्तीक, अरूपी, नित्य, अजन्म, निजाधार, ज्ञानी, निर्विकार और अखंड है। अनेक शरीर धारण करता है पर उन शरीरोंके किसी अंशरूप नहीं हो जाता, चेतन प्रदेशोंको धारण किये हुए चैतन्यका पिण्डही है। जब आत्मा शरीर आदिसे मोह करता है तब मोही हो जाता है और जब अन्य वस्तुओंमें राग करता है तब उनरूप हो जाता है, वास्तवमें न शरीररूप है और न अन्य वस्तुओं रूप है, वह बिलकुल वीतरागी और कर्मबंधसे रहित है। हे मन ! ऐसा चिदानन्द इसी घटमें तेरे निकट है उसका तू विचार कर, उसके सिवाय और सब जंजाल है ॥ ५४ ॥

आत्मानुभव करनेकी विधि (सवैया इकतीसा)

प्रथम सुद्रिष्टिमैं सरीररूप कीजै भिन्न,
तामें और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये ।
अष्ट कर्म भावकी उपाधि सोऊ कीजै भिन्न,
ताहूमें सुबुद्धिकौ विलास भिन्न जानिये ॥
तामें प्रभु चेतन विराजत अखंडरूप,
वहै श्रुत ग्यानके प्रवांन उर आनिये ।
वाहीकौ विचार करि वाहीमैं मगन हूजै,
वाकौ पद साधिबेकौं ऐसी विधि ठानिये ॥५५॥

शब्दार्थः—शरीर = औदारिक, वैक्रियक, आहारक । सूच्छम सरीर (सूक्ष्मशरीर) = तैजस, कार्माण । अष्ट कर्म भावकी उपाधि = राग-द्वेष-मोह । सुबुद्धिकौ विलास = भेदविज्ञान ।

अर्थः— पहले भेदविज्ञानसे स्थूल शरीरको आत्मासे भिन्न मानना चाहिये, फिर उस स्थूल शरीरमें तैजस कार्माण सूक्ष्म शरीर हैं, उन्हें भिन्न जानना उचित है। पश्चात् अष्ट कर्मकी उपाधिजनित राग-द्वेषोंको भिन्न करना और फिर भेदविज्ञानको भी भिन्न मानना चाहिये। उस भेदविज्ञानमें अखंड आत्मा विराजमान है, उसे श्रुतज्ञानप्रमाण वा नय निक्षेप आदिसे निश्चित करके उसीका विचार करना और उसीमें लीन होना चाहिये। मोक्षपद पानेकी निरंतर ऐसी ही रीति है ॥ ५५ ॥

आत्मानुभवसे कर्मबंध नहीं होता (चौपाई)

इहि विधि वस्तु व्यवस्था जानै ।
रागादिक निज रूप न मानै ॥
तातैं ग्यानवंत जगमांही ।
करम बंधकौ करता नांही ॥ ५६ ॥

अर्थः—संसारमें सम्यग्दृष्टी जीव ऊपर कहे अनुसार आत्माका स्वरूप जानता है और राग-द्वेष आदिको अपना स्वरूप नहीं मानता इससे वह कर्मबंधका कर्त्ता नहीं है ॥ ५६ ॥

भेदज्ञानीकी क्रिया (सवैया इकतीसा)

ग्यानी भेदग्यानसौं विलेछि पुदगल कर्म,
आतमीक धर्मसौं निरालो करि मानतौ ।
ताकौ मूल कारन असुद्ध राग भाव ताके,
नासिबेकौं सुद्ध अनुभौ अभ्यास ठानतौ ॥

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतम्
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १६ ॥

याही अनुक्रम पररूप सनबंध त्यागि,
आपमांहि अपनौ सुभाव गहि आनतौ ।
साधि सिवचाल निरबंध होत तिहूं काल,
केवल विलोक पाइ लोकालोक जानतौ ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः—विलेछि = जुदा जानना । निरालौ = भिन्न । अनुक्रम = सिलसिला । साधि = सिद्ध करके । सिवचाल = मोक्षमार्ग । निरबंध = बंधरहित । विलोक = ज्ञान ।

अर्थः—ज्ञानी जीव भेदविज्ञानके प्रभावसे पुद्गलकर्मको जुदा जानता है और आत्मस्वभावसे भिन्न मानता है । उन पुद्गल कर्मोंके मूल कारण राग द्वेष मोह आदि विभाव हैं, उन्हें नष्ट करनेके लिये शुद्ध अनुभवका अभ्यास करता है और ५४वें कवित्तमें कही हुई रीतिसे पररूप तथा आत्मस्वभावसे भिन्न बंधपद्धतिको हटाकर अपनेहीमें अपने ज्ञानस्वभावको ग्रहण करता है । इस प्रकार वह सदैव मोक्षमार्गका साधन करके बंधन रहित होता है और केवलज्ञान प्राप्त करके लोकालोकका ज्ञायक होता है ॥ ५७ ॥

भेदज्ञानीका पराक्रम (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
खोदि मूल वृच्छकौ उखारै गहि बाहूसौं ।
तैसैं मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि,
ह्वै रहै अतीत मति ग्यानकी दशाहूसौं ॥
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहूसौं ।

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७ ॥

इति बन्धो निष्क्रान्तः ॥ ८ ॥

चुकै न सकतीसौं लुकै न पुदगल मांहि,
धुकै मोख थलकौं रुकै न फिर काहूसौं ॥ ५८ ॥

शब्दार्थः—अतीत = रीता । सविताहू = सूर्य । लुकै = छिपै । धुकै = चलता है ।

अर्थः—जिस प्रकार कोई अजान महाबलवान मनुष्य अपने बाहुबलसे किसी वृक्षको जड़से उखाड़ डालता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानी मनुष्य ज्ञानकी शक्तिसे द्रव्यकर्म और भावकर्मको हटाकर हलके हो जाते हैं। इस रीतिसे मोहका अंधकार नष्ट हो जाता है और सूर्यसे भी श्रेष्ठ केवलज्ञानकी ज्योति जागती है, फिर कर्म नोकर्मसे नहीं छिप सकने योग्य अनंतशक्ति प्रगट होती है जिससे वह सीधा मोक्षको जाता है और किसीका रोका नहीं रुकता ॥ ५८ ॥

आठवें अधिकारका सार

यद्यपि सिद्धालयमें अनंत कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई हैं तो भी सिद्ध भगवानको कर्मका बंध नहीं होता, अरहंत भगवान योगसहित होनेपर अबंध रहते हैं, प्रमत्त रहित हिंसा होजानेपर मुनियोंको बंध नहीं होता, सम्यग्दृष्टी जीव असंयमी होनेपर भी बंधसे रहित हैं। इससे स्पष्ट है कि कार्माण वर्गणाओं, योग हिंसा और असंयमसे बंध नहीं होता, केवल शुभ-अशुभ अशुद्धोपयोग ही बंधका कारण है। अशुद्ध उपयोग राग-द्वेष-मोहरूप है, और राग-द्वेष-मोहका अभाव सम्यग्दर्शन है, अतः बंधका अभाव करनेके लिये सम्यग्दर्शनको सम्हालना चाहिये इसमें प्रमाद करना उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही धर्म अर्थ काम मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका दाता है। यह सम्यग्दर्शन विपरीत अभिनिवेश रहित होता है, मैंने किया, मेरा है, मैं चाहूँ सो करूँगा, यह मिथ्याभाव सम्यग्दर्शनमें नहीं होता, इसमें शरीर धन कुटुम्ब वा विषयभोगसे विरक्तभाव रहते हैं और चंचल चित्तको विश्राम मिलता है। सम्यग्दर्शन जगनेपर व्यवहारकी तल्लीनता नहीं रहती, निश्चय-नयके विषयभूत निर्विकल्प और निरुपाधि आत्मरामका स्वरूप-चिंतवन होता है, और मिथ्यात्वके आधीन होकर संसारी आत्मा जो अनादि कालसे कोल्हूके बैलके समान संसारमें चक्कर काट रहा था उसे विलक्षण शान्ति मिलती है। सम्यग्ज्ञानियोंको अपना ईश्वर अपनेहीमें दिखता है और बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे उन्हें परमेश्वरपद प्राप्त होता है।

मोक्ष द्वार

(९)

प्रतिज्ञा (दोहा)

बंधद्वार पूरौ भयौ, जो दुख दोष निदान ।
अब बरनौं संक्षेपसौं, मोखद्वार सुखथान ॥

शब्दार्थः—निदान = कारण । वरनौं = वर्णन करता हूँ । संक्षेपसौं = थोड़ेमें ।

अर्थः—दुःखों और दोषोंके कारणभूत बंधका अधिकार समाप्त हुआ अब थोड़ेमें सुखका स्थानरूप मोक्ष अधिकारका वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

मंगलाचरण (सवैया इकतीसा)

भेदग्यान आरासौं दुफारा करै ग्यानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचै ।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरमकौ खजानौ खोलि खरचै ॥
यौंही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरन समाधि लहै परमकौ परचै ।
भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै ॥ २ ॥

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥ १ ॥

शब्दार्थः—चरचै = जाने। खरचै = हटावे। परचै = पहिचाने। निरदौर = स्थिर। विश्वनाथ = संसारका स्वामी। अरचै = वंदना करता है।

अर्थः—ज्ञानी जीव भेदविज्ञानकी करौंतसे आत्मपरणति और कर्मपरणतिको पृथक् करके उन्हें जुदी जुदी जानता है और अनुभवका अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणादि कर्म वा राग-द्वेष आदि विभावका खजाना खाली कर देता है। इस रीतिसे वह मोक्षके सन्मुख दौड़ता है। जब केवलज्ञान उसके समीप आता है तब पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता है और संसारकी भटकना मिट जाती है, तथा करनेको कुछ बाकी नहीं रह जाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे त्रिलोकीनाथको पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं॥ २॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है। (सवैया इकतीसा)

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है।
पैठी नो करम भेदि दरव करम छेदि,
सुभाउ विभाउताकी संधि सोधि लीनी है॥
तहां मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय,
एक मुधामई एक सुधारस-भीनी है।
मुधासौं विरचि सुधासिंधुमैं मगन भई,
ऐती सब क्रिया एक समै बीचि कीनी है॥ ३॥

शब्दार्थः—सावधान = प्रमाद रहित। पैनी = तेज। पैठी = घुसी। संधि = मिलाप। मध्यपाती = विचोही। मुधामई = अज्ञानमयी। सुधारस = अमृतरस। विरचि = छोड़कर।

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ॥ २॥

अर्थः—जैन शास्त्रके ज्ञाता एक जैनीने बहुतही सावधान होकर विवेक-रूपी तेज छैनी[1] अपने हृदयमें डाल दी, जिसने प्रवेश करतेही नौकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म और निजस्वभावका पृथक्करण कर दिया। वहाँ उस ज्ञाताने बीचमें पड़कर एक अज्ञानमय और एक ज्ञानसुधारसमय ऐसी दो धारा देखीं, तब वह अज्ञानधारा छोड़कर ज्ञानरूप अमृतसागरमें मग्न हुआ। इतनी सब क्रिया उसने मात्र एक समयमें ही की ॥ ३ ॥

पुनः

जैसै छैनी लोहकी, करै एकसौं दोइ ।
जड़ चेतनकी भिन्नता, त्यौं सुबुद्धिसौं होइ ॥ ४ ॥

अर्थः—जिसप्रकार लोहेकी छैनी काष्ट आदि वस्तुके दो खंड कर देती है उसी प्रकार चेतन–अचेतनका पृथक्करण भेदविज्ञानसे होता है ॥ ४ ॥

सुबुद्धिका विलास सब वर्ण लघु (चित्रकाव्य घनाक्षरी)

धरति धरम फल हरति करम मल,
मन वच तन बल करति समरपन ।
भखति असन सित चखति रसन रित,
लखति अमित वित करि चित दरपन ॥
कहति मरम धुर दहति भरम पुर,
गहति परम गुर उर उपसरपन ।
रहति जगति हित लहति भगति रति,
चहति अगति गति यह मति परपन ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—भखति = खाती है। असन = भोजन। सित = उज्ज्वल। अमित = अप्रमाण। दहति = जलाता है। पुर = नगर। उपसरपन = स्थिर। अगति गति = मोक्ष।

अर्थः—सुबुद्धि धर्मरूप फलको धारण करती है, कर्ममलको हरती है, मन वचन काय तीनों बलोंको मोक्षमार्गमें लगाती है जीभसे स्वाद लिये बिना उज्ज्वल

---

[1] शास्त्र विशेष।

ज्ञानका भोजन खाती है, अपनी अनंत ज्ञानरूप सम्पत्ति चित्तरूप दर्पणमें देखती है, मर्मकी बात अर्थात् आत्माका स्वरूप बतलाती है, मिथ्यात्वरूप नगरको भस्म करती है, सद्गुरुकी वाणी ग्रहण करती है, चित्तमें स्थिरता लाती है, जगतकी हितकारी बनकर रहती है, त्रिलोकनाथकी भक्तिमें अनुराग करती है, मुक्तिकी अभिलाषा उत्पन्न करती है; ऐसा सुबुद्धिका विलास है ॥ ५ ॥

सम्यग्ज्ञानीका महत्व सव वर्ण गुरु (सवैया इकतीसा)

राणाकौसौ बाना लीनै आपा साधै थाना चीनै,
दानाअंगी नानारंगी खाना जंगी जोधा है ।
मायाबेली जेती तेती रेतैं धारेती सेती,
फंदाहीकौ कंदा खोदै खेतीकौसौ लोधा है ॥
बाधासेती हांता लोरै राधासेती तांता जोरै,
बांदीसेती नाता तोरै चांदीकौसौ सोधा है ।
जानै जाही ताही नीकैं मानै राही पाही पीकै,
ठानै बातैं डाही ऐसौ धाराबाही बोधा है ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—राणा = बादशाह । बाना = भेष । थाना = स्थान । चीनै = पहिचाने । दानाअंगी = प्रतापी । खाना जंगी जोधा = युद्धमें महा शूरवीर । कंदा = कांसकी जड़ें । खेतीकौसौ लोधा = किसानके समान । बाधा = क्लेश । हांता लोरै = अलग करता है । तांता = डोर । बाँदी = दासी । नाता = सम्बन्ध । डाही = होश्यारी । बोधा = ज्ञानी ।

अर्थः—भेदविज्ञानी ज्ञाता, राजा जैसा रूप बनाये हुए है । वह अपने आत्मरूप स्वदेशकी रक्षाके लिये परिणामोंकी सम्हाल रखता है, और आत्मसत्ता भूमिरूप स्थानको पहिचानता है, प्रशम, संवेग, अनुकंपा आदिकी सेना सम्हालनेमें दान अर्थात् प्रवीण होता है, शाम, दाम, दंड, भेद आदि कलाओंमें कुशल राजाके समान है, तप, समिति, गुप्ति परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक रंग धारण करता है, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेमें बड़ा बहादुर होता है । मायारूपी जितना लोहा है, उस सबको चूर चूर करनेको रेतीके समान है कर्मके फंदेरूप कांसको

जड़से उखाड़नेके लिये किसानके समान है, कर्मबंधके दुखोंसे बचानेवाला है, सुमति राधिकासे प्रीति जोड़ता है, कुमतिरूप दासीसे संबंध तोड़ता है, आत्मपदार्थरूप चांदीको ग्रहण करने और पर पदार्थरूप धूलको छोड़नेमें रजत-सोधा (सुनार) के समान है। पदार्थको जैसा जानता है वैसाही मानता है, भाव यह है कि हेयको हेय जानता और हेय मानता है। उपादेयको उपादेय जानता और उपादेय मानता है,[1] ऐसी उत्तम बातोंका आराधक धाराप्रवाही ज्ञाता है ॥ ६ ॥

ज्ञानी जीवही चक्रवर्त्ती है (सवैया इकतीसा)

जिन्हकै दरब मिति साधन छखंड थिति,
बिनसै विभाव अरि पंकति पतन हैं।
जिन्हकै भगतिको विधान एई नौ निधान,
त्रिगुनके भेद मानौ चौदह रतन हैं॥
जिन्हकै सुबुद्धिरानी चूरै महा मोह वज्र,
पूरै मंगलीक जे जे मोखके जतन हैं।
जिन्हकै प्रमान अंग सोहै चमू चतुरंग,
तेई चक्रवर्त्ती तनु धरैं पै अतन हैं॥ ७॥

शब्दार्थः—अरि पंकति = शत्रु समूह। पतन = नष्ट होना। नव निधान = नव निधि। मंगलिक = मंडल चौक। चमू = सेना। चतुरंग = सेनाके चार अंग-हाथी घोड़े रथ पैदल। अतन = शरीररहित।

अर्थः—ज्ञानी जीव चक्रवर्त्तीके समान हैं, क्योंकि चक्रवर्त्ती छह खंड पृथ्वी साधते-जीतते हैं, ज्ञानी छह द्रव्योंको साधते हैं, चक्रवर्त्ती शत्रु समूहको नष्ट करते हैं, ज्ञानी जीव विभाव परणतिका विनाश करते हैं, चक्रवर्त्तीको

---

[1] आत्मा उड़दका मास (भीतरी गूदा) मगज आदिके समान उपादेय है, और छिलका फोक आदिके समान शरीरादि हेय हैं।

नवनिधि[1] होती हैं, ज्ञानी नवभक्ति[2] धारण करते हैं, चक्रवर्त्तीके चौदह रत्न होते हैं, ज्ञानियोंको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके भेदरूप[3] चौदह रत्न[4] होते हैं, चक्रवर्त्तीकी पटरानी दिग्विजयको जानेके अवसरपर चुटकीसे वज्र-रत्नोंका चूर्ण करके चौक पूरती है, ज्ञानी जीवोंकी सुबुद्धिरूप पटरानी मोक्ष जानेका शकुन करनेको महामोहरूप वज्रको चूर्ण करती है, चक्रवर्त्तीके हाथी घोड़े रथ पैदल ऐसी चतुरंगिनी सेना रहती है, ज्ञानी जीवोंके प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण नय और निक्षेप होते हैं। विशेष यह है कि चक्रवर्त्तीके शरीर होता है, पर ज्ञानी जीव देहसे विरक्त होनेके कारण शरीर रहित होते हैं, इसलिये ज्ञानी जीवोंका पराक्रम चक्रवर्त्तीके समान है ॥ ७ ॥

नव भक्तिके नाम (दोहा)

श्रवन कीरतन चिंतवन, सेवन बंदन ध्यान ।
लघुता समता एकता, नौधा भक्ति प्रवान ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—श्रवण = उपादेय गुणोंका सुनना । कीरतन (कीर्तन) = गुणोंका व्याख्यान करना । चिंतवन = गुणोंका विचार करना । सेवन = गुणोंका अध्ययन करना । बंदन = गुणोंकी

---

[1] महाकाल असि मसिके साधन, देत कालनिधि ग्रंथ महान ।
मानव आयुध भांड नसरप, सुभग पिंगला भूषन खान ॥
पांडुक निधि सब धान्य देत है, करै शंख वाजित्र प्रदान ।
सर्व रतन रत्नोंकी दाता, वस्त्र देत निधि पद्म महान ॥

[2] नवभक्तिके नाम आगेके दोहेमें कहे हैं

[3] चक्रवर्त्तीके चौदह रत्नोंमें सात सजीव रतन होते हैं, ओर सात अजीव होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

दोहा—सेनापति ग्रहपति थपित, प्रोहित नाग तुरंग ।
बनिता मिलि सातौं रतन, हैं सजीव सरवंग ॥ १ ॥
चक्र छत्र असि दंड मणि, चर्म कांकणी नाम ।
ये अजीव सातौं रतन, चक्रवर्त्तिके धाम ॥ २ ॥

[4] कविने चौदह रत्नोंकी संख्याको त्रिगुणके भेदोंमें गिनाया है, सो सम्यग्दर्शनके उपशम, क्षयोपशम, क्षायक ये तीन, ज्ञानके मति, श्रुत, अवधि, मन-पर्याय, केवल ये पांच, और चारित्रके सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और संयमासंयम ये छह ऐसे सब मिलकर चौदह जान पड़ते हैं।

स्तुति करना। ध्यान = गुणोंका स्मरण रखना। लघुता = गुणोंका गर्व नहीं करना। समता = सबपर एकसी दृष्टि रखना। एकता = एक आत्माहीको अपना मानना, शरीरादिको पर मानना।

अर्थः—श्रवण, कीर्त्तन, चिंतवन, सेवन, बंदन, ध्यान, लघुता, समता, एकता ये नव प्रकारकी भक्ति हैं, जो ज्ञानी जीव करते हैं॥ ८ ॥

ज्ञानी जीवोंका मन्तव्य (सवैया इकतीसा)

*कोऊ अनुभवी जीव कहै मेरे अनुभौमैं,
लक्षन विभेद भिन्न करमकौ जाल है।
जानै आपा आपुकौं जु आपुकरि आपुविषैं,
उतपति नास ध्रुव धारा असराल है॥
सारे विकलप मोसौं न्यारे सरवथा मेरौ,
निहचै सुभाव यह विवहार चाल है।
मैं तौ सुद्ध चेतन अनंत चिनमुद्रा धारी,
प्रभुता हमारी एकरूप तिहुं काल है॥ ९ ॥

अर्थः—आत्म अनुभवी जीव कहते हैं कि हमारे अनुभवमें आत्म स्वभावसे विरुद्ध चिह्नोंका धारक कर्मोंका फंदा हमसे पृथक् है, वे आप[1] अपनेको[2] अपने द्वारा[3] अपनेमें[4] जानते हैं। द्रव्यकी उत्पाद, व्यय और ध्रुव यह त्रिगुण धारा जो मुझमें बहती हैं, सो ये विकल्प, व्यवहार नयसे हैं, मुझसे सर्वथा भिन्न हैं; मैं तो निश्चयनयका विषयभूत शुद्ध और अनंत चैतन्यमूर्त्तिका धारक हूँ, मेरा यह सामर्थ्य सदा एकसा रहता है—कभी घटता बढ़ता नहीं है॥ ९ ॥

---

[1] यह कर्त्तृरूप है। [2] यह कर्मरूप है। [3] यह कारणरूप है। [4] यह अधिकरण है।

*भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति॥ ३ ॥

आत्माके चेतन लक्षणका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
साकार चेतना सुद्ध ज्ञान गुनसार है ।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरब मांहि,
सामान विशेष सत्ताहीकौ विसतार है ॥
कोऊ कहै चेतना चिहन नांही आतमामैं,
चेतनाके नास होत त्रिविध विकार है ॥
लक्षनकौ नास सत्ता नास मूल वस्तु नास,
तातै जीव दरबकौ चेतना आधार है ॥ १० ॥

शब्दार्थः—निराकार चेतना = जीवका दर्शनगुण जो आकार आदिको नहीं जानता । साकार चेतना = जीवका ज्ञानगुण जो आकार आदि समेत जानता है । अद्वैत = एक । सामान्य = जिसमें आकार आदिका विकल्प नहीं होता । विशेष = जो आकार आदि सहित जानता है । चिहन (चिह्न) = लक्षण । त्रिविधि = तीन तरहके । विकार = दोष ।

अर्थः—चैतन्यपदार्थ एकरूप ही है, पर दर्शन गुणको निराकार[1] चेतना और ज्ञान गुणको साकार[2] चेतना कहते हैं । सो ये सामान्य और विशेष दोनों एक चैतन्यहीके विकल्प हैं, एकही द्रव्यमें रहते हैं । वैशेषिक आदि मतवाले आत्मामें

[1-2] पदार्थको जाननेके पहले पदार्थके अस्तित्वका जो किंचित् भान होता है वह दर्शन है, दर्शन यह नहीं जानता कि पदार्थ किस आकार व रंगका है, वह तो सामान्य अस्तित्व मात्र जानता है, इसीसे दर्शनगुण निराकार और सामान्य है । इसमें महासत्ता अर्थात् सामान्य सत्ताका प्रतिभास होता है । आकार रंग आदिका जानना ज्ञान है, इससे ज्ञान साकार है, सविकल्प है, विशेष जानता है । इसमें अवांतर सत्ता अर्थात् विशेषसत्ताका प्रतिभास होता है । (विशेष समझनेके लिये 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' की जं सामण्णं गहणं, आदि गाथाओंका अध्ययन करना चाहिये ।)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥ ४ ॥

चैतन्यगुण नहीं मानते हैं, सो उनसे जैनमतवालोंका कहना है कि चेतनाका अभाव माननेसे तीन दोष उपजते हैं, प्रथम तो लक्षणका नाश होता है, दूसरे लक्षणका नाश होनेसे सत्ताका नाश होता है, तीसरे सत्ताका नाश होनेसे मूल वस्तुहीका नाश होता है। इसलिये जीव द्रव्यका स्वरूप जाननेके लियें चैतन्यहीका अवलम्बन है॥ १०॥

(दोहा)

चेतन लक्षन आतमा, आतम सत्ता मांहि।
सत्तापरिमित वस्तु है, भेद तिहूंमैं नांहि॥ ११॥

अर्थः--आत्माका लक्षण चेतना है, और आत्मा सत्तामें है, क्योंकि सत्ता धर्मके बिना आत्मपदार्थ सिद्ध नहीं होता, और अपनी सत्ता प्रमाण वस्तु है, सो द्रव्य अपेक्षा तीनोंमें भेद नहीं है एक ही है॥ ११॥

आत्मा नित्य है (सवैया तेईसा)

ज्यौं कलधौत सुनारकी संगति,
भूषन नाम कहै सब कोई।
कंचनता न मिटी तिहि हेतु,
वहै फिरि औटिकै कंचन होई॥
त्यौं यह जीव अजीव संजोग,
भयौ बहुरूप भयौ नहि दोई।
चेतनता न गई कबहू,
तिहि कारन ब्रह्म कहावत सोई॥ १२॥

शब्दार्थः—कलधौत = सोना। भूषन = गहना। औंटत = गलानेसे। ब्रह्म = नित्य आत्मा।

अर्थः—जिस प्रकार सुनारके द्वारा गढ़े जानेपर सोना गहनेके रूपमें हो जाता है, पर गलानेसे फिर सुवर्ण ही कहलाता है, उसी प्रकार यह जीव-अजीव-रूप कर्मके निमित्तसे अनेक वेष धारण करता है, पर अन्यरूप नहीं हो जाता,

क्योंकि चैतन्यगुण कहीं चला नहीं जाता, इसी कारण जीवको सब अवस्थाओंमें ब्रह्म कहते है ॥ १२ ॥

सुबुद्धि सखीको ब्रह्मका स्वरूप समझाते हैं (सवैया तेईसा)

देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याहीकौ सोहै ।
एकमैं एक अनेक अनेकमैं,
दुंद लियैं दुविधामह दो है ॥
आपु संभारि लखै अपनौ पद,
आपु विसारिकै आपुहि मोहै ।
व्यापकरूप यहै घट अंतर,
ग्यानमैं कोन अग्यानमैं को है ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—विराजित = शोभायमान । दसा = परणति । विसारिकैं = भूलके ।

अर्थः—सुबुद्धिरूप सखीसे कहते हैं, कि हे सखी देख; यह अपना ईश्वर सुशोभित है, इसकी सब परणति इसे ही शोभा देती है, ऐसी विचित्रता और दूसरेमें नहीं है। इसे आत्मसत्तामें देखो तो एकरूप है, और परसत्तामें देखो तो अनेकरूप है, ज्ञानदशामें देखो तो ज्ञानरूप, अज्ञानदशामें देखो तो अज्ञानरूप, ऐसी दोनों दुविधाएं इसमें हैं। कभी तो सचेत होकर अपनी शक्तिको सम्हालता है और कभी प्रमादमें पड़कर निज स्वरूपको भूलता है, पर यह ईश्वर निजघटमें व्यापक रहता है, अब विचार करो कि ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला कौन है और अज्ञान दशामें वर्तनेवाला कौन है? अर्थात् वही है ॥ १३ ॥

आत्म अनुभवका दृष्टान्त (सवैसा तेईसा)

ज्यौं नट एक धरैं बहु भेख,
कला प्रगटै बहु कौतुक देखै ।
आपु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकत भेखै ॥

त्यौं घटमैं नट चेतन राव,
विभाउ दसा धरि रूप विसेखै ।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनौं पद,
दुंद विचारि दसा नहि लेखै ॥ १४ ॥

अर्थः—जिस प्रकार नट अनेक स्वाँग बनाता है, और उन स्वाँगोंके तमाशे देखकर लोग कौतूहल समझते हैं, पर वह नट अपने असली रूपसे कृत्रिम किये हुए वेषको भिन्न जानता है, उसी प्रकार यह नटरूप चेतन राजा परद्रव्यके निमित्तसे अनेक विभाव पर्यायोंको प्राप्त होता है, परंतु जब अंतरंगदृष्टि खोलकर अपने सत्य रूपको देखता है तब अन्य अवस्थाओंको अपनी नहीं मानता ॥ १४ ॥

हेय उपादेय भावोंपर उपदेश (छंद अडिल्ल)

*जाके चेतन भाव, चिदानंद सोइ है ।
और भाव जो धरै, सौ औरौ कोइ है ॥
जो चिनमंडित भाउ, उपादे जाननैं ।
त्याग जोग परभाव, पराये माननैं ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—चिदानंद = चेतनवंत आत्मा । उपादे (उपादेय) = ग्रहण करनेके योग्य । हेय = त्यागने योग्य । पराये = दूसरे । मानने = श्रद्धान करना चाहिये ।

अर्थः—जिसमें चैतन्यभाव है वह चिदात्मा है, और जिसमें अन्यभाव है, वह और ही अर्थात् अनात्मा है । चैतन्यभाव उपादेय हैं, परद्रव्योंके भाव पर हैं —त्यागने योग्य हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानी जीव चाहे घरमें रहें चाहे वनमें रहें मोक्षमार्ग साधते हैं ।
(सवैया इकतीसा)

जिन्हकैं सुमति जागी भोगसौं भये विरागी,
परसंग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवनमैं ।

---

* एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ ५ ॥

रागादिक भावनिसौं जिनिकी रहनि न्यारी,
कबहू मगन ह्वै न रहैं धाम धनमैं ॥
जे सदैव आपकौं विचारैं सरवांग सुद्ध,
जिन्हकै विकलता न व्यापै कहूं मनमैं ।
तेई मोख मारगके साधक कहावैं जीव,
भावै रहौ मंदिरमैं भावै रहौ वनमैं ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—सुमति = अच्छी बुद्धि । जागी = प्रगट हुई । परसंग त्यागी = देह आदिसे ममत्वका त्यागना । त्रिभुवन = तीनलोक—ऊर्ध्व, मध्य, पाताल । सरवांग (सर्वांग) = पूर्णतया । विकलता = भ्रम । भावै = चाहें तो । मंदिरमैं = घरमें । वनमैं = जंगलमें ।

अर्थः—जिन्हें सुबुद्धिका उदय हुआ है, जो भोगोंसे विरक्त हुए हैं, जिन्होंने शरीर आदि परद्रव्योंसे ममत्व हटाया है, जो राग-द्वेष आदि भावोंसे रहित हैं, जो कभी घर और धन—सम्पत्ति आदिमें लीन नहीं होते, जो सदा अपने आत्माको सर्वांग शुद्ध विचारते हैं, जिन्हें मनमें कभी आकुलता नहीं व्यापती, वे ही जीव त्रैलोक्यमें[1] मोक्षमार्गके साधक हैं, चाहे घरमें रहें, चाहे बनमें रहें ॥ १६ ॥

मोक्षमार्गी जीवोंकी परणति (सवैया तेईसा)

चेतन मंडित अंग अखंडित,
सुद्ध पवित्र पदारथ मेरो ।
राग विरोध विमोह दसा,
समुझै भ्रम नाटक पुदगल केरो ॥

---

[1] चाहे ऊर्ध्वलोक अर्थात् देवगतिमें हों, चाहे मध्यलोक अर्थात् मनुष्य तिर्यंच जातिमें हों, चाहे पाताललोक अर्थात् भवनवासी व्यंतर वा नरकगतिमें हों ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥ ६ ॥

भोग संयोग वियोग बिथा,
अवलोकि कहै यह कर्मज घेरो ।
है जिन्हकौ अनुभौ इह भांति,
सदा तिनकौं परमारथ नेरौ ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—मंडित = शोभित । अखंडित = छिद भिद नहीं सकता ।

अर्थः—जो विचारते हैं कि मेरा आत्मपदार्थ चैतन्यरूप है, अछेद्य, अभेद्य, शुद्ध और पवित्र है, जो राग-द्वेष-मोहको पुद्गलका नाटक समझते हैं, जो भोग सामग्रीके संयोग और वियोगकी आपत्तियोंको देखकर कहते हैं कि ये कर्मजनित है—इसमें हमारा कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव जिन्हें सदा रहता है, उनके समीप ही मोक्ष है ॥ १७ ॥

सम्यग्दृष्टी जीव साधु हैं और मिथ्यादृष्टी जीव चोर हैं (दोहा)

जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अग्य ।
जो अपनौ धन व्यौहरै, सो धनपति सरवग्य ॥ १८ ॥

परकी संगति जौ रचै, बंध बढ़ावै सोइ ।
जो निज सत्तामैं मगन, सहज मुक्त सो होइ ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—पुमान = मनुष्य । परधन हरै = परद्रव्यको अंगीकार करते हैं । अग्य = मूर्ख । धनपति = साहूकार । रचै = लीन होवे ।

अर्थः—जो मनुष्य परद्रव्य हरण करता है वह मूर्ख है, चोर है, जो अपने धनका उपयोग करता है, वह समझदार है, साहूकार है ॥ १८ ॥ जो परद्रव्यकी संगतिमें मग्न रहता है, वह बंधसंततिको बढ़ाता है और जो निज सत्तामें लीन रहता है, वह सहज ही मोक्ष पाता है ॥ १९ ॥

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्यतेवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ ७ ॥

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥ ८ ॥

भावार्थः—लोकमें प्रवृत्ति है कि जो दूसरेके धनको लेता है उसे अज्ञानी, चोर वा डांकू कहते हैं, वह गुनहगार और दण्डनीय होता है, और जो अपने धनको वर्तता है, वह महाजन वा समझदार कहलाता है, उसकी प्रशंसाकी जाती है। उसी प्रकार जो जीव परद्रव्य अर्थात् शरीर वा शरीरके सम्वन्धी चेतन-अचेतन पदार्थोंको अपना मानता है, वा उनमें लीन होता है, वह मिथ्यात्वी है, संसारके क्लेश पाता है। और जो निजात्माको अपना मानता वा उसीका अनुभव करता है, वह ज्ञानी है, मोक्षका आनन्द पाता है॥ १८॥ १९॥

द्रव्य और सत्ताका स्वरूप[1] (दोहा)

उपजै विनसै थिर रहै, यह तो वस्तु वखान।
जो मरजादा वस्तुकी, सो सत्ता परवांन॥ २०॥

शब्दार्थः—उपजै = उत्पन्न होवे। विनसै = नष्ट होवे। वस्तु = द्रव्य। मर्यादा = सीमा क्षेत्रावगाह। परवांन (प्रमाण) = जानना।

अर्थः—जो पर्यायोंसे उत्पन्न और नष्ट होता है, परस्वरूपसे स्थिर रहता है, उसे द्रव्य कहते हैं, और द्रव्यके क्षेत्रावगाहको सत्ता कहते हैं॥ २०॥

षट् द्रव्यकी सत्ताका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

लोकालोक मान एक सत्ता है आकाश दर्व,
धर्म दर्व एक सत्ता लोक परमिति है।
लोक परवान एक सत्ता है अधर्म दर्व,
कालके अनू असंख सत्ता अगनिति है॥
पुद्गल सुद्ध परवानुकी अनंत सत्ता,
जीवकी अनंत सत्ता न्यारी न्यारी छिति है।
कोऊ सत्ता काहूसौं न मिलि एकमेक होइ,
सबै असहाय यौं अनादिहीकी थिति है॥ २१॥

---

[1] 'पंचास्तिकायजी' की 'सत्ता सव्व पयत्था' आदि गाथाओंका स्वाध्याय करके यह विषय अच्छी तरहसे समझना चाहिये।

शब्दार्थः— लोकालोक = सर्व आकाश। परमिति = बराबर। परवान (प्रमाण) = बराबर। अगनिति = असंख्यात। न्यारी न्यारी = जुदी जुदी। थिति (स्थिति) = मौजूदगी। असहाय = स्वाधीन।

अर्थः—आकाशद्रव्य एक है उसकी सत्ता लोक-अलोकमें है, धर्म द्रव्य एक है, उसकी सत्ता लोक प्रमाण है, अधर्म द्रव्य भी एक है, उसकी सत्ता भी लोक प्रमाण है, कालके अणु असंख्यात हैं, उसकी सत्ता असंख्यात है, पुद्गल द्रव्य अनंतानंत हैं, उसकी सत्ता अनंतानंत है, जीव द्रव्य अनंतानंत हैं, उनकी सत्ता अनंतानंत हैं, इन छहों द्रव्योंकी सत्ताएँ जुदी जुदी हैं, कोई सत्ता किसीसे मिलती नहीं, और न एकमेक होती है। निश्चयनयमें कोई किसीके आश्रित नहीं सब स्वाधीन हैं। ऐसा अनादि कालसे चला आ रहा है। २१॥

छह द्रव्यहीसे जगतकी उत्पत्ति है (सवैया इकतीसा)

एई छहौं दर्व इनहीकौ है जगतजाल,
तामैं पांच जड़ एक चेतन सुजान है।
काहूकी अनंत सत्ता काहूसौं न मिलै कोइ,
एक एक सत्तामैं अनंत गुन गान है॥
एक एक सत्तामैं अनंत परजाइ फिरै,
एकमैं अनेक इहि भांति परवान है।
यहै स्यादवाद यहै संतनिकी मरजाद,
यहै सुख पोख यह मोखकौ निदान है॥ २२॥

शब्दार्थः—जगतजाल = संसार। सुजान = ज्ञानमय। संतनकी = सत्पुरुषोंकी। मरजाद = सीमा। पोख = पुष्टि करनेवाला। निदान = कारण।

अर्थः—ऊपर कहे हुए ही छह द्रव्य हैं, इन्हींसे जगत उत्पन्न है। इन छह द्रव्योंमें पाँच अचेतन हैं एक चेतन द्रव्य ज्ञानमय है। किसीकी अनंतसत्ता किसीसे कभी मिलती नहीं है। प्रत्येक सत्तामें अनंत गुण समूह हैं, और अनंत अवस्थाएँ हैं इस प्रकार एकमें अनेक जानना। यही स्याद्वाद है, यही सत्पुरुषोंका अखंडित कथन है, यही आनंदवर्धक है और यही ज्ञान मोक्षका कारण है॥ २२।

साधी दधि मंथमैं अराधी रस पंथनिमैं,
जहां तहां ग्रंथनिमैं सत्ताहीकौ सोर है।
ग्यान भान सत्तामैं सुधा निधान सत्ताहीमैं,
सत्ताकी दुरनि सांझ सत्ता मुख भोर है॥
सत्ताकौ सरूप मोख सत्ता भूल यहै दोष,
सत्ताके उलंघे धूम धाम चहूं वोर है।
सत्ताकी समाधिमैं विराजि रहै सोई साहू,
सत्तातै निकसि और गहै सोई चोर है॥ २३॥

शब्दार्थः—दधि = दही। मंथमैं = बिलोवनेमें। रस पंथ = रसका उपाय। सोर (शोर)= आन्दोलन। सत्ता = वस्तुका अस्तित्व, मौजूदगी। धूम धाम चहुं वोर = चतुगति भ्रमण। समाधि = अनुभव। साहु = भला आदमी। गहै = ग्रहण करे।

अर्थः—दहीके मथनेमें घीकी सत्ता साधी जाती है, औषधियोंकी हिकमतमें रसकी सत्ता है, शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ सत्ताहीका कथन है, ज्ञानका सूर्य सत्तामें है, अमृतका पुंज सत्तामें है, सत्ताका छुपाना सांझके[1] अंधकारके समान है, और सत्ताको प्रधान करना सवेरेका[2] सूर्य उदय करना है। सत्ताका स्वरूपही मोक्ष है, सत्ताका भूलना ही जन्म-मरण आदि दोषरूप संसार है, अपनी आत्मसत्ताका उलंघन करनेसे चतुर्गतिमें भटकना पड़ता है। जो आत्मसत्ताके अनुभवमें विराजमान है वही भला आदमी है और जो आत्मसत्ताको छोड़कर अन्यकी सत्ताको ग्रहण करता है वही चोर है॥ २३॥

आत्मसत्ताका अनुभव निर्विकल्प है (सवैया इकतीसा)

जामैं लोक वेद नांहि थापना उछेद नांहि,
पाप पुन्न खेद नांहि क्रिया नांहि करनी।
जामैं राग दोष नांहि जामैं बंध मोख नांहि,
जामैं प्रभु दास न अकास नांहि धरनी॥

१-२ सांझके अंधकारसे भाव यह दिखता है कि अज्ञानका अंधकार बढ़ता जावे। प्रभातके सूर्योदयसे यह भाव दिखता है कि ज्ञानका प्रकाश बढ़ता जावे।

जामैं कुल रीत नांहि जामैं हारि जीत नांहि,
जामैं गुरु सीष नांहि वीष नांहि भरनी ।
आश्रम बरन नांहि काहूकी सरन नांहि,
ऐसी सुद्ध सत्ताकी समाधिभूमि बरनी ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—लोक वेद = लौकिक ज्ञान। थापना उछेद = लौकिक बातोंका खंडन। जैसे मूर्तिको ईश्वर कहना यह लोक व्यवहार है और मूर्तिपूजाका खंडन करना लोक स्थापनाका उच्छेद करना है सो सत्तामें दोनों नहीं हैं। खेद = कष्ट। प्रभु = स्वामी। दास = सेवक। धरनी = पृथ्वी। वीष भरनी = मंजिल पूरी करना। बरन आश्रम (वर्ण आश्रम) = ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार।

अर्थः—जिसमें लौकिक रीतियोंकी न विधि है न निषेध है, न पाप-पुण्यका क्लेश है, न क्रियाकी मनाही है, न राग-द्वेष है, न बंध-मोक्ष है, न स्वामी है न सेवन है, न आकाश[1] है न धरती[2] है, न कुलाचार है, न हारजीत है, न गुरु है न शिष्य है, न चलना-फिरना है, न वर्णाश्रम है, न किसीका शरण है। ऐसी शुद्धसत्ता अनुभवरूप भूमिपर पाई जाती है॥ २४ ॥

जो आत्मसत्ताको नहीं जानता वह अपराधी है (दोहा)

जाकै घट समता नही, ममता मगन सदीव ।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव ॥ २५ ॥

अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अंध ।
परकौं मानै आतमा, करै करमकौ बंध ॥ २६ ॥

झूठी करनी आचरै, झूठे सुखकी आस ।
झूठी भगति हिए धरै, झूठे प्रभुकौ दास ॥ २७ ॥

१–२ ऊंच नीचका भेद नहीं है।

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा-
संपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ ९ ॥ (?)

शब्दार्थः—समता = राग द्वेष रहित भाव। ममता = पर द्रव्योंमें अहंबुद्धि। रमता राम = अपने रूपमें आनंद करनेवाला आतमराम। अपराधी = दोषी। निरदै (निर्दय) = दुष्ट। हिरदै (हृदय) = मनमें। आस (आशा) = उम्मेद। भगति (भक्ति) = सेवा, पूजा। दास = सेवक।

अर्थः—जिसके हृदयमें समता नहीं है, जो सदा शरीर आदि परपदार्थोंमें मग्न रहता है और अपने आतमरामको नहीं जानता वह जीव अपराधी है॥ २५॥ अपने आत्मस्वरूपको नहीं जाननेवाला अपराधी जीव मिथ्यात्वी है, अपनी आत्माका हिंसक है, हृदयका अंधा है। वह शरीर आदि परपदार्थोंको आत्मा मानता है और कर्म-बंधको बढ़ाता है॥ २६॥ आत्मज्ञानके बिना उसका तपाचरण मिथ्या है, उसकी मोक्षसुखकी आशा झूठी है, ईश्वरको जाने बिना ईश्वरकी भक्ति वा दासत्व मिथ्या है॥ २७॥

मिथ्यात्वकी विपरीत वृत्ति (सवैया इकतीसा)

माटी भूमि सैलकी सो संपदा बखानै निज,
कर्ममैं अमृत जानै ग्यानमैं जहर है।
अपनौ न रूप गहै औरहीसौं आपौ कहै,
साता तो समाधि जाकै असाता कहर है॥
कोपकौ कृपान लिए मान मद पान कियैं,
मायाकी मरोर हियैं लोभकी लहर है।
याही भांति चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
सांचसौं विमुख भयौ झूठमैं बहर है॥ २८॥

शब्दार्थः—सैल (शैल) = पर्वत। जहर = विष। औरहीसौं = पर द्रव्यसे। कहर = आपत्ति। कृपान = तलवार। बहर है = लगा हुआ है।

अर्थः—सोना चांदी जो पहाड़ोंकी मिट्टी है उन्हें निज-सम्पति कहता है, शुभक्रियाको अमृत मानता है और ज्ञानको जहर जानता है। अपने आत्म-रूपको ग्रहण नहीं करता, शरीर आदिको आत्मा मानता है, साता वेदनीय जनित लौकिक-सुखमें आनन्द मानता है और असाताके उदयको आफत कहता है

क्रोधकी तलवार ले रक्खी है, मानकी शराब पी बैठा है, मनमें मायाकी वक्रता है और लोभके चक्करमें पड़ा हुआ है। इस प्रकार अचेतनकी संगतिसे चिद्रूप आत्मा सत्यसे परान्मुख होकर झूठ हीमें उलझ रहा है॥ २८॥

तीन काल अतीत अनागत वरतमान,
जगमैं अखंडित प्रवाहकौ डहर है।
तासौं कहै यह मेरौ दिन यह मेरी राति,
यह मेरी घरी यह मेरौही पहर है॥
खेहकौ खजानौ जोरै तासौं कहै मेरो गेह,
जहां बसै तासौं कहै मेरौही सहर है।
याहि भांति चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
सांचसौं विमुख भयौ झूठमैं बहर है॥ २९॥

शब्दार्थः—अतीतकाल = भूतकाल। अनागत = भविष्यत। खेह = कचरा। गेह = घर। सहर (शहर) = नगर।

अर्थः—संसारमें भूत वर्तमान भविष्यत कालका धारा प्रवाह चक्र चल रहा है, उसे कहता है कि मेरा दिन, मेरी राति, मेरी घड़ी, मेरा पहर है। कचरेका ढेर इकट्ठा करता है और कहता है कि यह मेरा मकान है, जिस पृथ्वीखण्डपर रहता है उसे अपना नगर वतलाता है। इस प्रकार अचेतनकी संगतिसे चिद्रूप आत्मा सत्यसे परान्मुख होकर झूठमें उलझ रहा है॥ २९॥

सम्यग्दृष्टी जीवोंका सद्विचार (दोहा)

जिन्हके मिथ्यामित नही, ग्यान कला घट मांहि।
परचै आतमरामसौं, ते अपराधी नांहि॥ ३०॥

शब्दार्थः—मिथ्यामति = खोटीबुद्धि। परचै (परिचय) = पहिचान।

अर्थः—जिन जीवोंकी कुमति नष्ट हो गई है, जिनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश है और जिन्हें आत्मस्वरूपकी पहिचान है वे भले मनुष्य हैं॥ ३०॥

जिन्हकै धरम ध्यान पावक प्रगट भयौ,
संसै मोह विभ्रम बिरख तीनौं डढ़े हैं।
जिन्हकी चितौनि आगे उदै स्वान भूसि भागै,
लागै न करम रज ग्यान गज चढ़े हैं॥
जिन्हकी समुझिकी तरंग अंग आगममैं,
आगममैं निपुन अध्यातममैं कढ़े हैं।
तेई परमारथी पुनीत नर आठौं जाम,
राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढ़े हैं॥ ३१॥

शब्दार्थः—पावक = अग्नि। बिरख (वृक्ष) = झाड़। स्वान = कुत्ता। रज = धूल। ग्यान गज = ज्ञानरूपी हाथी। अध्यातम = आत्माका स्वरूप बताने वाली विद्या। परमारथी (परमार्थी) = परम पदार्थ अर्थात् मोक्षके मार्गमें लगे हुए। पुनीत = पवित्र। आठौं जाम = आठौं पहर-सदाकाल।

अर्थः—जिनकी धर्मध्यानरूप अग्निमें संशय विमोह विभ्रम ये तीनों वृक्ष जल गये हैं, जिनकी सुदृष्टिके आगे उदयरूपी कुत्ते भौंकते भौंकते भाग जाते हैं, वे ज्ञानरूपी हाथीपर सवार हैं इससे कर्मरूपी धूल उन तक नहीं पहुँचती। जिनके विचारमें शास्त्रज्ञानकी तरंगें उठती हैं, जो सिद्धान्तमें प्रवीण हैं, जो आध्यात्मिक विद्याके पारगामी हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं—वे ही पवित्र हैं, सदा आत्मअनुभवका रस दृढ करते हैं और आत्म अनुभवहीका पाठ पढ़ते हैं॥ ३१॥

जिन्हकी चिहुंटि चिमटासी गुन चूनिबेकौं,
कुकथाके सुनिबेकौं दोऊ कान मढ़े हैं।
जिन्हकौ सरल चित्त कोमल वचन बोलै,
सोमदृष्टि लियैं डोलैं मोम कैसे गढ़े हैं॥
जिन्हकी सकति जगी अलख अराधिबेकौं,
परम समाधि साधिबेकौं मन बढ़े हैं।

तेई परमारथी पुनीत नर आठौं जाम,
राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढ़ै हैं ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—चिहुंटि = बुद्धि । चूनिबेकौं = पकड़नेको–ग्रहण करनेको । कुकथा = खोटी वार्ता–स्त्रीकथा आदि । सोमदृष्टि = क्रोध आदि रहित । अलख = आत्मा ।

अर्थः—जिनकी बुद्धि गुण ग्रहण करनेमें चिमीटीके[1] समान है विकथा सुननेके लिये जिनके कान मढ़े हुए अर्थात् बहरे हैं, जिनका चित्त निष्कपट है, जो मृदु भाषण करते हैं, जिनकी क्रोधादि रहित सौम्यदृष्टि है, जो ऐसे कोमल स्वभावी हैं कि मानो मोमके[2] ही बने हुए हैं, जिन्हें आत्मध्यानकी शक्ति प्रगट हुई है और परम समाधि साधनेको जिनका चित्त उत्साहित रहता है, वे ही मोक्षमार्गी हैं, वे ही पवित्र हैं, सदा आत्म-अनुभवका रस दृढ़ करते हैं और आत्म-अनुभवका ही पाठ पढ़ते हैं —अर्थात् आत्माहीकी रटन लगी रहती है ॥ ३२ ॥

समाधि वर्णन (दोहा)

*राम-रसिक अर राम-रस, कहन सुननकौं दोइ ।
जब समाधि परगट भई, तब दुबिधा नहि कोइ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः— राम-रसिक = आत्मा । राम-रस = अनुभव । समाधि = आत्मामें लीन होना । दुबिधा = भेद ।

अर्थः—आत्मा और आत्म-अनुभव ये कहने सुननेको दो हैं, जब आत्मध्यान प्रगट हो जाता है तब रसिक और रसका, वा और कोई भेद नहीं रहता ॥ ३३ ॥

---

[1] जिस प्रकार चिमीटीसे छोटी वस्तु भी उठा ली जाती है उसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंको भी उनकी बुद्धि ग्रहण करती है ।

[2] जैसे कि मोम सहजमें पिघल जाता है वा मुड़ जाता है, वैसे वे भी थोड़ेहीमें कोमल हो जाते हैं, तत्त्वकी बात थोड़ेहीमें समझ जाते हैं, फिर हठ नहीं करते ।

*यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतम्
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १० ॥

शुभ क्रियाओंका स्पष्टीकरण (दोहा)

नंदन बंदन थुति करन, श्रवन चिंतवन जाप ।
पढ़न पढ़ावन उपदिसन, बहुविधि क्रिया-कलाप ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—नंदन = रसिक अवस्थाका आनंद। बंदन = नमस्कार करना। थुति (स्तुति) = गुण गायन करना । श्रवन (श्रवण) = आत्मस्वरूपका उपदेश आदि सुनना । चिंतवन = विचार करना । जाप = बार बार नाम उच्चारण करना । पढ़न = पढ़ना । पढ़ावन = पढ़ाना । उपदिसन = व्याख्यान देना ।

अर्थः—आनंद मानना, नमस्कार करना, स्तवन करना, उपदेश सुनना, ध्यान करना, जाप जपना, पढ़ना, पढ़ाना, व्याख्यान देना आदि सब शुभ क्रियाएँ हैं ॥ ३४ ॥

शुद्धोपयोगमें शुभोपयोगका निषेध (दोहा)

सुद्धातम अनुभव जहां, सुभाचार तहां नांहि ।
करम करम मारग विषैं, सिव मारग सिवमांहि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—सुभाचार = शुभ प्रवृत्ति । करम मारग (कर्ममार्ग) = बंधका कारण । सिव मारग (शिवमार्ग) = मोक्षका कारण । सिवमांहि = आत्मामें ।

अर्थः—ऊपर कही हुई क्रियाएँ करते करते जहाँ आत्माका शुद्ध अनुभव हो जाता है, वहाँ शुभोपयोग नहीं रहता। शुभ क्रिया कर्म बंधका कारण है और मोक्षकी प्राप्ति आत्म-अनुभवमें है ॥ ३५ ॥

पुनः (चौपाई)

इहि बिधि वस्तु व्यवस्था जैसी ।
कही जिनंद कही मैं तैसी ॥
जे प्रमाद संजुत मुनिराजा ।
तिनके सुभाचारसौं काजा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—वस्तु व्यवस्था = पदार्थका स्वरूप । प्रमाद संजुत = आत्म-अनुभवमें असावधान, शुभोपयोगी ।

अर्थः—ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार पदार्थका जैसा स्वरूप जिनराजने कहा है वैसा हमने वर्णन किया। जो मुनिराज प्रमाददशामें रहते हैं, उन्हें शुभ क्रियाका अवलंब लेनाही पड़ता है॥ ३६॥

जहां प्रमाद दसा नहि व्यापै।
तहां अवलंब आपनौ आपै॥
ता कारन प्रमाद उतपाती।
प्रगट मोख मारगकौ घाती॥ ३७॥

शब्दार्थः—अवलंब = आधार।

अर्थः—जहाँ शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप प्रमाद नहीं रहता, वहाँ अपनेको अपना ही अवलम्ब अर्थात् शुद्धोपयोग होता है, इससे स्पष्ट है कि प्रमादकी उत्पत्ति मोक्षमार्गमें बाधक है॥ ३७॥

जे प्रमाद संजुगत गुसांई।
उठहिं गिरहिं गिंदुककी नांई॥
जे प्रमाद तजि उद्धत हौंहीं।
तिनकौं मोख निकट द्रिग सौंहीं॥ ३८॥

शब्दार्थः—गुसांई = साधु। गिंदुक = गेंद। नांई = तरह। द्रिग = नेत्र।

अर्थः—जो मुनि प्रसाद सहित होते हैं वे गेंदकी तरह नीचेसे ऊपरको चढ़ते और फिर नीचेको पड़ते हैं, और जो प्रमाद छोड़कर स्वरूपमें सावधान होते हैं, उनकी दृष्टिमें मोक्ष बिलकुल पासही दिखता है।

विशेषः—साधुदशामें छट्ठा गुणस्थान प्रमत्त मुनिका है सो छट्ठसे सातवेंमें और सातवेंसे छट्ठेमें असंख्यात बार चढ़ना गिरना होता है॥ ३८॥

घटमैं है प्रमाद जब ताईं।
पराधीन प्रानी तब तांई॥
जब प्रमादकी प्रभुता नासै।
तब प्रधान अनुभौ परगासै॥ ३९॥

शब्दार्थः—जब ताईं = जबतक। तब ताईं = तबतक। प्रभुता = बल। नासै (नाशै) = नष्ट होवे। प्रधान = मुख्य। परगासै (प्रकाशै) = प्रगट होवे।

अर्थः—जब तक हृदयमें प्रमाद रहता है तब तक जीव पराधीन रहता है, और जब प्रमादकी शक्ति नष्ट हो जाती है तब शुद्ध अनुभवका उदय होता है॥ ३९॥

पुनः (दोहा)

ता कारन जगपंथ इत, उत सिव मारग जोर।
परमादी जगकौं धुकै, अपरमादि सिव ओर॥ ४०॥

शब्दार्थः—जगपंथ = संसार भ्रमणका उपाय। इत = यहाँ। उत = वहाँ। सिव मारग (शिवमार्ग) = मोक्षका उपाय। धुकै = देखे। अपरमादि (अप्रमादी) = प्रमाद रहित।

अर्थः—इस लिये प्रमाद संसारका कारण है और अनुभव मोक्षका कारण है। प्रमादी जीव संसारकी ओर देखते हैं और अप्रमादी जीव मोक्षकी तरफ देखते हैं॥ ४०॥

जे परमादी आलसी, जिन्हकैं विकलप भूरि।
होइ सिथल अनुभौविषै, तिन्हकौं सिवपथ दूरि॥ ४१॥

शब्दार्थः—आलसी = निरुद्यमी। विकलप (विकल्प) = राग-द्वेषकी तरंगें। भूरि = बहुत। सिथल (शिथिल) = असमर्थ। सिवपथ = स्वरूपाचरण।

अर्थः—जो जीव प्रमादी और आलसी हैं, जिनके चित्तमें अनेक विकल्प होते हैं, और जो आत्म-अनुभवमें शिथिल हैं, उनसे स्वरूपाचरण दूरही रहता है॥ ४१॥

*जे परमादी आलसी, ते अभिमानी जीव।
जे अविकलपी अनुभवी, ते समरसी सदीव॥ ४२॥

---

*प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसत्ता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात्॥ ११॥

शब्दार्थः—अभिमानी = अहंकार सहित। अविकलपी (अविकल्पी) = राग-द्वेष रहित।

अर्थः—जो जीव प्रमाद सहित और अनुभवमें शिथिल हैं, वे शरीर आदिमें अहंबुद्धि करते हैं और जो निर्विकल्प अनुभवमें रहते हैं उनके चित्तमें सदा समता रस रहता है॥ ४२॥

जे अविकलपी अनुभवी, सुद्ध चेतना युक्त।
ते मुनिवर लघुकालमैं हौंहि करमसौं मुक्त॥ ४३॥

शब्दार्थः—सुद्ध चेतना = शुद्ध ज्ञान-दर्शन। लघुकालमैं = थोड़े समयमें।

अर्थः—जो मुनिराज विकल्प रहित हैं, अनुभव और शुद्ध ज्ञान-दर्शन सहित हैं, वे थोड़े ही समयमें कर्म रहित होते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ ४३॥

ज्ञानमें सब जीव एकसे भासते हैं (कवित्त)

जैसैं पुरुष लखै परवत चढ़ि,
भूचर-पुरुष ताहि लघु लग्गै।
भूचर-पुरुष लखै ताकौं लघु,
उतरि मिलैं दुहुकौ भ्रम भग्गै।
तैसैं अभिमानी उन्नत लग,
और जीवकौं लघुपद दग्गै।
अभिमानीकौं कहैं तुच्छ सब,
ग्यान जागै समता रस जग्गै॥ ४४॥

शब्दार्थः—भूचर = धरतीपर रहनेवाला। लघु = छोटा। उन्नत लग = ऊंचा सिर रखनेवाला।

अर्थः—जैसे पहाड़पर चढ़े हुए मनुष्यको नीचेका मनुष्य छोटा दिखता है, और नीचेके मनुष्यको ऊपर पहाड़पर चढ़ा हुआ मनुष्य छोटा दिखता है, पर

जब वह नीचे आता है तब दोनोंका भ्रम हट जाता है और विषमता मिट जाती है, उसी प्रकार ऊंचा सिर रखनेवाले अभिमानी मनुष्यको सब आदमी तुच्छ दिखते हैं, और सबको वह अभिमानी तुच्छ दिखता है, परन्तु जब ज्ञानका उदय होता है तब मान कषाय गल जानेसे समता प्रगट होती है। ज्ञानमें कोई छोटा बड़ा नहीं दिखता, सब जीव एकसे भासते हैं ॥ ४४ ॥

अभिमानी जीवोंकी दशा (सवैया इकतीसा)

करमके भारी समुझैं न गुनकौ मरम,
परम अनीति अधरम रीति गहे हैं।
हौंहि न नरम चित्त गरम घरमहूतैं,
चरमकी द्रिष्टिसौं भरम भूलि रहे हैं॥
आसन न खोलैं मुख वचन न बोलैं,
सिर नाये हू न डोलैं मानौं पाथरके चहे हैं।
देखनके हाऊ भव पंथके बढ़ाऊ ऐसे,
मायाके खटाऊ अभिमानी जीव कहे हैं॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—करमके भारी = अत्यन्त कर्म बंध बाँधे हुए। मरम = असलियत। अधरम (अधर्म) = पाप। नरम = कोमल। चरम द्रिष्टि (चर्मदृष्टि) = इन्द्रिय जनित ज्ञान। चहे (चय) = चिने हुए। हाऊ = भयंकर। बढ़ाऊ = बढानेवाले। खटाऊ = टिकाऊ-मजबूत।

अर्थः—जो कर्मोंका तीव्र बंध बाँधे हुए हैं, गुणोंका मर्म[1] नहीं जानते, अत्यन्त अनुचित और पापमय मार्ग ग्रहण करते हैं, नरमचित्त नहीं होते, धूपसे भी अधिक गरम रहते हैं और इन्द्रियज्ञानहीमें भूले रहते[2] हैं, दिखानेके लिये एक आसनसे बैठते वा खड़े हो रहते हैं, मौनसे रहते हैं, महन्तजी जानकर कोई नमस्कार करे तो उत्तरके लिये अंग तक नहीं हिलाते, मानो पत्थर ही चिन.

---

[1] दोषको ही गुण समझ जाते हैं।

[2] आत्मज्ञान नहीं होता।

रक्खा हो, देखनेमें भयंकर हैं, संसारमार्गके बढ़ानेवाले हैं, मायाचारीमें पक्के हैं, ऐसे अभिमानी जीव होते हैं ॥ ४५ ॥

ज्ञानी जीवोंकी दशा (सवैया इकतीसा)

धीरके धरैया भव नीरके तरैया भय,
भीरके हरैया बर बीर ज्यौं उमहे हैं ।
मारके मरैया सुविचारके करैया सुख,
ढारके ढरैया गुन लौसौं लह लहे हैं ॥
रूपके रिझैया सब नैके समझैया सब,-
हीके लघु भैया सबके कुबोल सहे हैं ।
बामके बमैया दुख दामके दमैया ऐसे,
रामके रमैया नर ग्यानी जीव कहे हैं ॥ ४६ ॥

शब्दार्थः—भव नीर = संसार समुद्र । भीर = समुदाय । बरबीर = महायोद्धा । उमहे = उमंग सहित—उत्साहित । मार = कामकी वासना । लहलहे = हरे भरे । रूपके रिझैया = आत्मस्वरूपके रुचिया । लघु भैया = छोटे बनकर नम्रता पूर्वक चलनेवाले । कुबोल = कठोर वचन । बाम = वक्रता-कुटिलता । दुख दामके दमैया = दुःखोंकी संततिको नष्ट करनेवाले । रामके रमैया = आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेवाले ।

अर्थः—जो धीरजके धरनेवाले हैं, संसार समुद्रसे तरनेवाले हैं, सब प्रकारके भय नष्ट करनेवाले हैं, महायोद्धा समान धर्ममें उत्साहित रहते हैं, विषय-वासनाओंको जलाते हैं, आत्महितका चिंतवन किया करते हैं, सुख-शान्तिकी चाल चलते हैं सद्गुणोंकी ज्योतिसे जगमगाते हैं, आत्मस्वरूपमें रुचि रखते हैं, सब नयोंका रहस्य जानते हैं, ऐसे क्षमावान् हैं कि सबके छोटे भाई बनकर रहते हैं वा उनकी खरी—खोटी बातें सहते हैं, हृदयकी कुटिलता छोड़कर सरल चित्त हुए हैं, दुख संतापकी राह नहीं चलते, आत्मस्वरूपमें विश्राम किया करते हैं ऐसे महानुभव ज्ञानी कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

सम्यक्त्वी जीवोंकी महिमा (चौपाई)

जे समकिती जीव समचेती ।
तिनकी कथा कहौं तुमसेती ॥
जहां प्रमाद क्रिया नहि कोई ।
निरविकलप अनुभौ पद सोई ॥ ४७ ॥

परिग्रह त्याग जोग थिर तीनौं ।
करम बंध नहि होय नवीनौं ॥
जहां न राग दोष रस मोहै ।
प्रगट मोख मारग मुख सोहै ॥ ४८ ॥

पूरब बंध उदय नहि व्यापै ।
जहां न भेद पुन्न अरु पापै ॥
दरब भाव गुन निरमल धारा ।
बोध विधान विविध विस्तारा ॥ ४९ ॥

जिन्हकी सहज अवस्था ऐसी ।
तिन्हके हिरदै दुबिधा कैसी ॥
जे मुनि छपक श्रेणि चढ़ि धाये ।
ते केवलि भगवान कहाये ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—समचेती = समता भाववाले । कथा = वार्ता । तुमसेती = तुमसे । प्रमादक्रिया = शुभाचार । जोग थिर तीनों = मन-वचन-कायके योगोंका निग्रह । नवीनौं =

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२॥

नया। पुन्न (पुण्य) = शुभोपयोग! द्रव्यभाव = बाह्य और अंतरंग। बोधि = रत्नत्रय। छपकश्रेणी = मोह कर्म नष्ट करनेकी सीढ़ी। धाये = चढ़े।

अर्थः—हे भव्य जीवो! समता स्वभावके धारक सम्यग्दृष्टी जीवोंकी दशा तुमसे कहता हूँ, जहां शुभाचारकी प्रवृत्ति नहीं है वहां निर्विकल्प अनुभवपद रहता है॥ ४७॥ जो सर्व परिग्रह छोड़कर, मन-वचन-कायके तीनों योगोंका निग्रह करके बंध-परंपराका संवर करते हैं, जिन्हें राग-द्वेष-मोह नहीं रहता वे साक्षात् मोक्षमार्गके सन्मुख रहते हैं॥ ४८॥ जो पूर्व बंधके उदयमें ममत्व नहीं करते, पुण्य–पापको एकसा जानते हैं, अंतरंग और बाह्यमें निर्विकार रहते हैं[1], जिनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण उन्नति पर हैं॥ ४९॥ ऐसी जिनकी स्वाभाविक दशा है, उन्हें आत्मस्वरूपकी दुविधा कैसे हो सकती है? वे मुनि क्षपक श्रेणिपर चढ़ते हैं और केवली भगवान बनते हैं॥ ५०॥

सम्यग्दृष्टी जीवोंको बंदना (दोहा)

इहि बिधि जे पूरन भये, अष्टकरम बन दाहि।
तिन्हकी महिमा जो लखै, नमै बनारसि ताहि॥ ५१॥

शब्दार्थः—पूरन भये = परिपूर्ण उन्नतिको प्राप्त हुए। दाहि = जलाकर। लखै = जाने।

अर्थः—जो इस रीतिसे अष्टकर्मका वन जलाकर परिपूर्ण हुए हैं, उनकी महिमाको जो जानता है उसे पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं॥ ५१॥

मोक्ष प्राप्तिका क्रम (छप्पय छन्द)

भयौ सुद्ध अंकूर, गयौ मिथ्यात मूर नसि।
क्रम क्रम होत उदोत,

---

[1] देखनेमें नेत्रोंकी लालिमा वा चेहरेकी वक्रता रहित शरीरकी मुद्रा रहती है और अंतरंगमें क्रोधादि विकार नहीं होते।

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥ १३॥

इति मोक्षो निष्क्रान्तः ॥ ९॥

सहज जिम सुकल पक्ष ससि॥
केवल रूप प्रकासि,
भासि सुख रासि धरम ध्रुव।
करि पूरन थिति आउ,
त्यागि गत लाभ परम हुव॥
इह विधि अनन्य प्रभुता धरत,
प्रगटि बूंदि सागर थयौ।
अविचल अखंड अनुभय अखय,
जीव दरब जग मंहि जयौ॥ ५२॥

शब्दार्थः—अंकूर (अंकुर) = पौधा। मूर (मूल) = जड़से। सुकल पक्ष ससि (शुक्ल पक्ष शशि) = उजेले पक्षका चन्द्रमा। अनन्य = जिसके समान दूसरा नहीं—सर्व श्रेष्ठ।

अर्थः—शुद्धताका अंकुर प्रगट हुआ, मिथ्यात्व जड़से हट गया, शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान क्रमशः ज्ञानका उदय बढ़ा, केवलज्ञानका प्रकाश हुआ, आत्माका नित्य और पूर्ण आनंदमय स्वभाव भासने लगा, मनुष्य आयु और कर्मकी स्थिति पूर्ण हुई, मनुष्यगतिका अभाव हुआ और पूर्ण परमात्मा बना। इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ महिमा प्राप्त करके पानीकी बूंदसे समुद्र होनेके समान अविचल, अखंड, निर्भय और अक्षय जीवपदार्थ, संसारमें जयवन्त हुआ॥ ५२॥

अष्ट कर्मोंके नष्ट होनेसे अष्ट गुणोंका प्रगट होना
(सवैया इकतीसा)

ग्यानावरनीकै गयैं जानियै जु है सु सब,
दर्सनावरनकै गयैतैं सब देखियै।
वेदनी करमके गयैतैं निराबाध सुख,
मोहनीके गयैं सुद्ध चारित विसेखियै॥

आउकर्म गयैं अवगाहना अटल होइ,
नामकर्म गयैतैं अमूरतीक पेखियै।
अगुरु अलघुरूप होत गोत्रकर्म गयैं,
अंतराय गयैतैं अनंत बल लेखियै॥ ५३॥

शब्दार्थः—निराबाध रस = साता-असाताके क्षोभका अभाव। अटल अवगाहना = चारों गतिके भ्रमणका अभाव। अमूर्तीक = चर्म चक्षुओंके अगोचर। अगुरु अलघु = न ऊँच न नीच।

अर्थः—ज्ञानावरणीय कर्मके अभावसे केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्मके अभावसे केवल दर्शन, वेदनीय कर्मके अभावसे निराबाधता, मोहनीय कर्मके अभावसे शुद्ध चारित्र, आयु कर्मके अभावसे अटल अवगाहना, नाम कर्मके अभावसे अमूर्तीकता, गोत्र कर्मके अभावसे अगुरु लघुत्व और अंतराय कर्मके नष्ट होनेसे अनंतवीर्य प्रगट होता है। इस प्रकार सिद्ध भगवानमें अष्ट कर्म रहित होनेसे अष्ट गुण होते हैं॥ ५३॥

नवमें अधिकारका सार

प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव बंध है और मिथ्यात्वका अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है, और मोक्ष आत्माका निजस्वभाव अर्थात् जीवकी कर्ममल रहित अवस्था है। वास्तवमें सोचा जावे तो मोक्ष होता ही नहीं है, क्योंकि निश्चयनयमें जीव बँधा हुआ नहीं है—अबंध है, और जब अबंध है तब छूटेगा ही क्या? जीव मोक्ष हुआ यह कथन व्यवहार मात्र है, नहीं तो वह हमेशा मोक्षरूप ही है।

यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य दूसरोंके धनपर अपना अधिकार जमाता है, उस मूर्खको लोक अन्यायी कहते हैं। यदि वह अपनी ही सम्पत्तिका उपयोग करता है तो लोग उसे न्यायशील कहते हैं, इसी प्रकार जब आत्मा परद्रव्योंमें अहंकार करता है, तब वह अज्ञानी मिथ्यात्वी होता है, और जब ऐसी बद आदतको छोड़कर आध्यात्मिक विद्याका अभ्यास करता है तथा आत्मीक रसका

स्वाद लेता है तब प्रमादका पतन करके पुण्य-पापका भेद हटा देता है और क्षपकश्रेणी चढ़कर केवली भगवान बनता है, पश्चात् थोड़े ही समयमें अष्ट कर्म रहित और अष्ट गुण सहित सिद्ध पदको प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय ममता हटाने और समता सम्हालनेका है। जिस प्रकार कि सुनारके प्रसंगसे सोनेकी नाना अवस्थाएँ होती हैं, परन्तु उसकी सुवर्णता कहीं नहीं चली जाती। जलानेसे फिर सुवर्णका सुवर्ण ही बना रहता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा अनात्माके संसर्गसे अनेक वेष धारण करता है, परन्तु उसकी चैतन्यता कहीं चली नहीं जाती है—वह तो ब्रह्मका ब्रह्म ही बना रहता है। इसलिये शरीरसे मिथ्या अभिमान हटाकर आत्मसत्ता और अनात्मसत्ताका पृथक्करण करना चाहिये, ऐसा करनेसे थोड़ेही समयमें आधुनिक बूंद मात्र ज्ञान स्वल्प कालहीमें समुद्ररूप परिणमन करता है और अविचल अखंड अक्षय अनभय और शुद्ध स्वरूप होता है।

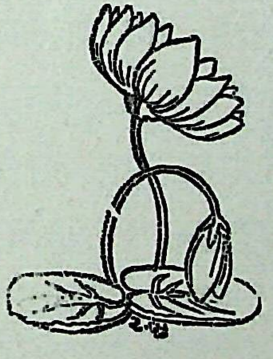

सर्व विशुद्धि द्वार

(१०)

प्रतिज्ञा (दोहा)

इति श्री नाटक ग्रंथमैं, कह्यौ मोख अधिकार ।
अब बरनौं संछेपसौं, सर्व विसुद्धी द्वार ॥ १ ॥

अर्थः—नाटक समयसार ग्रंथके मोक्ष अधिकारकी इति श्री की, अब सर्व विशुद्धि द्वारको संक्षेपमें कहते हैं ॥ १ ॥

सर्व उपाधि रहित शुभ आत्माका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

कर्मनिकौ करता है भोगनिकौ भोगता है,
जाकी प्रभुतामैं ऐसौ कथन अहित है ।
जामैं एक इंद्री आदि पंचधा कथन नांहि,
सदा निरदोष बंध मोखसौं रहित है ॥
ग्यानकौ समूह ग्यान गम्य है सुभाव जाकौ,
लोक व्यापी लोकातीत लोकमैं महित है ।
सुद्ध बंस सुद्ध चेतनाकै रस अंस भर्‌यौ,
ऐसौ हंस परम पुनीतता सहित है ॥ २ ॥

शब्दार्थः—प्रभुता = सामर्थ्य । अहित = बुराई करनेवाला । पंचधा = पांच प्रकारकी । लोकातीत = लोकसे परे । महित = पूजनीय । परम पुनीत = अत्यन्त पवित्र ।

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥ १ ॥

अर्थः—जिसकी सामर्थ्यके आगे कर्मका कर्ता है और कर्मका भोगता है ऐसा कहना हानिकारक[1] है, पंचेंन्द्रिय भेदका कथन जिसमें नहीं है, जो सर्व दोष रहित है, जो न कर्मसे बंधता है न छूटता है, जो ज्ञानका पिंड और ज्ञान-गोचर है, जो लोक व्यापी है, लोकसे परे है, संसारमें पूजनीय अर्थात् उपादेय है, जिसकी जाति शुद्ध है, जिसमें चैतन्यरस भरा हुआ है, ऐसा हंस अर्थात् आत्मा परम पवित्र है ॥ २ ॥

पुनः (दोहा)

जो निहचै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अंत ।
सो चिद्रूप बनारसी, जगत मांहि जयवंत ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—निहचै = निश्चयनयसे । निर्मल = पवित्र । चिद्रूप = चैतन्यरूप ।

अर्थः—जो निश्चयनयसे आदि, मध्य और अंतमें सदैव निर्मल है, पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि वह चैतन्य-पिंड आत्मा जगतमें सदा जयवंत रहै ॥ ३ ॥

वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता-भोगता नहीं है (चौपाई)

जीव करम करता नहि ऐसैं ।
रस भोगता सुभाव न तैसैं ॥
मिथ्यामतिसौं करता होई ।
गएं अग्यान अकरता सोई ॥ ४ ॥

अर्थः—जीव पदार्थ वास्तवमें कर्मका कर्ता नहीं है और न कर्मरसका भोगता है, मिथ्यामतिसे कर्मका कर्ता-भोगता होता है, अज्ञान हटनेसे कर्मका अकर्ता-अभोगता ही होता है ॥ ४ ॥

---

[1] व्यवहारनय जीवको कर्मका कर्ता-भोगता कहता है, परंतु वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता-भोगता नहीं है, अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावका कर्ता-भोगता है ।

कर्त्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ २ ॥

अज्ञानमें जीव कर्मका कर्ता है (सवैया इकतीसा)

निहचै निहारत सुभाव याहि आतमाकौ,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत बरतमान काल जाकौ,
केवल स्वरूप गुन लोकालोक भासना॥
सोई जीव संसार अवस्था मांहि करमकौ,
करतासौ दीसै लीएं भरम उपासना।
यहै महा मोहकौ पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह विवहार वासना॥ ५॥

शब्दार्थः—निहारत = देखनेसे। उपासना = सेवा। पसार = विस्तार। मिथ्याचार = निजस्वभावसे विपरीत आचरण। भौ = जन्म-मरणरूप संसार। व्यवहार = किसी निमित्तके वशसे एक पदार्थको दूसरे पदार्थरूप जाननेवाले ज्ञानको व्यवहार नय कहते हैं, जैसे—मिट्टीके घड़ेको घीके निमित्तसे घीका घडा कहना।

अर्थः—निश्चयनयसे देखो तो इस आत्माका निज-स्वभाव परम प्रकाश-रूप है और जिसमें लोकालोकके छहों द्रव्योंके भूत भविष्यत वर्तमान त्रिकालवर्ती अनंत गुण पर्यायें प्रतिभासित होती हैं। वही जीव संसारी दशामें मिथ्यात्वकी सेवा करनेसे कर्मका कर्ता दिखता है, सो यह मिथ्यात्वकी सेवा मोहका विस्तार है, मिथ्याचरण है, जन्म-मरणरूप संसारका विकार है, व्यवहारका विषयभूत आत्माका अशुद्ध स्वभाव है॥ ५॥

जैसे जीव कर्मका अकर्ता है वैसे अभोगता भी है (चौपाई)

यथा जीव करता न कहावै।
तथा भोगता नाम न पावै॥

अकर्ता जोवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥ २॥

है भोगी मिथ्यामति मांही।
गयैं मिथ्यात भोगता नांही॥ ६॥

अर्थः—जिस प्रकार जीव कर्मका कर्ता नहीं है उसी प्रकार भोगता भी नहीं है, मिथ्यात्वके उदयमें कर्मका भोगता है, मिथ्यात्वके अभावमें भोगता नहीं है॥ ६॥

अज्ञानी जीव विषयोंका भोगता है ज्ञानी नहीं है (सवैया इकतीसा)

जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइ बुद्धी,
सो तौ विषै भोगनिकौ भोगता कहायौ है।
समकिती जीव जोग भोगसौं उदासी तातैं,
सहज अभोगता गरंथनिमैं गायौ है॥
याही भांति वस्तुकी व्यवस्था अवधारि बुध,
परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है।
निरबिकलप निरुपाधि आतम अराधि,
साधि जोग जुगति समाधिमैं समायौ है॥ ७॥

शब्दार्थः—जगवासी = संसारी। विषै (विषय) = पंच इन्द्रिय और मनके भोग। गरंथनिमैं = शास्त्रोंमें। अवधारि = निर्णय करके। बुध = ज्ञानी। जोग जुगति = योग निग्रहका उपाय।

अर्थः—शास्त्रोंमें मनुष्य आदि पर्यायोंसे सदा काल अहंबुद्धि रखनेवाले अज्ञानी संसारी जीवको अपने स्वरूपका अज्ञाता होनेसे विषय भोगोंका भोगता कहा है, और ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीवको भोगोंसे विरक्त भाव रखनेके कारण विषय भोगते हुए भी अभोगता कहा है। ज्ञानी लोग इस प्रकार वस्तु स्वरूपका निर्णय करके विभाव भाव छोड़कर स्वभाव ग्रहण करते हैं, और विकल्प तथा उपाधि रहित

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः॥ ४॥

आत्माकी आराधना वा योग निग्रह मार्ग ग्रहण करके निज-स्वरूपमें लीन होते हैं ॥ ७ ॥

ज्ञानी कर्मके कर्ता-भोगता नहीं हैं इसका कारण (सवैया इकतीसा)

चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्म अधिकारी गुन,
रतन भंडारी अपहारी कर्म रोगकौ ।
प्यारौ पंडितनकौं हुस्यारौ मोख मारगमैं,
न्यारौ पुद्गलसौं उज्यारौ उपयोगकौ ।
जानै निज पर तत्त रहै जगमैं विरत्त,
गहै न ममत्त मन वच काय जोगकौ ।
ता कारन ग्यानी ग्यानावरनादि करमकौ,
करता न होइ भोगता न होइ भोगकौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—चिन्मुद्रा = चैतन्य चिह्न । ध्रुव = नित्य । अपहारी कर्म रोगकौ = कर्मरूपी रोगका नष्ट करनेवाला । हुस्यारौ (होश्यर) = प्रवीण । उज्यारौ = प्रकाश । उपयोग = ज्ञानदर्शन । तत्त (तत्त्व) = निजस्वरूप । विरत (विरक्त) = वैरागी । ममत्त (ममत्व) = अपनापन ।

अर्थः—चैतन्य चिह्नका धारक, अपने नित्य स्वभावका स्वामी, ज्ञान आदि गुणरूप रत्नोंका भंडार, कर्मरूप रोगोंका नष्ट करनेवाला, ज्ञानी लोगोंका प्रिय, मोक्षमार्गमें कुशल, शरीर आदि पुद्गलोंसे पृथक्, ज्ञानदर्शनका प्रकाशक, निज पर तत्त्वका ज्ञाता, संसारसे विरक्त, मन वचन कायके योगोंसे ममत्व रहित होनेके कारण ज्ञानी जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता और भोगोंका भोगता नहीं होता है ॥ ८ ॥

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ ५ ॥

(दोहा)

निरभिलाष करनी करै, भोग अरुचि घट मांहि ।
तातैं साधक सिद्धसम, करता भुगता नांहि ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—निरभिलाष = इच्छा रहित । अरुचि = अनुरागका अभाव । साधक = मोक्षका साधक सम्यग्दृष्टी जीव । भुगता (भोक्ता) = भोगनेवाला ।

अर्थः—सम्यग्दृष्टी जीव इच्छा रहित क्रिया करते हैं और अंतरंग भोगोंसे विरक्त रहते हैं, इससे वे सिद्ध भगवानके समान मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्ता-भोगता नहीं हैं ॥ ९ ॥

अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता-भोगता है इसका कारण (कवित्त)

ज्यौं हिय अंध विकल मिथ्यात धर,
मृषा सकल विकलप उपजावत ।
गहि एकंत पक्ष आतमकौ,
करता मानि अधोमुख धावत ॥
त्यौं जिनमती दरबचारित्री कर,
कर करनी करतार कहावत ।
वंछित मुकति तथापि मूढ़मति,
विन समकित भव पार न पावत ॥ १० ॥

अर्थः—हृदयका अंधा अज्ञानी जीव मिथ्यात्वसे व्याकुल होकर मनमें अनेक प्रकारके झूठे विकल्प उत्पन्न करता है, और एकान्त पक्ष ग्रहण करके आत्माको

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ ६ ॥

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा ताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ ७ ॥

कर्मका कर्ता मानके नीच गतिका पंथ पकड़ता है। वह व्यवहारसम्यक्त्वी भाव-चारित्रके बिना बाह्य चारित्र स्वीकार करके शुभ क्रियासे कर्मका कर्ता कहलाता है। वह मूर्ख मोक्षको तो चाहता है परन्तु निश्चय सम्यक्त्वके बिना संसार-समुद्रसे नहीं तरता ॥ १० ॥

वास्तवमें जीव कर्मका अकर्ता है इसका कारण

(चौपाई)

चेतन अंक जीव लखि लीन्हा।
पुदगल कर्म अचेतन चीन्हा॥
बासी एक खेतके दोऊ।
जदपि तथापि मिलैं नहिं कोऊ॥ ११ ॥

अर्थः—जीवका चैतन्य चिह्न जान लिया और पुद्‌गल कर्मको अचेतन पहिचान लिया। यद्यपि ये दोनों एक क्षेत्रावगाही हैं तो भी एक दूसरेसे नहीं मिलते ॥ ११ ॥

पुनः (दोहा)

निज निज भाव क्रियासहित, व्यापक व्यापि न कोइ।
कर्त्ता पुदगल करमकौ, जीव कहांसौं होइ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—व्यापक = जो व्यापै—जो प्रवेश करै। व्यापि = जिसमें व्यापै—जिसमें प्रवेश करे।

अर्थः—दोनों द्रव्य अपने अपने गुण-पर्यायमें रहते हैं, कोई किसीका व्याप्य-व्यापक नहीं है अर्थात् जीवमें न तो पुद्‌गलका प्रवेश होता है और न पुद्‌गलमें जीवका प्रवेश होता है। इससे जीव पदार्थ पौद्‌गलिक कर्मोंका कर्ता कैसे हो सकता है? ॥ १२ ॥

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः॥ ८॥

अज्ञानमें जीव कर्मका कर्त्ता और ज्ञानमें अकर्त्ता है (सवैया इकतीसा)

जीव अरु पुदगल करम रहैं एक खेत,
 जदपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है ।
लक्षन स्वरूप गुन परजै प्रकृति भेद,
 दुहूंमैं अनादिहीकी दुविधा ह्वै रही है ॥
एतेपर भिन्नता न भासै जीव करमकी,
 जौलौं मिथ्याभाव तौलौं औंधि बाउ बही है ।
ग्यानकै उदोत होत ऐसी सूधी द्रिष्टि भई,
 जीव कर्म पिंडकौ अकरतार सही है ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—सत्ता = अस्तित्व । दुविधा = भेदभाव । औंधि = उल्टी । सूधी दृष्टि = सच्चा श्रद्धान । सही = सचमुचमें ।

अर्थः—यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म एक क्षेत्रावगाह स्थित हैं तौ भी दोनोंकी जुदी जुदी सत्ता है। उनके लक्षण, स्वरूप, गुण, पर्याय, स्वभावमें अनादिका ही भेद है। इतनेपर भी जब तक मिथ्याभावका उल्टा विचार चलता है तब तक जीव पुद्गलकी भिन्नता नहीं भासती, इससे अज्ञानी जीव अपनेको कर्मका कर्ता मानता है, पर ज्ञानका उदय होते ही ऐसा सत्य श्रद्धान हुआ कि सचमुचमें जीव कर्मका कर्ता नहीं है।

विशेष—जीवका लक्षण उपयोग है, पुद्गलका स्पर्श रस गंध वर्ण है। जीव अमूर्तीक है, पुद्गल मूर्तीक है। जीवके गुण दर्शन ज्ञान सुख आदि हैं, पुद्गलके गुण स्पर्श रस गंध वर्ण आदि हैं। जीवकी पर्यायें नर नारक आदि हैं, पुद्गलकी पर्यायें ईंट पत्थर पृथ्वी आदि हैं। जीव अबंध और अखंड द्रव्य है, पुद्गलमें स्निग्ध रुक्षता है। इससे उसके परमाणु मिलते बिछुरते हैं। भाव यह है

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
 सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
 पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥ ९ ॥

कि दोनोंके द्रव्य क्षेत्र काल भावका चतुष्टय जुदा जुदा है और जुदी जुदी सत्ता है। दोनों अपने ही गुण-पर्यायोंके कर्ता-भोगता हैं, कोई किसी दूसरेका कर्त्ता-भोगता नहीं है॥ १३॥

पुनः (दोहा)

एक वस्तु जैसी जु है, तासौं मिलै न आन।
जीव अकरता करमकौ, यह अनुभौ परवांन॥ १४॥

अर्थः—जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही है, उसमें अन्य पदार्थ नहीं मिल सकता, इससे जीव कर्मका अकर्त्ता है, यह विज्ञानसे सर्वथा सत्य है॥ १४॥

अज्ञानी जीव अशुभ भावोंका कर्ता होनेसे भावकर्मका कर्ता है (चौपाई)

*जो दुरमती विकल अग्यानी।
जिन्हि सु रीति पर रीति न जानी॥
माया मगन भरमके भरता।
ते जिय भाव करमके करता॥ १५॥

अर्थः—जो दुर्बुद्धिसे व्याकुल और अज्ञानी हैं वे निज-परणति और पर-परणतिको नहीं जानते, मायामें मग्न हैं और भ्रममें भूले हैं इससे वे भाव कर्मके कर्ता हैं॥ १५॥

जे मिथ्यामति तिमिरसौं, लखै न जीव अजीव।
तेई भावित करमके, करता होंहिं सदीव॥ १६॥

जे असुद्ध परनति धरैं, करैं अहं परवांन।
ते असुद्ध परिनामके, करता होंहिं अजान॥ १७॥

---

*ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ १०॥

अर्थः—जो मिथ्याज्ञानके अंधकारसे जीव-अजीवको नहीं जानते वे ही सदा भावकर्मके कर्ता हैं ॥ १६ ॥ जो विभावपरणतिके कारण परपदार्थोंमें अहंबुद्धि करते हैं वे अज्ञानी अशुद्ध भावोंके कर्ता होनेसे भावकर्मोंके कर्ता हैं ॥ १७ ॥

इसके विषयमें शिष्यका प्रश्न (दोहा)

शिष्य कहै प्रभु तुम कह्यौ, दुबिधि करमकौ रूप ।
दरब कर्म पुदगल मई, भावकर्म चिद्रूप ॥ १८ ॥
करता दरवित करमकौ, जीव न होइ त्रिकाल ।
अब यह भावित करम तुम, कहौ कौनकी चाल ॥ १९ ॥
करता याकौ कौन है, कौन करै फल भोग ।
कै पुदगल कै आतमा, कै दुहुंकौ संजोग ? ॥ २० ॥

अर्थः—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामि ! आपने कहा कि कर्मका स्वरूप दो प्रकारका है, एक पुद्गलमय द्रव्यकर्म हैं और दूसरे चैतन्यके विकार भावकर्म हैं ॥ १८ ॥ आपने यह भी कहा कि जीव, द्रव्यकर्मोंका कर्त्ता कभी त्रिकालमें भी नहीं हो सकता, तो अब आप कहिये कि भावकर्म किसकी परिणति है ? ॥ १९ ॥ इन भावकर्मोंका कर्त्ता कौन है ? और उनके फलका भोगता कौन है ? भावकर्मोंका कर्त्ता-भोगता पुद्गल है या जीव है, या दोनोंके संयोगसे कर्त्ता-भोगता है ? ॥ २० ॥

इसपर श्रीगुरु समाधान करते हैं (दोहा)

क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम मांहि ।
अथवा करनी औरकी, और करै यौं नांहि ॥ २१ ॥
करै और फल भोगवै, और बनै नहि एम ।
जो करता सो भोगता, यहै जथावत जेम ॥ २२ ॥

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥ ११ ॥

भावकरम करतव्यता, स्वयंसिद्ध नहि होइ ।
जो जगकी करनी करै, जगवासी जिय सोइ ॥ २३ ॥

जिय करता जिय भोगता, भावकरम जियचाल ।
पुद्गल करै न भोगवै, दुविधा मिथ्याजाल ॥ २४ ॥

तातैं भावित करमकौं, करै मिथ्याती जीव ।
सुख दुख आपद संपदा, भुंजै सहज सदीव ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—जुगल (युगल) = दो । जिनागम (जिन + आगम) = जिनराजका उपदेश । जथावत = वास्तवमें । कर्तव्यता = करतूति । स्वयंसिद्ध = अपने आप । जगवासी जिय = संसारी जीव । जियचाल = जीवकी परणति । दुविधा = दोनों ओरका झुकाव । आपद = इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग । संपदा = अनिष्ट वियोग, इष्ट संयोग । भुंजै = भोगै ।

अर्थः—क्रिया एक और कर्त्ता दो ऐसा कथन जिनराजके आगममें नहीं है, अथवा किसीकी क्रिया कोई करे, ऐसा भी नहीं हो सकता ॥ २१ ॥ क्रिया कोई करे और फल कोई भोगे ऐसा जैन बैनमें नहीं है, क्योंकि जो कर्त्ता होता है, वही वास्तवमें भोगता होता है ॥ २२ ॥ भावकर्मका उत्पाद अपने आप नहीं होता, जो संसारकी क्रिया-हलन चलन चतुर्गति भ्रमण आदि करता है, वही संसारी जीव भावकर्मका कर्त्ता है ॥ २३ ॥ भावकर्मोंका कर्त्ता जीव है, भावकर्मोंका भोगता जीव है, भावकर्म जीवकी विभावपरणति है । इनका कर्त्ता-भोगता पुद्गल नहीं है, और पुद्गल तथा दोनोंका मानना मिथ्या जंजाल है ॥ २४ ॥ इससे स्पष्ट है कि भावकर्मोंका कर्त्ता मिथ्यात्वी जीव है और वही उनके फल सुख-दुख वा संयोग-वियोगको सदा भोगता है ॥ २५ ॥

कर्मके कर्त्ता-भोगता बाबत एकांत पक्षपर विचार (सवैया इकतीसा)

केई मूढ़ विकल एकंत पच्छ गहैं कहैं,
आतमा अकरतार पूरन परम है ।

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥ १२ ॥

तिन्हिसौं जु कोऊ कहै जीव करता है तासौं,
फेरि कहैं करमकौ करता करम है ॥
ऐसै मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव,
जिन्हिकैं हिए अनादि मोहकौ भरम है ।
तिन्हिकौं मिथ्यात दूर करिबैकौं कहैं गुरु,
स्यादवाद परवांन आतम धरम है ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—विकल = दुखी । एकान्त पक्ष = पदार्थके एक धर्मको उसका स्वरूप माननेका हठ । ब्रह्मघाती = अपने जीवका अहित करनेवाला ।

अर्थः—अज्ञानसे दुखी अनेक एकान्तवादी कहते हैं कि आत्मा कर्मका कर्त्ता नहीं है, वह पूर्ण परमात्मा है। और उनसे कोई कहे कि कर्मोंका कर्त्ता जीव है, तो वे एकान्तपक्षी[१] कहते हैं कि कर्मका कर्त्ता कर्म ही है। ऐसे मिथ्यात्वमें पगे हुए मिथ्यात्वी जीव आत्माके घातक हैं, उनके हृदयमें अनादि कालसे मोहकर्म जनित भूल भरी हुई है। उनका मिथ्यात्व दूर करनेके लिये श्रीगुरुने स्याद्वादरूप आत्माका स्वरूप वर्णन किया है ॥ २६ ॥

स्याद्वादमें आत्माका स्वरूप (दोहा)

चेतन करता भोगता, मिथ्या मगन अजान ।
नहि करता नहि भोगता, निहचै सम्यकवान ॥ २७ ॥

अर्थः—मिथ्यात्वमें पगा हुआ अज्ञानी जीव कर्मका कर्त्ता-भोगता है, निश्चयका अवलम्बनलेनेवाला सम्यक्त्वी कर्मका न करता है न भोगता है ॥ २७ ॥

इस विषयका एकान्तपक्ष खंडन करनेवाले स्याद्वादका उपदेश (सवैया इकतीसा)

*जैसैं सांख्यमती कहैं अलख अकरता है,
सर्वथा प्रकार करता न होइ कबहीं ।

---

[१] सांख्यमती आदि ।

*माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयम्
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥ १३ ॥

तैसैं जिनमती गुरुमुख एक पक्ष सुनि,
याहि भांति मानै सौ एकंत तजौ अबहीं ॥
जौलौं दुरमती तौलौं करमकौ करता है,
सुमती सदा अकरतार कह्यौ सबहीं ।
जाकै घटि ग्यायक सुभाउ जग्यौ जबहीसौं,
सो तौ जगजालसौं निरालौ भयौ तबहीं ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—जिनमती = जिनराज कथित स्याद्वाद विद्याके ज्ञाता ।

अर्थः—जिस प्रकार सांख्यमती कहते हैं कि आत्मा अकर्त्ता है, किसी भी हालतमें कभी कर्ता नहीं हो सकता । जैनमती भी अपने गुरुके मुखसे एक नयका कथन सुनकर इसी प्रकार मानते हैं, पर इस एकान्तवादको अभी ही छोड़ दो, सत्यार्थ बात यह है कि जब तक अज्ञान है, तब तक ही जीव कर्मका कर्त्ता है, सम्यग्ज्ञानकी सब हालतोंमें सदैव अकर्त्ता कहा है। जिसके हृदयमें जबसे ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ है वह तभीसे जगतके जंजालसे निराला हुआ—अर्थात् मोक्षके सन्मुख हुआ है ॥ २८ ॥

इस विषयमें बौद्धमतवालोंका विचार (दोहा)

बौध छिनकवादी कहै, छिनभंगुर तन मांहि ।
प्रथम समय जो जीव है, दुतिय समय सो नांहि ॥ २९ ॥
तातैं मेरै मतविषैं, करै करम जो कोइ ।
सो न भोगवै सरवथा, और भोगता होइ ॥ ३० ॥

अर्थः—क्षणिकवादी बौद्धमतवाले कहते हैं कि जीव शरीरमें क्षणभर रहता

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥ १४ ॥

है, सदैव नहीं रहता। प्रथम समयमें जो जीव है वह दूसरे समयमें[1] नहीं रहता ॥ २९ ॥ इससे मेरे विचारमें जो कर्म करता है वह किसी हालतमें भी भोगता नहीं हो सकता, भोगनेवाला और ही होता है ॥ ३० ॥

बौद्धमतवालोंका एकान्त विचार दूर करनेको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं

(दोहा)

यह एकंत मिथ्यात पख, दूर करनकै काज।
चिद्विलास अविचल कथा, भाषै श्रीजिनराज ॥ ३१ ॥

बालापन काहू पुरुष, देख्यौ पुर एक कोइ।
तरुन भए फिरिकैं लख्यौ, कहै नगर यह सोइ ॥ ३२ ॥

जो दुहु पनमैं एक थौ, तौ तिनि सुमिरन कीय।
और पुरुषकौ अनुभव्यौ, और न जानैं जीय ॥ ३३ ॥

जब यह वचन प्रगट सुन्यौ, सुन्यौ जैनमत सुद्ध।
तब इकंतवादी पुरुष, जैन भयौ प्रतिबुद्ध ॥ ३४ ॥

अर्थः—यह एकान्तवादकी मिथ्यापक्ष हटानेके लिये श्रीमज्जिनेन्द्रदेव आत्माके नित्यस्वरूपका कथन करते हुए कहते हैं ॥ ३१ ॥ कि किसी मनुष्यने बालकपनमें कोई नगर देखा, और फिर कुछ दिनोंके बाद जवानीकी अवस्थामें वही नगर देखा तो कहता है कि यह वही नगर है जो पूर्वमें देखा था ॥ ३२ ॥ दोनों अवस्थाओंमें वह एक ही जीव था तब तो उसने स्मरण किया, किसी दूसरे जीवका जाना हुआ वह नहीं जान सकता था ॥ ३३ ॥ जब इस प्रकारका स्पष्ट कथन सुना और सच्चे जैनमतका उपदेश मिला तब वह एकान्तवादी मनुष्य प्रतिबुद्ध हुआ और उसने जैनमत अंगीकार किया ॥ ३४ ॥

---

[1] एक सेकिण्डमें असंख्य समय होते हैं।

बौद्ध भी जीव द्रव्यको क्षण-भंगुर कैसे मान बैठे इसका कारण बतलाते हैं

(सवैया इकतीसा)

एक परजाइ एक समैमैं विनसि जाइ,
दूजी परजाइ दूजै समै उपजति है।
ताकौ छल पकरिकैं बौध कहै समै समै,
नवौ जीव उपजै पुरातनकी छति है॥
तातै मानै करमकौ करता है और जीव,
भोगता है और वाकै हिए ऐसी मति है।
परजौ प्रवांनकौं सरवथा दरब जानैं,
ऐसे दुरबुद्धिकौं अवसि दुरगति है॥ ३५॥

शब्दार्थः—परजाइ = अवस्था। पुरातन = प्राचीन। छति (क्षति) = नाश। मति = समझ। परजौ प्रवांन = हालतोंके अनुसार। दुरबुद्धि = मूर्ख।

अर्थः—जीवकी एक पर्याय एक समयमें नष्ट होती है और दूसरे समयमें दूसरी पर्याय उपजती है, और जैनमतका सिद्धान्त भी है, सो उसी बातको पकड़के बौद्धमत कहता है कि क्षण-क्षणपर नया जीव उपजता है, और पुराना विनशता है। इससे वे मानते हैं कि कर्मका कर्त्ता और जीव है, तथा भोगता और ही है, सो उनके चित्तमें ऐसी उलटी समझ बैठ गई है। श्रीगुरु कहते हैं कि जो पर्यायके अनुसार ही द्रव्यको सर्वथा अनित्य मानता है ऐसे मूर्खकी अवश्य कुगति होती है।

विशेषः—क्षणिकवादी जानते हैं कि मांस-भक्षण आदि अनाचारमें वर्तनेवाला जीव है, वह नष्ट हो जावेगा, अनाचारमें वर्तनेवालेको तो कुछ भोगना ही नहीं पड़ेगा, इससे मौज करते हैं और मनमाने वर्तते हैं। परन्तु किया हुआ कर्म भोगना ही पड़ता है। सो नियमसे वे अपने आत्माको कुगतिमें पटकते हैं॥ ३५॥

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा॥ १५॥

दुर्बुद्धिकी दुर्गतिही होती है (दोहा)

कहै अनातमकी कथा, चहै न आतम सुद्धि ।
रहै अध्यातमसौं विमुख, दुराराधि दुरबुद्धि ॥ ३६ ॥
दुरबुद्धी मिथ्यामती, दुरगति मिथ्याचाल ।
गहि एकंत दुरबुद्धिसौं, मुकत न होइ त्रिकाल ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—अनातम = अजीव । अध्यातम = आत्मज्ञान । विमुख = विरुद्ध । दुराराधि = किसी भी तरहसे न समझनेवाला । दुर्बुद्धि = मूर्ख ।

अर्थः—मूर्ख मनुष्य अनात्माकी चरचा किया करता है, आत्माका अभाव कहता है—आत्मशुद्धि नहीं चाहता । वह आत्मज्ञानसे परान्मुख रहता है, बहुत परिश्रम पूर्वक समझानेसे भी नहीं समझता ॥ ३६ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव अज्ञानी है, और उसकी मिथ्याप्रवृत्ति दुर्गतिका कारण है, वह एकान्तपक्ष ग्रहण करता है, और ऐसी मूर्खतासे वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

दुर्बुद्धिकी भूलपर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

कायासौं विचारै प्रीति मायाहीसौं हारि जीति,
लियैं हठ रीति जैसैं हारिलकी लकरी ।
चंगुलके जोर जैसैं गोह गहि रहै भूमि,
त्यौंही पाइ गाड़ै पै न छाड़ै टेक पकरी ॥
मोहकी मरोरसौं भरमकौ न छोर पावै,
धावै चहुं वौर ज्यौं बढ़ावै जाल मकरी ।
ऐसी दुरबुद्धि भूली झूठके झरोखे झूली,
फूली फिरै ममता जंजीरनिसौं जकरी ॥ ३८ ॥

शब्दार्थः—काया = शरीर । हठ = दुराग्रह । गहि रहै = पकड़ रक्खे । लकरी = लाठी । चंगुल = पकड़ । पाइ गाड़ै = अड़ जाता है । टेक = हठ । धावै = भटके ।

अर्थः—अज्ञानी जीव शरीरसे अनुराग रखता है, धनकी कमीमें हार और

धनकी बढ़तीमें विजय मानता है, हठीला तो इतना होता है कि जिस प्रकार हरियल पक्षी अपने पांवसे लकड़ीको खूब मजबूत पकड़ता है, अथवा जिस प्रकार गोह[1] जमीन वा दीवालको पकड़कर रह जाता है, उसी प्रकार वह अपनी कुटेव नहीं छोड़ता—उसी पर डटा रहता है। मोहके झकोरोंसे उसके भ्रमकी थाह नहीं मिलती अर्थात् उसका मिथ्यात्व अनंत होता है, वह चतुर्गतिमें भटकता हुआ मकड़ीकासा जाल फैलाता है, इस प्रकार उसकी मूर्खता अज्ञानसे झूठके मार्गमें झूल रही है, और ममताकी साँकलोंसे जकड़ी हुई बढ़ रही है॥ ३८॥

दुर्बुद्धिकी परणति (सवैया इकतीसा)

बात सुनि चौंकि उठै बातहीसौं भौंकि उठै,
 बातसौं नरम होइ बातहीसौं अकरी।
निंदा करै साधुकी प्रसंसा करै हिंसककी,
 साता मानैं प्रभुता असाता मानैं फकरी॥
मोख न सुहाइ दोष देखै तहां पैठि जाइ,
 कालसौं डराइ जैसैं नाहरसौं बकरी।
ऐसी दुरबद्धि भूली झूठके झरोखे झूली,
 फूली फिरै ममता जंजीरनिसौं जकरी॥ ३९॥

शब्दार्थः—चौंकि उठे=तेज पड़े। भौंकि उठै=कुत्तेके समान भौंकने लगे। अकरी=ऐंठ जावे। प्रभुता=बड़प्पन। फकरी (फकीरी)=गरीबी। काल=मृत्यु। नाहर=बाघ, सिंह।

अर्थः—अज्ञानी जीव हिताहित नहीं विचारता, बात सुनते ही तेज पड़ने लगता है, बात ही सुनकर कुत्तेके समान भौंकने लगता है, मन रुचिती बात सुनकर नरम हो जाता है, और असुहाती बात हो तो ऐंठ जाता है। मोक्षमार्गी

---

[1] गोह एक प्रकारका जानवर होता है। उसे चोर लोग पासमें रखते हैं, जब उन्हें ऊँचे महलों मंदिरोंपर चढ़ना होता है तब वे गोहकी कमरसे लंबी रस्सी बाँधकर उसे ऊपरको फेंक देते हैं, तो वह ऊपर जमीन वा भीतको खूब मजबूत पकड़ लेता है और चोर लटकती हुई रस्सीको पकड़कर ऊपर चढ़ जाते हैं।

साधुओंकी निन्दा करता है, हिंसक अधर्मियोंकी प्रशंसा करता है, साताके उदयमें अपनेको महान और असाताके उदयमें तुच्छ गिनता है। उसे मोक्ष नहीं सुहाता, कहीं दुर्गुण दिखाई देवें तो उन्हें शीघ्र अंगीकार कर लेता है। शरीरमें अहंबुद्धि होनेके कारण मौतसे तो ऐसा डरता है जैसे बाघसे बकरी डरती है, इस प्रकार उसकी मूर्खता अज्ञानसे झूठके मार्गमें झूल रही है और ममताकी साँकलोंसे जकड़ी हुई बढ़ रही है॥ ३९॥

अनेकान्तकी महिमा (कवित्त)

केई कहैं जीव क्षनभंगुर,
केई कहैं करम करतार।
केई करमरहित नित जंपहिं,
नय अनंत नानापरकार॥
जे एकांत गहैं ते मूरख,
पंडित अनेकांत पख धार।
जैसैं भिन्न भिन्न मुकताहल,
गुनसौं गहत कहावै हार॥ ४०॥

शब्दार्थः—क्षनभंगुर = अनित्य। जंपहिं = कहते हैं। एकान्त = एक ही नय। अनेकांत = अपेक्षित अनेक नय। पख धार = पक्ष ग्रहण करना। मुकताहल (मुक्ताफल) = मोती। गुन = सूत।

अर्थः—बौद्धमती जीवको अनित्य ही कहते हैं, मीमांसक मतवाले जीवको कर्मका करता ही कहते हैं। सांख्यमती जीवको कर्मरहित ही कहते हैं। ऐसे अनेक मतवाले एक एक धर्मको ग्रहण करके अनेक प्रकारका कहते हैं, पर जो एकान्त ग्रहण करते हैं वे मूर्ख हैं, विद्वान् लोग अनेकांतको

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतैः
आत्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः॥ १६॥

स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार मोती जुदा-जुदा होते हैं, पर सूतमें गुहनेसे हार बन जाता है। उसी प्रकार अनेकांतसे पदार्थकी सिद्धि होती है, और जिस प्रकार जुदा-जुदा मोती हारका काम नहीं देते, उसी प्रकार एक नयसे पदार्थका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, बल्कि विपरीत हो जाता है॥ ४०॥

पुनः (दोहा)

यथा सूत संग्रह विना, मुकत माल नहि होइ।
तथा स्यादवादी विना, मोख न साधै कोइ॥ ४१॥

शब्दार्थः—संग्रह = इकट्ठे। मुकत माल = मोतियोंकी माला।

अर्थः—जैसे सूतमें पोये विना मोतियोंकी माला नहीं बनती. वैसेही स्यादवादीके बिना कोई मोक्षमार्ग नहीं साध सकता॥ ४१॥

पुनः (दोहा)

पद सुभाव पूरब उदै, निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ, सरवंगी सिव चाल॥ ४२॥

शब्दार्थः—पद = पदार्थ। सुभाव (स्वभाव) = निजधर्म। उद्यम = पुरुषार्थ, तदवीर। काल = समय। पक्षपात = एक ही नयका ग्रहण। सरवंगी = अनेक नयका ग्रहण।

अर्थः—कोई पदार्थके स्वभावहीको, कोई पूर्वकर्मके उदयहीको, कोई निश्चयमात्रको, कोई पुरुषार्थको और कोई कालहीको मानते हैं, पर एकही पक्षका हठ ग्रहण करना मिथ्यात्व है, और अपेक्षित सबहीको स्वीकार करना सत्यार्थ है॥ ४२॥

भावार्थः—कोई कहता है कि जो कुछ होता है, सो स्वभाव (नेचरल) हीसे अर्थात् प्रकृतिसे होता है, कोई कहते हैं कि जो कुछ होता है, वह तकदीरसे होता है, कोई कहते हैं कि एक ब्रह्म ही है, न कुछ नष्ट होता है, न कुछ उत्पन्न

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः॥ १७॥

होता है, कोई कहते हैं कि तदवीर ही प्रधान है, कोई कहते हैं कि जो कुछ करता है सो काल ही करता है, परन्तु इन पाँचोंमेंसे एक किसीहीको मानना, शेष चारका अभाव करना एकान्त है।

छहों मतवालोंका जीव पदार्थपर विचार (सवैया इकतीसा)

एक जीव वस्तुके अनेक गुन रूप नाम,
निजजोग सुद्ध परजोगसौं असुद्ध है।
वेदपाठी ब्रह्म कहैं मीमांसक कर्म कहैं,
सिवमती सिव कहैं बौद्ध कहैं बुद्ध है॥
जैनी कहैं जिन न्यायवादी करतार कहैं,
छहौं दरसनमें वचनकौ विरुद्ध है।
वस्तुकौ सुरूप पहिचानै सोई परवीन,
वचनकै भेद भेद मानै सोई सुद्ध है॥ ४३॥

शब्दार्थः—निजजोग = निजस्वरूपसे। परजोग = अन्य पदार्थके संयोगसे। दरसन (दर्शन) = मत। वस्तुकौ सुरूप = पदार्थका निजस्वभाव। परवीन (प्रवीण) = पंडित।

अर्थः—एक जीव पदार्थके अनेक गुण, अनेक रूप, अनेक नाम हैं, वह परपदार्थके संयोग बिना अर्थात् निजस्वरूपसे शुद्ध है और परद्रव्यके संयोगसे अशुद्ध है। उसे वेदपाठी अर्थात् वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, मीमांसक कर्म कहते हैं, शैवलोग वैशेषिक मतवाले शिव कहते हैं, बौद्ध मतवाले बुद्ध कहते हैं, जैनी लोग जिन कहते हैं, नैयायिक कर्त्ता कहते हैं। इस प्रकार छहों मतके कथनमें वचनका विरोध है। परन्तु जो पदार्थका निज-स्वरूप जानता है वही पण्डित है, और जो वचनके भेदसे पदार्थमें भेद मानता है वही मूर्ख है॥ ४३॥

पाँचों मतवाले एकान्ती और जैनी स्याद्वादी हैं (सवैया इकतीसा)

बेदपाठी ब्रह्म मांनि निहचै सुरूप गहैं,
मीमांसक कर्म मांनि उदैमैं रहत है।

बौद्धमती बुद्ध मांनि सूच्छम सुभाव साधै,
सिवमती सिवरूप कालकौं कहत है ॥
न्याय ग्रंथके पढ़ैया थापैं करतार रूप,
उद्दिम उदीरि उर आनंद लहत है ।
पांचौं दरसनि तेतौ पोषैं एक एक अंग,
जैनी जिनपंथी सरवंगी नै गहत है ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—उद्दिम = क्रिया । आनंद = हर्ष । पोषैं = पुष्ट करें । जिनपंथी = जैनमतके उपासक । सरवंगी नै = सर्वनय-स्याद्वाद ।

अर्थः—वेदान्ती जीवको निश्चयनयकी दृष्टिसे देखकर उसे सर्वथा ब्रह्म कहता है, मीमांसक जीवके कर्म-उदयकी तरफ दृष्टि देकर उसे कर्म कहता है, बौद्धमती जीवको बुद्ध मानता है और उसका क्षणभंगुर सूक्ष्म स्वभाव सिद्ध करता है, शैव जीवको शिव मानता है और शिवको कालरूप कहता है, नैयायिक जीवको क्रियाका कर्त्ता देखकर आनंदित होता है और उसे कर्त्ता मानता है। इस प्रकार पाँचों मतवाले जीवके एक एक धर्मकी पुष्टि करते हैं, परन्तु जैनधर्मके अनुयायी जैनी लोग सर्व नयका विषयभूत आत्मा जानते हैं, अर्थात् जैनमत जीवको अपेक्षासे ब्रह्म भी मानता है, कर्मरूप भी मानता है, अनित्य भी मानता है, शिवस्वरूप भी मानता है, कर्त्ता भी मानता है, निष्कर्म भी मानता है, पर एकान्त रूपसे नहीं। जैनमतके सिवाय सभी मत मतवाले हैं, सर्वथा एक पक्षके पक्षपाती होनेसे उन्हें स्वरूपकी समझ नहीं है ॥ ४४ ॥

पाँचों मतोंके एक एक अंगका जैनमत समर्थक है (सवैया इकतीसा)

निहचै अभेद अंग उदै गुनकी तरंग,
उद्दिमकी रीति लिए उद्धता सकति है ।
परजाइ रूपकौ प्रवान सूच्छम सुभाव,
कालकीसी ढाल परिनाम चक्र गति है ॥

याही भांति आतम दरबके अनेक अंग,
एक मानै एककौं न मानै सो कुमति है।
टेक डारि एकमैं अनेक खोजैं सो सुबुद्धि,
खोजी जीवै वादी मरै सांची कहवति है॥ ४५॥

शब्दार्थः—याही भाँति = इस प्रकार। कुमति = मिथ्याज्ञान। खोजै = ढूँढ़ै। सुबुद्धि = सम्यग्ज्ञान। खोजी = उद्योगी। वादी = बकवाद करनेवाला।

अर्थः—जीव पदार्थके लक्षणमें भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, इसलिये वेदान्तीका माना हुआ अद्वैतवाद सत्य है। जीवके उदयमें गुणोंकी तरंगें उठती हैं, इसलिये मीमांसकका माना हुआ उदय भी सत्य है। जीवमें अनंत शक्ति होनेसे स्वभावमें प्रवर्तता है, इसलिये नैयायिकका माना हुआ उद्यम अंग भी सत्य है। जीवकी पर्यायें क्षण-क्षणमें बदलती हैं, इसलिये बौद्धमतीका माना हुआ क्षणिक भाव भी सत्य है। जीवके परिणाम कालके चक्रके समान फिरते हैं, और उन परिणामोंके परिणमनमें कालद्रव्य सहायक है, इसलिये शैवोंका माना हुआ काल भी सत्य है। इस प्रकार आत्मपदार्थके अनेक अंग हैं। एकको मानना और एकको नहीं मानना मिथ्याज्ञान है, और दुराग्रह छोड़कर एकमें अनेक धर्म ढूँढ़ना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये संसारमें जो कहावत है, कि 'खोजी पावे वादी मरे' सो सत्य है॥ ४५॥

स्याद्वादका व्याख्यान (सवैया इकतीसा)

एकमैं अनेक है अनेकहीमैं एक है सो,
एक न अनेक कछु कह्यौ न परतु है।
करता अकरता है भोगता अभोगता है,
उपजै न उपजत मूएं न मरतु है॥
बोलत विचारत न बोलै न विचारै कछू,
भेखकौ न भाजन पै भेखसौ धरतु है।

ऐसौ प्रभु चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
उलट पलट नटबाजीसी करतु है॥ ४६॥

अर्थः—जीवमें अनेक पर्यायें होती हैं इसलिये एकमें अनेक है, अनेक पर्यायें एक ही जीवद्रव्यकी हैं इसलिये अनेकमें एक है, इससे एक है या अनेक है कुछ कहा ही नहीं जा सकता। एक भी नहीं है, अनेक भी नहीं है, अपेक्षित एक है, अपेक्षित अनेक है। वह व्यवहारनयसे कर्त्ता है निश्चयसे अकर्त्ता है, व्यवहारनयसे कर्मोंका भोक्ता है, निश्चयसे कर्मोंका अभोक्ता है, व्यवहारनयसे उपजता है, निश्चयनयसे नहीं उपजता है—था, है और रहेगा, व्यवहारनयसे मरता है निश्चयनयसे अमर है, व्यवहारनयसे बोलता है, विचारता है, निश्चयनयसे न बोलता है, न विचारता है, निश्चयनयसे उसका कोई रूप नहीं है, व्यवहारनयसे अनेक रूपोंका धारक है। ऐसा चैतन्य परमेश्वर पौग्द्‌लिक कर्मोंकी संगतिसे उलट-पलट हो रहा है, मानों नट जैसा खेल खेल रहा है ॥ ४६ ॥

निर्विकल्प उपयोग ही अनुभवके योग्य है (दोहा)

नटबाजी[1] विकलप दसा, नांही अनुभौ जोग।
केवल अनुभौ करनकौ, निरविकलप उपजोग॥ ४७॥

शब्दार्थः—नटबाजी = नटका खेल। जोग = योग्य।

अर्थः—जीवकी नटके समान उलटा-पुलटी सविकल्प अवस्था है, वह अनुभवके योग्य नहीं है। अनुभव करने योग्य तो उसकी सिर्फ निर्विकल्प अवस्था ही है ॥ ४७॥

अनुभवमें विकल्प त्यागनेका दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू चतुर संवारी है मुकत माल,
मालाकी क्रियामैं नाना भांतिकौ विग्यान है।
क्रियाकौ विकलप न देखै पहिरनवारौ,
मोतिनकी सोभामैं मगन सुखवान है॥

---

[1] 'घटवासी' ऐसा भी पाठ है।

तैसैं न करै न भुंजे अथवा करै सो भुंजै,
और करै और भुंजै सब नय प्रवांन है।
जदपि तथापि विकलप विधि त्याग जोग,
निरविकलप अनुभौ अमृत पान है॥ ४८॥

शब्दार्थः—संवारी = सजाई। मुकत माल = मोतियोंकी माला। विग्यान = चतुराई। मगन = मस्त। अमृत पान = अमृत पीना।

अर्थः—जैसे किसी चतुर मनुष्यने मोतियोंकी माला बनाई, माला वनानेमें अनेक प्रकार चतुराई की गई, परन्तु पहिननेवाला माला वनानेकी कारीगरीपर ध्यान नहीं देता, मोतियोंकी शोभामें मस्त होकर आनंद मानता है, उसी प्रकार यद्यपि जीव न कर्त्ता है, न भोक्ता है, जो कर्त्ता है वही भोक्ता है, कर्त्ता और है, भोक्ता और है ये सब नय मान्य हैं तो भी अनुभवमें ये सब विकल्प-जाल त्यागने योग्य हैं, केवल निर्विकल्प अनुभवही अमृतपान करना है॥ ४८॥

किस नयसे आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है और किस नयसे नहीं है

(दोहा)

दरब करम करता अलख, यह विवहार कहाउ।
निहचै जो जैसौ दरब, तैसौ ताकौ भाउ॥ ४९॥

शब्दार्थः—दरब करम (द्रव्यकर्म) = ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी धूल। अलख = आत्मा। ताकौ = उसका। भाउ = स्वभाव।

अर्थः—द्रव्यकर्मका कर्त्ता आत्मा है यह व्यवहारनय कहता है, पर निश्चयनयसे तो जो द्रव्य जैसा है उसका वैसा ही स्वभाव होता है—अर्थात् अचेतन द्रव्य अचेतनका कर्त्ता है और चेतनभावका कर्त्ता चैतन्य है॥ ४९॥

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥ १८॥

ज्ञानका ज्ञेयाकाररूप परिणमन होता है पर वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता।

(सवैया इकतीसा)

ग्यानकौ सहज ज्ञेयाकार रूप परिणवै,
यद्यपि तथापि ग्यान ग्यानरूप कह्यौ है।
ज्ञेय ज्ञेयरूप यौं अनादिहीकी मरजाद,
काहू वस्तु काहूकौ सुभाव नहि गह्यौ है॥
एतेपर कोऊ मिथ्यामती कहै ज्ञेयाकार,
प्रतिभासनसौं ग्यान असुद्ध ह्वै रह्यौ है।
याही दुरबुद्धिसौं विकल भयौ डोलत है,
समुझै न धरम यौं भरम मांहि बह्यौ है॥ ५०॥

शब्दार्थः—ज्ञेयाकार = ज्ञेयके आकार। ज्ञेय = जानने योग्य घटपटादि पदार्थ। मरजाद (मर्यादा) = सीमा। प्रतिभासना = छाया पड़ना। भर्म (भरम) = भ्रान्ति।

अर्थः—यद्यपि ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयाकाररूप परिणमन करनेका है, तौ भी ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है। यह मर्यादा अनादि कालसे चली आती है, कोई किसीके स्वभावको ग्रहण नहीं करता अर्थात् ज्ञान ज्ञेय नहीं

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥

यह श्लोक कलकत्तेकी छपी हुई परमाध्यात्मतरंगिणीमें है। किन्तु इसकी संस्कृत टीका प्रकाशकको उपलब्ध नहीं हुई। काशीके छपे हुए प्रथम गुच्छकमें यह श्लोक नहीं है। ईडर-भण्डारकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिमें भी यह श्लोक नहीं है, और न इसकी कविता ही है।

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाऽप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरं।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥१९॥

हो जाता और ज्ञेय ज्ञान नहीं हो जाता। इतने पर कोई मिथ्यामती—वैशेषिक आदि कहते हैं, कि ज्ञेयाकर परिणमनसे ज्ञान अशुद्ध हो रहा है, सो वे इसी मूर्खतासे व्याकुल हुए भटकते हैं—वस्तुस्वभाव नहीं समझे भ्रममें भूले हुए हैं।

विशेषः—वैशेषिकोंका एकान्त सिद्धान्त है, कि जगतके पदार्थ ज्ञानमें प्रतिविम्बित होते हैं, इससे ज्ञान अशुद्ध हो जाता है, सो जब तक अशुद्धता नहीं मिटेगी तब तक मुक्त नहीं होगा। परंतु ऐसा नहीं है, ज्ञान स्वच्छ आरसीके समान है, उसपर पदार्थोंकी छाया पड़ती है, सो व्यवहारसे कहना पड़ता है कि अमुक रंगका पदार्थ झलकनेसे काँच अमुक रंगका दिखता है, पर वास्तवमें छाया पड़नेसे काँचमें कुछ परिवर्तन नहीं होता ज्योंका त्यों वना रहता है॥ ५०॥

जगतके पदार्थ परस्पर अव्यापक हैं (चौपाई)

सकल वस्तु जगमैं असहाई।
वस्तु वस्तुसौं मिलै न काई॥
जीव वस्तु जानै जग जेती।
सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥ ५१॥

शब्दार्थः—असहाई = स्वाधीन। जेती = जितनी।

अर्थः—निश्चयनयसे जगतमें सब पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं करते और न कोई पदार्थ किसी पदार्थसे मिलता है। जीवात्मा जगतके जितने पदार्थ हैं उन्हें जानता है पर वे सब उससे भिन्न रहते हैं।

भावार्थः—व्यवहारनयसे जगतके द्रव्य एक-दूसरेसे मिलते हैं, एक-दूसरेमें प्रवेश करते और एक-दूसरेको अवकाश देते हैं, पर निश्चयनयसे सब निजाश्रित हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते हैं। जीवके पूर्ण ज्ञानमें वे सब और अपूर्ण ज्ञानमें यथासंभव जगतके पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, पर ज्ञान उनसे मिलता नहीं है और न वे पदार्थ ज्ञानसे मिलते हैं॥ ५१॥

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरो परस्य कः किं करोति हि वहिर्लुठन्नपि॥ २०॥

कर्म करना और फल भोगना यह जीवका निज-स्वरूप नहीं है (दोहा)

करम करै फल भोगवै, जीव अग्यानी कोइ ।
यह कथनी विवहारकी, वस्तु स्वरूप न होइ ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ:—कथनी = चरचा । वस्तु = पदार्थ ।

अर्थ:—अज्ञानी जीव कर्म करते हैं और उनका फल भोगते हैं, यह कथन व्यवहारनयका है, पदार्थका निजस्वरूप नहीं है ॥ ५२ ॥

ज्ञान और ज्ञेयकी भिन्नता (कवित्त)

ज्ञेयाकार ग्यानकी परणति,
पै वह ग्यान ज्ञेय नहि होइ ।
ज्ञेय रूप षट दरब भिन्न पद,
ग्यानरूप आतम पद सोइ ॥
जानै भेदभाउ सु विचच्छन,
गुन लच्छन सम्यक्‌द्रिग जोइ ।
मूरख कहै ग्यानमय आकृति,
प्रगट कलंक लखै नहि कोइ ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ:—ज्ञान = जानना । ज्ञेय = जानने योग्य पदार्थ ।

अर्थ:—ज्ञानकी परिणति ज्ञेयके आकार हुआ करती है, पर ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, छहों द्रव्य ज्ञेय हैं और वे आत्माके निज स्वभावज्ञानसे भिन्न हैं,

---

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१ ॥

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥ २२ ॥

जो ज्ञेय-ज्ञायकका भेदभाव गुण-लक्षणसे जानता है वह भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टी है। वैशेषिक आदि अज्ञानी ज्ञानमें आकारका विकल्प देखकर कहते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयकी आकृति है, इससे ज्ञान स्पष्टतया अशुद्ध हो जाता है लोग इस अशुद्धताको नहीं देखते।

विशेष:—जीव पदार्थ ज्ञायक है, ज्ञान उसका गुण है, वह अपने ज्ञान-गुणसे जगतके छहों द्रव्योंको जानता है, और अपनेको भी जानता है, इसलिये जगतके सब जीव-अजीव पदार्थ और वह स्वयं आत्मा ज्ञेय है, और आत्मा स्व-परको जाननेसे ज्ञायक है, भाव यह है आत्मा ज्ञेय भी है, ज्ञायक भी है, और आत्माके सिवाय सब पदार्थ ज्ञेय हैं। सो जब कोई ज्ञेयपदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित होता है तब ज्ञानकी ज्ञेयाकार परिणति होती है, पर ज्ञान, ज्ञान ही रहता है ज्ञेय नहीं हो जाता, और ज्ञेय, ज्ञेय ही रहता है ज्ञान नहीं हो जाता, न कोई किसीमें मिलता है। ज्ञेयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टय जुदा रहता है और ज्ञायकका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टय जुदा रहता है, परन्तु विवेकशून्य वैशेषिक आदि ज्ञानमें ज्ञेयकी आकृति देखकर ज्ञानमें अशुद्धता ठहराते हैं ॥ ५३ ॥ वे कहते हैं कि:—

ज्ञेय और ज्ञानके सम्बन्धमें अज्ञानियोंका हेतु (चौपाई)

निराकार जो ब्रह्म कहावै।
सो साकार नाम क्यौं पावै ॥
ज्ञेयाकार ग्यान जब तांई।
पूरन ब्रह्म नांहि तब तांई ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ:—निराकार = आकार रहित। ब्रह्म = आत्मा, ईश्वर। साकार = आकार-सहित। पूरन (पूर्ण) = पूरा। तांई = तब तक।

अर्थ:—जो निराकार ब्रह्म है वह साकार कैसे हो सकता है? इसलिये जब तक ज्ञान ज्ञेयाकर रहता है, तब तक पूर्ण ब्रह्म नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

इस विषयमें अज्ञानियोंको संबोधन (चौपाई)

ज्ञेयाकार ब्रह्म मल मानै।
नास करनकौ उद्दिम ठानै ॥

वस्तु सुभाव मिटै नहि क्यौंही ।
तातैं खेद करैं सठ यौंही ॥ ५५ ॥

शब्दार्थः—मल = दोष । उद्दिम = प्रयत्न । क्यौंही = किसी प्रकार ।

अर्थः—वैशेषिक आदि ब्रह्मकी ज्ञेयाकार परिणतिको दोष मानते हैं, और उसके मिटानेका प्रयत्न करते हैं, सो किसी भी प्रयत्नसे वस्तुका स्वभाव नहीं मिट सकता, इसलिये वे मूर्ख वृथा ही कष्ट करते हैं ॥ ५५ ॥

पुनः (दोहा)

मूढ़ मरम जानैं नहीं, गहै एकंत कुपक्ष ।
स्यादवाद सरवंग नै, मानै दक्ष प्रतक्ष ॥ ५६ ॥

अर्थः—अज्ञानी लोग पदार्थकी असलियत नहीं जानते और एकान्त कुटेव पकड़ते हैं, स्याद्वादी पदार्थके सब अंगोंके ज्ञाता हैं और पदार्थके सब धर्मोंको साक्षात् मानते हैं ।

भावार्थः—स्याद्वाद, ज्ञानकी निराकार साकार दोनों परिणति मानता है । साकार तो इसलिये कि ज्ञानकी ज्ञेयाकार परिणति होती है, और निराकार इसलिये कि ज्ञानमें ज्ञेयजनित कुछ विकार नहीं होता ॥ ५६ ॥

स्याद्वादी सम्यग्दृष्टीकी प्रशंसा (दोहा)

सुद्ध दरब अनुभौ करै, सुद्धद्रिष्टि घटमांहि ।
तातैं समकितवंत नर, सहज उछेदक नांहि ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः—घट = हृदय । उछेदक = लोप करनेवाला ।

अर्थः—सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध द्रव्यका अनुभव करते हैं, और शुद्ध वस्तु जाननेसे हृदयमें शुद्धदृष्टि रखते हैं, इससे वे साहजिक स्वभावका लोप नहीं करते; अभिप्राय यह है कि ज्ञेयाकार होना ज्ञानका साहजिक स्वभाव है, सो सम्यग्दृष्टी जीवके स्वभावका लोप नहीं करते ॥ ५७ ॥

ज्ञान ज्ञेयसे अव्यापक है इसपर दृष्टान्त

(सवैया इकतीसा)

*जैसैं चंद किरनि प्रगटि भूमि सेत करै,
भूमिसी न दीसै सदा जोतिसी रहति है।
तैसैं ग्यान सकति प्रकासै हेय उपादेय,
ज्ञेयाकार दीसै पै न ज्ञेयकौं गहति है॥
सुद्ध वस्तु सुद्ध परजाइरूप परिनवै,
सत्ता परवांन माहें ढाहें न ढहति है।
सो तौ औररूप कबहूं न होइ सरवथा,
निहचै अनादि जिनवानी यौं कहति है॥ ५८॥

शब्दार्थः—प्रगटि = उदय होकर। भूमि = धरती। जोतिसी = किरणरूप। प्रकासै = प्रकाशित करे। सत्ता परवांन = अपने क्षेत्रावगाहके बराबर। ढाहें = विचलित करनेसे। न ढहति है = विचलित नहीं होती। कबहूं = कभी भी। सर्वथा = हर हालतमें।

अर्थः—जिस प्रकार चन्द्रकिरण प्रकाशित होकर धरतीको सफेद कर देती है, पर धरतीरूप नहीं हो जाती—ज्योतिरूप ही रहती है, उसी प्रकार ज्ञानशक्ति हेय-उपादेयरूप ज्ञेय पदार्थोंको प्रकाशित करती है, पर ज्ञेयरूप नहीं हो जाती, शुद्ध वस्तु शुद्धपर्यायरूप परिणमन करती है और निज सत्ता-प्रमाण रहती है, वह कभी भी किसी हालतमें अन्यरूप नहीं होती, यह बात निश्चित है और अनादि कालकी जिनवाणी कह रही है॥ ५८॥

---

*शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥ २३॥

आत्म पदार्थका यथार्थ स्वरूप (सवैया तेईसा)

राग विरोध उदै जबलौं तबलौं,
यह जीव मृषा मग धावै ।
ग्यान जग्यौ जब चेतनकौ तब,
कर्म दसा पर रूप कहावै ॥
कर्म विलेछि करै अनुभौ तहां,
मोह मिथ्यात प्रवेस न पावै ।
मोह गयें उपजै सुख केवल,
सिद्ध भयौ जगमांहि न आवै ॥ ५९ ॥

शब्दार्थः—विरोध = द्वेष । मृषा मग = मिथ्या मार्ग । धावै = दौड़ता है ।

अर्थः—जब तक इस जीवको मिथ्याज्ञानका उदय रहता है, तब तक वह राग-द्वेषमें वर्तता है । परन्तु जब उसे ज्ञानका उदय हो जाता है, तब वह कर्मपरिणतिको अपनेसे भिन्न गिनता है, और जब कर्मपरिणति तथा आत्मपरिणतिका पृथक्करण करके आत्म-अनुभव करता है, तब मिथ्या मोहनीयको स्थान नहीं मिलता । और मोहके पूर्णतया नष्ट होनेपर केवलज्ञान तथा अनंतसुख प्रगट होता है, जिससे सिद्धपदकी प्राप्ति होती है और फिर जन्म-मरणरूप संसारमें नहीं आना पड़ता ॥ ५९ ॥

परमात्म पदकी प्राप्तिका मार्ग (छप्पय छन्द)

जीव करम संजोग, सहज मिथ्यातरूप धर ।
राग दोष परनति प्रभाव, जानै न आप पर ॥

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ २४ ॥

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्-
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २५ ॥

तम मिथ्यात मिटि गयौ, हुवो समकित उदोत ससि ।
राग दोष कछु वस्तु नांहि, छिन मांहि गये नसि ॥
अनुभौ अभ्यास सुख रासि रमि,
भयौ निपुन तारन तरन ।
पूरन प्रकास निहचल निरखि,
बानारसि वंदत चरन ॥ ६० ॥

शब्दार्थ:—उदोत = उदय । ससि = शशि (चन्द्रमा) निपुन = पूर्ण ज्ञाता । तरन तारन = संसारसागरसे स्वयं तरनेवाला और दूसरोंको तारनेवाला ।

अर्थ:—जीवात्माका अनादिकालसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध है, इसलिये वह सहज ही मिथ्याभावको प्राप्त होता है, और राग-द्वेष परिणतिके कारण स्व-पर स्वरूपको नहीं जानता । पर मिथ्यात्वरूप अंधकारके नाश और सम्यक्त्व-शशिके उदय होनेपर राग-द्वेषका अस्तित्व नहीं रहता—क्षणभरमें नष्ट हो जाता है, जिससे आत्म-अनुभवके अभ्यासरूप सुखमें लीन होकर तारनतरन पूर्ण परमात्मा होता है। ऐसे पूर्ण परमात्माका निश्चयस्वरूप अवलोकन करके पं० बनारसीदासजी चरण-वन्दना करते हैं ॥ ६० ॥

राग-द्वेषका कारण मिथ्यात्व है (सवैया इकतीसा)

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ।
पुग्गल करम जोग किधौं इंद्रिनिकौ भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है ॥
गुरु कहैं छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है ।

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २६ ॥

कोऊ दरब काहूकौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥ ६१ ॥

शब्दार्थः—मूल = असली । प्रेरक = प्रेरणा करनेवाला । परिजन = घरके लोग । भौन (भवन) = मकान । परिनौन = परिणमन । मदिरा = शराब । अचौन (अचवन) = पीना ।

अर्थः—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामी, राग-द्वेष परिणामोंका मुख्य कारण क्या है? पौद्गलिक कर्म हैं? या इन्द्रियोंके भोग हैं? या धन है? या घरके लोग हैं? या घर है? सो आप कहिए। इसपर श्रीगुरु समाधान करते हैं, कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा निजाश्रित परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्यकी परिणतिके लिये कभी भी प्रेरक नहीं होता, अतः राग-द्वेषका मूल कारण मोह मिथ्यात्वका मदिरापान है ॥ ६१ ॥

अज्ञानियोंके विचारमें राग-द्वेषका कारण (दोहा)

कोऊ मूरख यौं कहै, 'राग दोष परिनाम ।
पुग्गलकी जोरावरी, वरतै आतमराम ॥ ६२ ॥
ज्यौं ज्यौं पुग्गल बल करै, धरिधरि कर्मज भेष ।
रागदोषकौ परिनमन, त्यौं त्यौं होइ विशेष ॥ ६३ ॥

शब्दार्थः— परिनाम = भाव । जोरावरी = जबरदस्ती । भेष (वेष) = रूप । विशेष = ज्यादा ।

अर्थः—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मामें राग-द्वेषभाव पुद्गलकी जबरजस्तीसे होते हैं ॥ ६२ ॥ वे कहते हैं कि पुद्गल कर्मरूप परिणमनके उदयमें जैसा जैसा जोर करता है, वैसे वैसे बाहुल्यतासे राग-द्वेप परिणाम होते हैं ॥ ६३ ॥

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २७ ॥

अज्ञानियोंको सत्य मार्गका उपदेश (दोहा)

इहिविधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोइ ।
सो नर राग विरोधसौं, कबहूं भिन्न न होइ ॥ ६४ ॥
*सुगुरु कहै जगमैं रहै, पुग्गल संग सदीव ।
सहज सुद्ध परिनमनिकौ, औसर लहै न जीव ॥ ६५ ॥
तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ ।
राग विरोध मिथ्यातमैं, समकितमैं सिव भाउ ॥ ६६ ॥

शब्दार्थः—विपरीत पख = उल्टा हठ । भिन्न = जुदा । परिणाम = भाव । औसर = मौका । चिद्भावनि विषै = चैतन्यभावोंमें—अशुद्ध दशामें राग–द्वेष ज्ञानावरणीय आदि और शुद्ध दशामें पूर्णज्ञान पूर्णआनंद आदि । समरथ (समर्थ) = बलवान । चेतन राउ = चैतन्यराजा । सिव भाउ = मोक्षके भाव—पूर्णज्ञान, पूर्णदर्शन, पूर्णआनंद, सम्यक्त्व, सिद्धत्व आदि ।

अर्थः—श्रीगुरु कहते हैं कि जो कोई इस प्रकार उल्टा हठ ग्रहण करके श्रद्धान करते हैं वे कभी भी राग-द्वेष-मोहसे नहीं छूट सकते ॥ ६४ ॥ और यदि जगतमें जीवका पुद्गलसे हमेशा ही सम्बंध रहे, तो उसे शुद्ध भावोंकी प्राप्तिका कोई भी मौका नहीं है—अर्थात् वह शुद्ध हो ही नहीं सकता ॥ ६५ ॥ इससे चैतन्य-भाव उपजानेमें चैतन्यराजा ही समर्थ है, सो मिथ्यात्वकी दशामें राग-द्वेष भाव उपजते हैं और सम्यक्त्व दशामें शिवभाव अर्थात् ज्ञान दर्शन सुख आदि उपजते हैं ॥ ६६ ॥

ज्ञानका माहात्म्य (दोहा)

ज्यौं दीपक रजनी समै, चहुं दिसि करै उदोत ।
प्रगटै घटपटरूपमैं, घटपटरूप न होत ॥ ६७ ॥

---

*रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ २८ ॥

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्धधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ २९ ॥

त्यौं सुग्यान जानै सकल, ज्ञेय वस्तुकौ मर्म ।
ज्ञेयाकृति परिनवै पै तजै न आतम-धर्म ॥ ६८ ॥

ग्यानधर्म अविचल सदा, गहै विकार न कोइ ।
राग विरोध विमोहमय, कबहूं भूलि न होइ ॥ ६९ ॥

ऐसी महिमा ग्यानकी, निहचै है घट मांहि ।
मूरख मिथ्याद्रिष्टिसौं, सहज विलोकै नांहि ॥ ७० ॥

अर्थः—जिस प्रकार रात्रिमें दीपक चहुँओर प्रकाश पहुँचाता है और घट-पट पदार्थोंको प्रकाशित करता है, पर घट, पटरूप नहीं हो जाता ॥ ६७ ॥ उसी-प्रकार ज्ञान सब ज्ञेय पदार्थोंको जानता है और ज्ञेयाकार परिणमन करता है तौ भी अपने निजस्वभावको नहीं छोड़ता ॥ ६८ ॥ ज्ञानका जानना स्वभाव सदा अचल रहता है, उसमें कभी किसी भी प्रकारका विकार नहीं होता और न वह कभी भूलकर भी राग-द्वेष-मोहरूप होता है ॥ ६९ ॥ निश्चयनयसे आत्मामें ज्ञानकी ऐसी महिमा है, परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि आत्मस्वरूपकी ओर देखते भी नहीं हैं ॥७०॥

अज्ञानी जीव परद्रव्यमें ही लीन रहते हैं (दोहा)

पर सुभावमैं मगन ह्वै, ठानै राग विरोध ।
धरै परिग्रह धारना, करै न आतम सोध ॥ ७१ ॥

शब्दार्थः—पर सुभाव = आत्मस्वभावके बिना सब अचेतन भाव । ठानै = करे । राग विरोध = राग—द्वेष । सोध = खोज ।

अर्थः—अज्ञानी जीव पर-द्रव्योंमें मस्त रहते हैं, राग-द्वेष करते हैं और परिग्रहकी इच्छा करते हैं, परंतु आत्मस्वभावकी खोज नहीं करते ॥ ७१ ॥

अज्ञानीको कुमति और ज्ञानीको सुमति उपजती है (चौपाई)

मूरखकै घट दुरमति भासी ।
पंडित हियें सुमति परगासी ॥

दुरमति कुबिजा करम कमावै ।
सुमति राधिका राम रमावै ॥ ७२ ॥

(दोहा)

कुबिजा कारी कूबरी, करै जगतमैं खेद ।
अलख अराधै राधिका, जानै निज पर भेद ॥ ७३ ॥

अर्थः—मूर्खके हृदयमें कुमति उपजती है और ज्ञानियोंके हृदयमें सुमतिका प्रकाश रहता है। दुर्बुद्धि कुब्जाके[1] समान है, नवीन कर्मोंका बन्ध करती है, और सुबुद्धि राधिका है, आत्मराममें रमण कराती है ॥ ७२ ॥ कुबुद्धि काली कूबड़ी कुब्जाके समान है, संसारमें संताप उपजाती है, और सुबुद्धि राधिकाके समान है, निज–आत्माकी उपासना कराती है तथा स्व-परका भेद जानती है ॥ ७३ ॥

दुर्मति और कुब्जाकी समानता (सवैया)

कुटिल कुरूप अंग लगी है पराये संग,
अपुनो प्रवांन करि आपुही बिकाई है ।
गहै गति अंधकीसी सकति कबंधकीसी,
बंधकौ बढ़ाउ करै धंधहीमैं धाई है ।
रांडकीसी रीत लियें मांडकीसी मतवारी,
सांड ज्यौं सुछंद डोलै भांडकीसी जाई है ।
घरकौ न जानै भेद करै पराधीन खेद,
यातैं दुरबुद्धि दासी कुबजा कहाई है ॥ ७४ ॥

शब्दार्थः—कुटिल = कपटिन । पराये = दूसरेके । संग = साथ । कबंध = एक राक्षसका नाम । मांड (मण्ड) = शराब । सुछंद = स्वतंत्र । जाई = पैदा हुई । यातैं = इससे ।

---

[1] हिन्दू-धर्म देवीभागवत आदि ग्रन्थोंका कथन है कि, कुब्जा कंसकी दासी थी। उसका शरीर कुरूप कान्तिहीन था। राजा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी स्त्री राधिकासे अलग होकर उससे फँस गये थे, राधिकाके बहुत प्रयत्न करनेपर वे सन्मार्गपर आये। सो यहांपर दृष्टान्तमात्र ग्रहण किया है।

अर्थः—कुबुद्धि मायाका उदय रहते होती है इससे कुटिला है, और कुब्जा मायाचारिणी थी, उसने पराये पतिको वशमें कर रक्खा था। कुबुद्धि जगतको असुहावनी लगती है इससे कुरूपा है, कुब्जा काली कान्तिहीन ही थी इससे कुरूपा थी। कुबुद्धि परद्रव्योंको अपनाती है, कुब्जा परपतिसे सम्बन्ध रखती थी इससे दोनों व्यभिचारिणी हुई। कुबुद्धि अपनी अशुद्धतासे विषयोंके आधीन होती है इससे बिकी हुईके समान है, कुब्जा परवशमें पड़ी हुई थी इससे दूसरेके हाथ [1]बिकी हुई ही थी। दुर्बुद्धिको वा कुब्जाको अपनी भलाई-बुराई नहीं दिखती, इससे दोनोंकी दशा अंधेके समान हुई। कुबुद्धि परपदार्थोंसे अहंबुद्धि करनेमें समर्थ है, कुब्जा भी कृष्णको कब्जेमें रखनेके लिये समर्थ थी, इससे दोनों [2]कवंधके समान बलवान हैं। दोनों कर्मोंका बंध बढ़ाती हैं। दोनोंकी प्रवृत्ति उपद्रवकी ओर रहती है। कुबुद्धि अपने पति आत्माकी ओर नहीं देखती, कुब्जा भी अपने पतिकी ओर नहीं देखती थी, इससे दोनोंकी रांड सरीखी रीति है। दोनों ही शराबीके समान मतवाली हो रही हैं। दुर्बुद्धिमें कोई धार्मिक नियम आदिका वंधन नहीं, कुब्जा भी अपने पति आदिकी आज्ञामें नहीं रहती थी, इसलिये दोनों सांड़के समान स्वतंत्र हैं। दोनों भाँड़की संततिके समान निर्लज्ज हैं। दुर्बुद्धि अपने आत्मक्षेत्ररूप घरका मर्म नहीं जानती, कुब्जा भी दुराचारमें रत रहती थी, घरका हाल नहीं देखती थी। दुर्बुद्धि कर्मके आधीन है, कुब्जा परपतिके आधीन, इससे दोनों पराधीनताके क्लेशमें हैं। इस प्रकार दुर्बुद्धिको कुब्जा [3]दासीकी उपमा दी है ॥ ७४ ॥

---

[1] व्यभिचारिणी स्त्रियाँ अपने मुखसे अपने शरीरका मोल करती हैं,—अर्थात् अपना अमूल्य शील बेच देती हैं, यह बात ध्यानमें रखके कविने कहा है कि 'आपनो प्रवांनकरि आपुही बिकाई है'।

[2] यह भी हिन्दू-धर्म-शास्त्रोंका दृष्टान्त मात्र लिया है, कि कवंध पूर्वजन्ममें गंधर्व था। उसने दुर्वासा ऋषिको गाना सुनाया, पर वे कुछ प्रसन्न नहीं हुए, तब उसने मुनिकी हँसी उड़ाई, तो दुर्वासाने क्रोधित होकर शाप दिया, कि तू राक्षस हो जा। बस फिर क्या था, वह राक्षस हो गया। उसकी एक एक योजनकी भुजाएँ थी, और वह वहुत ही बलवान था, सो अपनी भुजाओंसे वह एक योजन दूर तकके जीवोंको खा जाता था, और वहुत उपद्रव करता था, इससे इन्द्रने उसे वज्र मारा, जिससे उसका माथा उसीके पेटमें घँस गया, पर वह शापके कारण मरा नहीं, तबसे उसका नाम कबंध पड़ा। एक दिन वनमें विचरते हुए राजा राम लक्ष्मण दोनों भाई इसके सपाटेमें आ गये, और इन्हें भी उसने खाना चाहा, तब रामचन्द्रने उसके हाथ काट डाले और उसे स्वर्गधाम पहुँचा दिया।

[3] दास्ता—विवाह-विधिके बिना ही धर्मविरुद्ध रक्खी हुई औरत।

सुबुद्धिसे राधिकाकी तुलना (सवैया इकतीसा)

रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी कीली सील,
सुधाके समुद्र झीली सीली सुखदाई है।
प्राची ग्यानभानकी, अजाची है निदानकी,
सुराची निरवाची ठौर साची ठकुराई है॥
धामकी खबरदारि रामकी रमनहारि,
राधा रस-पंथनिके ग्रंथनिमैं गाई है।
संतनकी मानी निरबानी नूरकी निसानी,
यातैं सदबुद्धि रानी राधिका कहाई है॥७५॥

शब्दार्थः—कुलफ = ताला। कीली = चावी। झीली = स्नान की हुई। सीली = भीगी हुई। प्राची = पूर्व दिशा। अजाची = नहीं मांगनेवाली। निदान = आगामी विषयोंकी अभिलाषा। निरवाची (निरवाच्य) = वचन अगोचर। ठकुराई = स्वामीपन। धाम = घर। रमनहारि = मौज करनेवाली। रस-पंथनिके ग्रंथनिमैं = रस-मार्गके शास्त्रोंमें। निरवानी = गंभीर। नूरकी निसानी = सौन्दर्यका चिह्न।

अर्थः—सुबुद्धि आत्मस्वरूपमें सरस है, राधिका भी रूपवती है। सुबुद्धि अज्ञानका ताला खोलनेकी चावी है, राधिका भी अपने पतिको शुभ-सम्मति देती है। सुबुद्धि और राधिका दोनों शीलरूपी सुधाके समुद्रमें स्नान की हुई हैं, दोनों शान्तस्वभावी सुखदायक हैं। ज्ञानरूपी सूर्यका उदय करनेमें दोनों पूर्व दिशाके समान हैं। सुबुद्धि आगामी विषय-भोगोंकी वांछासे रहित है, राधिका भी आगामी भोगोंकी याचना नहीं करती। सुबुद्धि आत्मस्वरूपमें भले प्रकार राचती है, राधिका भी पति-प्रेममें पगती है। सुबुद्धि और राधिका रानी दोनोंके स्थानकी महिमा वचन-अगोचर अर्थात् महान् है। सुबुद्धिका आत्मापर सच्चा स्वामित्व है, राधिकाकी भी घरपर मालिकी है। सुबुद्धि अपने घर अर्थात् आत्माकी सावधानी रखती है, राधिका भी घरकी निगरानी रखती है। सुबुद्धि अपने आत्मराममें रमण करती है, राधिका

अपने पति कृष्णके साथ रमण करती है। सुबुद्धिकी महिमा अध्यात्मरसके ग्रंथोंमें बखानी गई है, और राधिकाकी महिमा शृंगाररस आदिके ग्रन्थोंमें कही गई है। सुबुद्धि साधुजनों द्वारा आदरणीय है, राधिका ज्ञानियों द्वारा माननीय है। सुबुद्धि और राधिका दोनों क्षोभरहित अर्थात् गंभीर हैं। सुबुद्धि शोभासे सम्पन्न है, राधिका भी कान्तिवान् है। इस प्रकार सुबुद्धिको राधिका रानीकी उपमा दी गई है ॥ ७५ ॥

कुमति सुमतिका कृत्य (दोहा)

वह कुबिजा वह राधिका, दोऊ गति मतिवानि।
वह अधिकारनि करमकी, यह विवेककी खानि ॥ ७६ ॥

अर्थः—दुर्बुद्धि कुब्जा है, सुबुद्धि राधिका है, कुबुद्धि संसारमें भ्रमण करानेवाली है और सुबुद्धि विवेकवान है। दुर्बुद्धि कर्मबंधके योग्य है और सुबुद्धि स्व–पर विवेककी खानि है ॥ ७६ ॥

द्रव्यकर्म भावकर्म और विवेकका निर्णय (दोहा)

दरबकरम पुग्गल दसा, भावकरम मति वक्र।
जो सुग्यानकौ परिनमन, सो विवेक गुरु चक्र ॥ ७७ ॥

शब्दार्थः—दरबकरम (द्रव्यकर्म) = ज्ञानावरणीय आदि। भावकर्म = राग-द्वेष आदि। मति वक्र = आत्माका विभाव। गुरु चक्र = बड़ा पुंज।

अर्थः—ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म पुद्गलकी पर्यायें हैं, राग-द्वेष आदि भावकर्म आत्माके विभाव हैं, और स्व–पर विवेककी परिणति ज्ञानका बड़ा पुंज है ॥७७॥

कर्मके उदयपर चौपरका दृष्टान्त (कवित्त)

जैसैं नर खिलार चौपरिकौ,
लाभ विचारि करै चितचाउ।
धरै संवारि सारि बुधिबलसौं,
पासा जो कुछ परै सु दाउ॥

तैसैं जगत जीव स्वारथकौ,
करि उद्दिम चिंतवै उपाउ ।
लिख्यौ ललाट होई सोई फल,
करम चक्रकौ यही सुभाउ ॥ ७८ ॥

शब्दार्थः—चितचाउ = उत्साह । सारि = गोट । उपाउ (उपाय) = प्रयत्न । लिख्यौ ललाट = मस्तकका लिखा—तकदीर ।

अर्थः—जिस प्रकार चौपड़का खेलनेवाला मनमें जीतनेका उत्साह रखके अपनी अक्लके जोरसे सम्हालकर ठीक ठीक गोटें जमाता है, पर दाव तो पाँसेके आधीन है । उसी प्रकार जगतके जीव अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रयत्न सोचते हैं, पर जैसा कर्मका उदय है वैसा ही होता है, कर्मपरिणतिकी ऐसी ही रीति है । उदयावलीमें आया हुआ कर्म फल दिये विना नहीं रुकता ॥ ७८ ॥

विवेक-चक्रके स्वभावपर शतरंजका दृष्टान्त (कवित्त)

जैसे नर खिलार सतरंजकौ,
समुझै सब सतरंजकी घात ।
चलै चाल निरखै दोऊ दल,
मौंहरा गिनै विचारै मात ॥
तैसैं साधु निपुन सिवपथमैं,
लच्छन लखै तजै उतपात ।
साधै गुन चिंतवै अभयपद,
यह सुविवेक चक्रकी बात ॥ ७९ ॥

शब्दार्थः—घात = दावपेंच । निरखै = देखे । मौंहरा = हाथी घोड़े वगैरह । मात = चाल बन्द करना—हराना ।

अर्थः—जिस प्रकार शतरंजका खेलनेवाला शतरंजके सब दावपेंच समझता है, और दोनों दलपर नजर रखता हुआ चलता है, वा हाथी, घोड़ा, वजीर, प्यादा

आदिकी चाल ध्यानमें रखता हुआ जीतनेका विचार करता है, उसी प्रकार मोक्षमार्गमें प्रवीण ज्ञानी पुरुष स्वरूपकी परख करता है और बाधक कारणोंसे बचता है। वह आत्मगुणोंको निर्मल करता है और जीत अर्थात् निर्भय पदका चिंतवन करता है। यह ज्ञानपरिणतिका हाल है ॥ ७९ ॥

कुमति कुब्जा और सुमति राधिकाके कृत्य (दोहा)

सतरंज खेलै राधिका, कुबिजा खेलै सारि।
याकै निसिदिन जीतवौ, वाके निसिदिन हारि ॥ ८० ॥
जाके उर कुबिजा बसैं, सोई अलख अजान।
जाके हिरदै राधिका, सो बुध सम्यकवान ॥ ८१ ॥

शब्दार्थः—निसिदिन = सदा। सारि = चौपड़। अलख = जो दिखाई न पड़े—आत्मा।

अर्थः—राधिका अर्थात् सुबुद्धि शतरंज खेलती है इससे उसकी सदा जीत रहती है, और कुब्जा अर्थात् दुर्बुद्धि चौपड़ खेलती है, इससे उसकी हमेशा हार रहती है ॥ ८० ॥ जिसके हृदयमें कुब्जा अर्थात् कुबुद्धिका वास है, वह जीव अज्ञानी है, और जिसके हृदयमें राधिका अर्थात् सुबुद्धि है, वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टी है ॥८१॥

भावार्थः—अज्ञानी जीव कर्मचक्रपर चलते हैं, इससे हारते हैं—अर्थात् संसारमें भटकते हैं, और पंडित लोग विवेक पूर्वक चलते हैं, इससे विजय पाते अर्थात् मुक्त होते हैं॥

जहां शुद्धज्ञान है वहां चारित्र है (सवैया इकतीसा)

जहां सुद्ध ग्यानकी कला उदोत दीसै तहां,
सुद्धता प्रवांन सुद्ध चारितकौ अंस है।

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां ॥ ३० ॥

ता कारन ग्यानी सब जानै ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग विलास धर्म वाकौ सरवंस है॥
राग दोष मोहकी दसासौं भिन्न रहै यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जालकौं विधुंस है।
निरुपाधि आतम समाधिमैं विराजै तातैं,
कहिए प्रगट पूरन परम हंस है॥ ८२॥

शब्दार्थः—सरवंस (सर्वस्व) = पूर्ण संपति। जानै ज्ञेय वस्तु मर्म = त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको जानते हैं।

अर्थः—जहाँ शुद्ध ज्ञानकी कलाका प्रकाश दिखता है, वहाँ उसके अनुसार चारित्रका अंश रहता है, इससे ज्ञानी जीव सब हेय-उपादेयको समझते हैं। उनका सर्वस्व वैराग्यभाव ही रहता है, वे राग-द्वेष-मोहसे भिन्न रहते हैं, इससे उनके पहलेके बँधे हुए कर्म झड़ते हैं, और वर्तमान तथा भविष्यमें कर्मबंध नहीं होता। वे शुद्ध आत्माकी भावनामें स्थिर होते हैं, इससे साक्षात् पूर्ण परमात्मा ही हैं ॥८२॥

पुनः (दोहा)

ग्यायक भाव जहां तहां, सुद्ध चरनकी चाल।
तातैं ग्यान विराग मिलि, सिव साधै समकाल॥ ८३॥

शब्दार्थः—ज्ञायक भाव = आत्मस्वरूपका ज्ञान। चरन = चारित्र। समकाल = एक ही समयमें।

अर्थः—जहाँ ज्ञानभाव है वहाँ शुद्ध चारित्र रहता है, इसलिये ज्ञान और वैराग्य एक साथ मिलकर मोक्ष साधते हैं ॥ ८३॥

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्ध।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥ ३१॥

ज्ञान चारित्रपर पंगु अंधका दृष्टान्त (दोहा)

जथा अंधके कंधपर, चढ़ै पंगु नर कोइ ।
वाके दृग वाके चरन, होंहि पथिक मिलि दोइ ॥ ८४ ॥

जहां ग्यान किरिया मिलै, तहां मोख-मग सोइ ।
वह जानै पदकौ मरम, वह पदमैं थिर होइ ॥ ८५ ॥

शब्दार्थः—पंगु = लँगड़ा । वाके = उसके । दृग = नेत्र । चरन = पैर । पथिक = रस्तागीर । क्रिया = चारित्र । पदकौ मरम = आत्माका स्वरूप । पदमैं थिर होइ = आत्मामें स्थिर होवे ।

अर्थः—जिस प्रकार कोई लँगड़ा मनुष्य अंधेके कंधेपर चढ़े, तो लँगड़ेकी आँखों और अंधेके पैरोंके योगसे दोनोंका गमन होता है ॥ ८४ ॥ उसी प्रकार जहाँ ज्ञान और चारित्रकी एकता है वहाँ मोक्षमार्ग है, ज्ञान आत्माका स्वरूप जानता है और चारित्र आत्मामें स्थिर होता है ॥ ८५ ॥

ज्ञान और क्रियाकी परिणति (दोहा)

ग्यान जीवकी सजगता[1], करम जीवकी भूल ।
ग्यान मोख अंकूर है, करम जगतकौ मूल ॥ ८६ ॥

ग्यान चेतनाके जगे, प्रगटै केवलराम ।
कर्म चेतनामैं बसै, कर्मबंध परिनाम ॥ ८७ ॥

शब्दार्थः—सजगता = सावधानी । अंकूर = पौधा । केवलराम = आत्माका शुद्ध स्वरूप । कर्म चेतना = ज्ञानरहित भाव । परिनाम = भाव ।

अर्थः—ज्ञान जीवकी सावधानता है, और शुभाशुभ परिणति उसे भुलाती है, ज्ञान मोक्षका उत्पादक है और कर्म जन्म-मरणरूप संसारका कारण है ॥ ८६ ॥ ज्ञानचेतनाका उदय होनेसे शुद्ध परमात्मा प्रगट होता है, और शुभाशुभ परिणतिसे बंधके योग्य भाव उपजते हैं ॥ ८७ ॥

---

[1] 'सहजगति' ऐसा भी पाठ है ।

कर्म और ज्ञानका भिन्न भिन्न प्रभाव (चौपाई)

जबलग ग्यान चेतना न्यारी[1] ।
तबलग जीव विकल संसारी ॥
जब घट ग्यान चेतना जागी ।
तब समकिती सहज वैरागी ॥ ८८ ॥

सिद्ध समान रूप निज जानै ।
पर संजोग भाव परमानै ॥
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासै ।
त्रिविधि कर्मकी ममता नासै ॥ ८९ ॥

अर्थः—जबतक ज्ञानचेतना अपनेसे भिन्न है, अर्थात् ज्ञानचेतनाका उदय नहीं हुआ है, तबतक जीव दुखी और संसारी रहता है, और जब हृदयमें ज्ञानचेतना जागती है, तब वह अपने आप ही ज्ञानी वैरागी होता है ॥ ८८ ॥ वह अपना स्वरूप सिद्ध सदृश शुद्ध जानता है, और परके निमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंको पर स्वरूप मानता है। वह शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करता है और भावकर्म द्रव्यकर्म तथा नोकर्मको अपने नहीं मानता ॥ ८९ ॥

ज्ञानीकी आलोचना (दोहा)

*ग्यानवंत अपनी कथा, कहै आपसौं आप ।
मैं मिथ्यात दसाविषैं कीने बहुविधि पाप ॥ ९० ॥

अर्थः—ज्ञानी जीव अपनी कथा अपनेहीसे कहता है, कि मैंने मिथ्यात्वकी दशामें अनेक प्रकारके पाप किये ॥ ९० ॥

---

[1] 'भारी' ऐसा भी पाठ है।

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥ ३२ ॥

* यदहमकार्षं यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।

पुनः (सवैया इकतीसा)

हिरदै हमारे महा मोहकी विकलताई,
तातैं हम करुना न कीनी जीवघातकी ।
आप पाप कीनैं औरनिकौं उपदेस दीनैं,
हुती अनुमोदना हमारे याही बातकी ॥
मन वच कायामैं मगन ह्वै कमाये कर्म,
धाये भ्रमजालमैं कहाये हम पातकी ।
ग्यानके उदय भए हमारी दसा ऐसी भई,
जैसैं भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥ ९१ ॥

अर्थः—हमारे हृदयमें महा मोहजानित भ्रम था, इससे हमने जीवोंपर दया नहीं की । हमने खुद पाप किये, दूसरोंको पापका उपदेश दिया, और किसीको पाप करते देखा, तो उसका समर्थन किया । मन वचन कायकी प्रवृत्तिके निजत्वमें मग्न होकर कर्मबंध किये, और भ्रमजालमें भटककर हम पापी कहलाये, परन्तु ज्ञानका उदय होनेसे हमारी ऐसी अवस्था हो गई, जैसे कि सूर्यका उदय होनेसे प्रभातकी होती है—अर्थात् प्रकाश फैल जाता है, और अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ ९१ ॥

ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञानदशा हट जाती है (सवैया इकतीसा)

ग्यानभान भासत प्रवान ग्यानवान कहै,
करुना-निधान अमलान मेरौ रूप है ।
कालसौं अतीत कर्मजालसौं अजीत जोग-
जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है ॥
मोहकौ विलास यह जगतकौ वास मैं तौ,
जगतसौं सुन्न पाप पुन्न अंध कूप है ।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते ॥ ३३ ॥

पाप किनि कियौ कौन करै करिहै सु कौन,
क्रियाकौ विचार सुपिनेकी दौर धूप है॥ ९२ ॥

शब्दार्थः—अमीत = निर्भय । किनि = किससे । सुपिने = स्वप्न ।

अर्थः—ज्ञान-सूर्यका उदय होते ही ज्ञानी ऐसा विचारता है कि मेरा स्वरूप करुणामय और निर्मल है। उसपर मृत्युकी पहुँच नहीं है, वह कर्म-परिणतिको जीत लेता है, वह योग-समुदायसे निर्भय[1] है, उसकी महिमा अपरम्पार है, यह जगतका जंजाल मोहजनित है, मैं तो संसार अर्थात् जन्म-मरणसे रहित हूँ, और शुभाशुभ प्रवृत्ति अंध-कूपके समान है। किसने पाप किये? पाप कौन करता है? पाप कौन करेगा? इस प्रकारकी क्रियाका विचार ज्ञानीको स्वप्नके समान मिथ्या दिखता है॥ ९२ ॥

कर्म-प्रपंच मिथ्या है (दोहा)

मैं कीनौं मैं यौं करौं, अब यह मेरौ काम ।
मन वच कायामैं बसै, ए मिथ्या परिनाम॥ ९३ ॥
मनवचकाया करमफल, करम-दसा जड़ अंग ।
दरबित पुग्गल पिंडमय, भावित भरम तरंग॥ ९४ ॥
तातैं आतम धरमसौं, करम सुभाउ अपूठ ।
कौन करावै कौ करै, कोसल है सब झूठ॥ ९५ ॥

शब्दार्थः—अपूठ = अजानकार । कोसल = कौशल (चतुराई) ।

अर्थः—मैंने यह किया, अब ऐसा करूँगा, यह मेरी कार्रवाई है, ये सब मिथ्याभाव मन वचन कायमें निवास करते हैं॥ ९३ ॥ मन वचन काय कर्म-

---

[1] वह जानता है कि मन वचन कायाके योग पुद्गलके हैं, मेरे स्वरूपको बिगाड़ नहीं सकते।

न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।

जनित हैं, कर्म-परिणति जड़ है, द्रव्यकर्म पुद्गलके पिण्ड हैं, और भावकर्म अज्ञानकी लहर है ॥ ९४ ॥ आत्मासे कर्मस्वभाव विपरीत है, इससे कर्मको कौन करावे ? कौन करे ? यह सब कौशल मिथ्या है ॥ ९५ ॥

मोक्ष-मार्गमें क्रियाका निषेध (दोहा)

करनी हित हरनी सदा, मुकति वितरनी नांहि ।
गनी बंध-पद्धति विषै, सनी महादुखमांहि ॥ ९६ ॥

अर्थः—क्रिया आत्माका अहित करनेवाली है, मुक्ति देनेवाली नहीं है, इससे क्रियाकी गणना बंध-पद्धतिमें की गई है, यह महादुःखसे लिप्त है ॥ ९६ ॥

क्रियाकी निंदा (सवैया इकतीसा)

करनीकी धरनीमैं महा मोह राजा बसै,
करनी अग्यान भाव राकिसकी पुरी है ।
करनी करम काया पुग्गलकी प्रतिछाया,
करनी प्रगट माया मिसरीकी छुरी है ॥
करनीके जालमैं उरझि रह्यौ चिदानंद,
करनीकी वोट ग्यानभान दुति दुरी है ।
आचारज कहै करनीसौं विवहारी जीव,
करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है ॥ ९७ ॥

शब्दार्थः—राकिस = राक्षस । वोट = ओट (आड़) । दुरी है = छिपी है ।

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते ॥३४॥

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।

इस प्रकारका ऊपर तीन जगह संस्कृत गद्य दिया गया है, सो यह गद्य दोनों मुद्रित प्रतियोंमें नहीं है । किन्तु ईडरकी प्रतिसे उपलब्ध हुआ है । इन गद्योंके अर्थसे कविताके अर्थका बराबर मिलान नहीं होता है । ईडरकी प्रतिमें कहींसे उद्धृत किया है ऐसा मालूम पड़ता है ।

अर्थः—क्रियाकी भूमिपर मोह महाराजाका निवास है, क्रिया अज्ञानभावरूप राक्षसका नगर है, क्रिया कर्म और शरीर आदि पुद्गलोंकी मूर्ति है, क्रिया साक्षात् मायारूप मिश्री लपेटी हुई छुरी है, क्रियाके जंजालमें आत्मा फँस रहा है, क्रियाकी आड़ ज्ञान-सूर्यके प्रकाशको छुपा देती है। श्रीगुरु कहते हैं कि क्रियासे जीव कर्मका कर्त्ता होता है, निश्चय स्वरूपसे देखो तो क्रिया सदैव दुःखदायक है ॥ ९७ ॥

ज्ञानियोंका विचार (चौपाई)

मृषा मोहकी परनति फैली ।
तातैं करम चेतना मैली ॥
ग्यान होत हम समझी एती ।
जीव सदीव भिन्न परसेती ॥ ९८ ॥

(दोहा)

जीव अनादि सरूप मम, करम रहित निरुपाधि ।
अविनासी असरन सदा, सुखमय सिद्ध समाधि ॥ ९९ ॥

अर्थः—पहले झूठा मोहका उदय फैल रहा था, उससे मेरी चेतना कर्मसहित होनेसे मलीन हो रही थी, अब ज्ञानका उदय होनेसे हम समझ गये कि आत्मा सदा पर परिणतिसे भिन्न है ॥ ९८ ॥ हमारा स्वरूप चैतन्य है, अनादि है, कर्मरहित है, शुद्ध है, अविनाशी है, स्वाधीन है, निर्विकल्प और सिद्ध समान सुखमय है ॥ ९९ ॥

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसम्मोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते ॥ ३५ ॥

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥ ३६ ॥

पुनः (चौपाई)

*मैं त्रिकाल करनीसौं न्यारा।
चिदविलास पद जग उजयारा॥
राग विरोध मोह मम नांही।
मेरौ अवलंबन मुझमांही॥ १००॥

अर्थः—मैं सदैव कर्मसे पृथक् हूँ, मेरा चैतन्य पदार्थ जगत्का प्रकाशक[1] है, राग द्वेष मोह मेरे नहीं हैं, मेरा स्वरूप मुझहीमें है॥ १००॥

(सवैया तेईसा)

सम्यकवंत कहै अपने गुन,
मैं नित राग विरोधसौं रीतौ।
मैं करतूति करूं निरवंछक,
मोहि विषै रस लागत तीतौ॥
सुद्ध सुचेतनकौ अनुभौ करि,
मैं जग मोह महा भट जीतौ।
मोख समीप भयौ अब मो कहुं,
काल अनंत इही विधि बीतौ॥ १०१॥

शब्दार्थः—रीतौ = रहित। मोय = मुझे। तीतौ (तिक्त) = चरपरा।

अर्थः—सम्यग्दृष्टी जीव अपना स्वरूप विचारते हैं कि मैं सदा राग-द्वेष-मोहसे रहित हूँ, मैं लौकिक क्रियाएँ इच्छारहित करता हूँ, मुझे विषय-रस चरपरा लगता है, मैंने जगतमें शुद्ध आत्माका अनुभव करके मोहरूपी महा योद्धाको जीता है, मोक्ष मेरे बिलकुल समीप हुआ, अब मेरा अनंतकाल इसी प्रकार बीते॥ १०१॥

---

[1] यदि ज्ञान ढँक जाय, तो समस्त संसार अंधकारमय ही है।

*विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्॥ ३७॥

(दोहा)

कहै विचच्छन मैं रह्यौ, सदा ग्यान रस राचि ।
सुद्धातम अनुभूतिसौं, खलित न होहुं कदाचि ॥ १०२ ॥
पुव्वकरम विषतरु भए, उदै भोग फलफूल ।
मैं इनको नहि भोगता, सहज होहु निरमूल ॥ १०३ ॥

शब्दार्थः—विचच्छन = ज्ञानी पुरुष । राचि = रमण । खलित = च्युत ।

अर्थः—ज्ञानी जीव विचारते हैं कि मैं सदैव ज्ञानरसमें रमण करता हूँ और शुद्ध आत्म-अनुभवसे कभी भी नहीं चूकता ॥ १०२ ॥ पूर्वकृत कर्म विषवृक्षके समान हैं, उनका उदय फल-फूलके समान है, मैं इनको भोगता नहीं हूँ, इसलिये अपने आप ही नष्ट हो जायँगे ॥ १०३ ॥

वैराग्यकी महिमा (दोहा)

जो पूरवकृत करम-फल, रुचिसौं भुंजै नांहि ।
मगन रहै आठौं पहर, सुद्धातम पद मांहि ॥ १०४ ॥
सो बुध करमदसा रहित, पावै मोख तुरंत ।
भुंजै परम समाधि सुख, आगम काल अनंत ॥ १०५ ॥

शब्दार्थः—भुंजै = भोगे । आगम काल = आगामी काल ।

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्मनैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥ ३८ ॥

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वतः पव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥ ३९ ॥

अर्थः—जो ज्ञानी जीव पूर्वमें कमाये हुए शुभाशुभ कर्मफलको अनुराग-पूर्वक नहीं भोगता, और सदैव शुद्ध आत्म-पदार्थमें मस्त रहता है, वह शीघ्र ही कर्मपरिणति रहित मोक्षपद प्राप्त करता है, और आगामी कालमें परम ज्ञानका आनंद अनंत काल तक भोगता है॥ १०४ ॥ १०५ ॥

ज्ञानीकी उन्नतिका क्रम (छप्पय)

जो पूरवकृतकरम, विरख-विष-फल नहि भुंजै।
जोग जुगति कारिज करंति, ममता न प्रयुंजै॥
राग विरोध निरोधि, संग विकलप सब छंडइ।
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासि, सिव नाटक मंडइ॥
जो ग्यानवंत इहि मग चलत, पूरन ह्वै केवल लहै।
सो परम अतींद्रिय सुख विषैं, मगन रूप संतत रहै॥ १०६ ॥

शब्दार्थः—विरख-विष-फल = विषवृक्षके फल। कारिज = कार्य। प्रयुंजै = करे। छंडई = छोड़े। मंडइ = करे (खेले)। संतत = सदैव।

अर्थः—जो पूर्वमें कमाये हुए कर्मरूप विष-वृक्षके विष-फल नहीं भोगता, अर्थात् शुभ फलमें रति और अशुभ फलमें अरति नहीं करता, जो मन–वचन–कायके योगोंका निग्रह करता हुआ वर्तता है, और ममतारहित राग–द्वेषको रोककर परिग्रहजनित सब विकल्पोंका त्याग करता है, तथा शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करके मुक्तिका नाटक खेलता है, वह ज्ञानी ऊपर कहे हुए मार्गको ग्रहण करके पूर्णस्वभाव प्राप्तकर केवलज्ञान पाता है, और सदैव उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखमें मस्त रहता है॥ १०६ ॥

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु॥ ४० ॥

शुद्ध आत्मद्रव्यको नमस्कार (सवैया इकतीसा)

*निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परगासमैं जगत माइयतु है।
रूप रस गंध फास पुदगलकौ विलास,
तासौं उदवास जाकौ जस गाइयतु है।
विग्रहसौं विरत परिग्रहसौं न्यारौ सदा,
जामैं जोग निग्रह चिहन पाइयतु है।
सो है ग्यान परवांन चेतन निधान ताहि,
अविनासी ईस जानि सीस नाइयतु है॥ १०७॥

शब्दार्थः—निराकुल = क्षोभरहित। निगम = उत्कृष्ट। निरभै (निर्भय) = भयरहित। परगास = प्रकाश। माइयतु है = समाता है। उदवास = रहित। विग्रह = शरीर। निग्रह = निराला। चिह्न = लक्षण।

अर्थः—आत्मा निर्भय, आनंदमय, सर्वोत्कृष्ट, ज्ञानरूप और भेदरहित है। उसके ज्ञानरूप प्रकाशमें त्रैलोक्यका समावेश होता है। स्पर्श रस गंध वर्ण ये पुद्गलके गुण हैं, इनसे उसकी महिमा निराली कही गई है। उसका लक्षण शरीरसे भिन्न, परिग्रहसे रहित, मन वचन कायके योगोंसे निराला है, वह ज्ञानस्वरूप चैतन्य-पिण्ड है, उसे अविनाशी ईश्वर मानकर मस्तक नवाता हूँ॥ १०७॥

शुद्ध आत्मद्रव्य अर्थात् परमात्माका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।

---

*इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते॥ ४१॥

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥ ४२॥

दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निजस्थान फिर बाहरि न बहैगौ ॥
कबहूं कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि,
राग रस राचिकैं न पर वस्तु गहैगौ ।
अमलान ग्यान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगम अनंत काल रहैगौ ॥ १०८ ॥

शब्दार्थ:—निरभेद = भेदरहित । अतीत = पहले । राचिकैं = लीन होकर । अमलान = मलरहित । आगम = आगामी ।

अर्थ:—पूर्वमें अर्थात् संसारी दशामें निश्चयनयसे आत्मा जैसा अभेदरूप था, वैसा प्रगट हो गया, उस परमात्माको अब भेदरूप कौन कहेगा ? अर्थात् कोई नहीं। जो कर्मरहित और सुख-शान्तिसहित दिखता है, तथा जिसने निजस्थान अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति की है, वह बाहर अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारमें न आवेगा। वह कभी भी अपना निज-स्वभाव छोड़कर राग-द्वेषमें लगकर पर-पदार्थ अर्थात् शरीर आदिको ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि वर्तमानकालमें जो निर्मल पूर्णज्ञान प्रगट हुआ है, वह तो आगामी अनंत काल तक ऐसा ही रहेगा ॥ १०८ ॥

पुनः (सवैया इकतीसा)

जबहीतैं चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाउ गहि लीनौ है ।
तबहीतैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनौ,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है ॥
लैबेकौं न रही ठौर त्यागिवेकौं नांहि और,
बाकी कहा उबर्यौ जु कारजु नवीनौ है ।

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥ ४३ ॥

संग त्यागि अंग त्यागि वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा सुद्ध कीनौ है ॥ १०९ ॥

शब्दार्थः—उलटि = विमुख होकर। समै (समय) = मौका । उबरयौ = शेष रहा। कारजु (कार्य) = काम । संग = परिग्रह । अंग = देह । तरंग = लहर । बुद्धि = इन्द्रिय-जनितज्ञान । आपा = निज-आत्म ।

अर्थः—अवसर मिलनेपर जबसे आत्माने विभावपरिणति छोड़कर निज-स्वभाव ग्रहण किया है, तबसे जो जो बातें उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य थीं, वे वे सब ग्रहण कीं, और जो जो बातें हेय अर्थात् त्यागने योग्य थीं, वे वे सब छोड़ दीं। अब ग्रहण करने योग्यं और त्यागने योग्य कुछ नहीं रह गया और न कुछ शेष रह गया जो नया काम करनेको बाकी हो। परिग्रह छोड़ दिया, शरीर छोड़ दिया, वचनकी क्रियासे रहित हुआ, मनके विकल्प त्याग दिये, इन्द्रिय-जनित ज्ञान छोड़ा और आत्माको शुद्ध किया ॥ १०९ ॥

मुक्तिका मूल कारण द्रव्यलिंग नहीं है (दोहा)

सुद्ध ग्यानकै देह नहि, मुद्रा भेष न कोइ ।
तातै कारन मोखकौ, दरबलिंग नहि होइ ॥ ११० ॥
*दरबलिंग न्यारौ प्रगट, कला वचन विग्यान ।
अष्ट महारिधि अष्ट सिधि, एऊ होहि न ग्यान ॥ १११ ॥

शब्दार्थः—मुद्रा = आकृति । भेस (वेश) = बनावट । दरबलिंग = बाह्य वेष । प्रगट = स्पष्ट । एऊ = यह ।

अर्थः—आत्मा शुद्धज्ञानमय है, और शुद्धज्ञानके शरीर नहीं है, और न आकृति–वेष आदि हैं, इसलिये द्रव्यलिंग मोक्षका कारण नहीं है ॥ ११० ॥ बाह्य वेष

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥ ४४ ॥

*एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥ ४५ ॥

जुदा है, कला-कौशल जुदा है, वचन-चातुरी जुदा है, अष्ट महाऋद्धिएँ[१] जुदी हैं, सिद्धिएँ[२] जुदी हैं और ये कोई ज्ञान नहीं हैं ॥ १११ ॥

आत्माके सिवाय अन्यत्र ज्ञान नहीं है (सवैया इकतीसा)

भेषमैं न ग्यान नहि ग्यान गुरु वर्तनमैं,
मंत्र जंत्र तंत्रमैं न ग्यानकी कहानी है।
ग्रंथमैं न ग्यान नहि ग्यान कवि चातुरीमैं,
बातनिमैं ग्यान नहि ग्यान कहा बानी है॥
तातैं भेष गुरुता कवित्त ग्रंथ मंत्र बात,
इनतैं अतीत ग्यान चेतना निसानी है।
ग्यानहीमैं ग्यान नहि ग्यान और ठौर कहूं,
जाकै घट ग्यान सोई ग्यानका निदानी है॥ ११२ ॥

शब्दार्थः—मंत्र = झाड़ना फूँकना। जंत्र = गण्डा—तावीज। तंत्र = टोटका। कहानी = बात। ग्रंथ = शास्त्र। निसानी = चिह्न। वानी = वचन। ठौर = स्थान। निदानी = कारण।

अर्थः—वेषमें ज्ञान नहीं है, महंतजी बने फिरनेमें ज्ञान नहीं है, मंत्र जंत्र तंत्रमें ज्ञानकी बात नहीं है, शास्त्रमें[३] ज्ञान नहीं है, कविता-कौशलमें ज्ञान नहीं है, व्याख्यानमें[४] ज्ञान नहीं है, क्योंकि वचन[५] जड़ है, इससे वेष, गुरुता, कविताई, शास्त्र, मंत्र-तंत्र, व्याख्यान इनसे चैतन्यलक्षणका धारक ज्ञान निराला है। ज्ञान ज्ञानहीमें है, अन्यत्र नहीं है। जिसके घटमें ज्ञान उपजा है, वही ज्ञानका मूल कारण अर्थात् आत्मा है ॥ ११२ ॥

---

[१] अष्ट ऋद्धिएँ—

दोहा—अणिमा महिमा गरमिता, लघिमा प्राप्ती काम।
वशीकरण अरु ईशता, अष्ट रिद्धिके नाम॥

[२] अष्ट सिद्धिएँ—अचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचन, बुद्धि, उपयोग और संग्रह संलीनता।

[३–४] ये ज्ञान नहीं ज्ञानके कारण हैं। [५] वचन शब्दका प्रकार है, सो शब्द जड़ है, चैतन्य नहीं है

ज्ञानके विना वेषधारी विषयके भिखारी हैं (सवैया इकतीसा)

भेष धरि लोकनिकौं बंचै सौ धरम ठग,
गुरू सो कहावै गुरुवाई जाहि चहिये।
मंत्र तंत्र साधक कहावै गुनी जादूगर,
पंडित कहावै पंडिताई जामैं लहिये॥
कवित्तकी कलामैं प्रवीन सो कहावै कवि,
बात कहि जानै सो पवारगीर कहिये।
एतौ सब विषैके भिखारी मायाधारी जीव,
इन्हकौं विलोकिकै दयालरूप रहिये॥ ११३॥

शब्दार्थः—बंचै = ठगे। प्रवीन = चतुर। पवारगीर = बातचीतमें होश्यार—सभाचतुर। विलौकि = देखकर।

अर्थः—जो वेष बनाकर लोगोंको ठगता है, वह धर्म-ठग कहलाता है, जिसमें लौकिक बड़प्पन होता है, वह बड़ा कहलाता है, जिसमें मंत्र-तंत्र साधनेका गुण है, वह जादूगर कहलाता है, जो कविताईमें होश्यार है, वह कवि कहलाता है, जो बात-चीतमें चटपटा है, वह व्याख्याता कहलाता है। सो ये सब कपटी जीव विषयके भिक्षुक हैं, विषयोंकी पूर्तिके लिये याचना करते फिरते हैं, इनमें स्वार्थ—त्यागका अंश भी नहीं है। इन्हें देखकर दया आनी चाहिये॥ ११३॥

अनुभवकी योग्यता (दोहा)

जो दयालता भाव सो, प्रगट ग्यानकौ अंग।
पै तथापि अनुभौ दसा, वरतै विगत तरंग॥ ११४॥
दरसन ग्यान चरन दसा, करै एक जो कोइ।
थिर ह्वै साधै मोख-मग, सुधी अनुभवी सोइ॥ ११५॥

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा॥ ४६॥

22-2-96

शब्दार्थः—प्रगट = साक्षात् । तथापि = तौ भी । विगत = रहित । तरंग = विकल्प । सुधी = भेदविज्ञानी ।

अर्थः—यद्यपि करुणाभाव ज्ञानका साक्षात् अंग है, पर तौ भी अनुभवकी परिणति निर्विकल्प रहती है ॥ ११४ ॥ जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता पूर्वक आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर मोक्षमार्गको साधता है, वही भेदविज्ञानी अनुभवी है ॥ ११५ ॥

आत्म-अनुभवका परिणाम (सवैया इकतीसा)

जोई द्रिग ग्यान चरनातममैं बैठि ठौर,
भयौ निरदौर पर वस्तुकौं न परसै ।
सुद्धता विचारै ध्यावै सुद्धतामैं केलि करै,
सुद्धतामैं थिर ह्वै अम्रत-धारा बरसै ॥
त्यागि तन कष्ट ह्वै सपष्ट अष्ट करमकौ,
करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै ।
सोतौ विकलप विजई अलप काल मांहि,
त्यागि भौ विधान निरवान पद परसै ॥ ११६ ॥

शब्दार्थः—निरदौर = परणामोंकी चंचलता रहित । परसै (स्पर्शे) = छूवे । केलि = मौज । सपष्ट (स्पष्ट) = खुलासा । थान (स्थान) = क्षेत्र । करसै (कृश करे) = जीर्ण करे । विकलप विजई = विकल्प जाल जीतनेवाला । अलप (अल्प) = थोड़ा । भौ विधान = जन्म-मरणका फेरा । निरवान (निर्वाण) = मोक्ष ।

अर्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप आत्मामें अत्यन्त दृढ़ स्थिर होकर विकल्प-जालको दूर करता है, और उसके परिणाम पर-पदार्थोंको छू तक नहीं पाते । जो आत्मशुद्धिकी भावना व ध्यान करता है, वा शुद्ध आत्मामें मौज करता है, अथवा यों कहो कि शुद्ध आत्मामें स्थिर होकर आत्मीय आनंदकी अमृत-धारा बरसाता है, वह शारीरिक कष्टोंको नहीं गिनता, और स्पष्टतया आठों कर्मोंकी सत्ताको शिथिल और विचलित कर देता है, तथा उनकी निर्जरा और नाश करता है, वह निर्विकल्प ज्ञानी थोड़े ही समयमें जन्म–मरणरूप संसारको छोड़कर परम-धाम अर्थात् मोक्ष पाता है ॥ ११६ ॥

आत्मअनुभव करनेका उपदेश (चौपाई)

गुन परजैमैं द्रिष्टि न दीजै।
निरविकलप अनुभौ-रस पीजै॥
आप समाइ आपमैं लीजै।
तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै॥ ११७॥

शब्दार्थः—द्रिष्टि = नजर। रस = अमृत। तनुपौ = शरीरमें अहंकार। अपनुपौ = आत्माको अपना मानना।

अर्थः—आत्माके अनेक गुण-पर्यायोंके विकल्पमें न पड़कर निर्विकल्प आत्म-अनुभवका अमृत पियो। आप अपने स्वरूपमें लीन हो जाओ, और शरीरमें अहंबुद्धि छोड़कर निजआत्माको अपनाओ॥ ११७॥

पुनः (दोहा)

तज़ि विभाउ हूजै मगन, सुद्धातम पद मांहि।
एक मोख-मारग यहै, और दूसरौ नांहि॥ ११८॥

अर्थः—राग-द्वेष आदि विभावपरिणतिको हटाकर शुद्ध आत्मपदमें लीन होओ, यही एक मोक्षका रास्ता है, दूसरा मार्ग कोई नहीं है॥ ११८॥

आत्म-अनुभवके बिना बाह्य चारित्र होनेपर भी जीव अव्रती है (सवैया इकतीसा)

*केई मिथ्याद्रिष्टी जीव धरै जिनमुद्रा भेष,
क्रियामैं मगन रहैं कहैं हम जती हैं।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति॥ ४७॥

*ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते॥ ४८॥

अतुल अखंड मल रहित सदा उदोत,
ऐसे ग्यान भावसौं विमुख मूढ़मती हैं॥
आगम संभालैं दोस टालैं विवहार भालैं,
पालैं व्रत जदपि तथापि अविरती हैं।
आपुकौं कहावैं मोख मारगके अधिकारी,
मोखसौं सदीव रुष्ट दुष्ट दुरमती[1] हैं॥ ११९॥

शब्दार्थः—क्रिया = बाह्यचारित्र। जती (यति) = साधु। अतुल = उपमा रहित। अखंड = नित्य। सदा उदोत = हमेशा प्रकाशित रहनेवाला। विमुख = परांमुख। मूढ़मती = अज्ञानी। आगम = शास्त्र। भालैं = देखें। अविरती (अव्रती) = व्रत रहित। रुष्ट = नाराज। दुरमती = खोटी बुद्धिवाले।

अर्थः—कई मिथ्यादृष्टि जीव जिनलिंग धारण करके शुभाचारमें लगे रहते हैं, और कहते हैं कि हम साधु हैं, वे मूर्ख, अनुपम, अखंड, अमल, अविनाशी और सदा प्रकाशवान ऐसे ज्ञानभावसे सदा पराङ्मुख हैं। यद्यपि वे सिद्धांतका अध्ययन करते, निर्दोष आहार-विहार करते और व्रतोंका पालन करते, तो भी अव्रती हैं। वे अपनेको मोक्षमार्गका अधिकारी कहते हैं, परन्तु वे दुष्ट मोक्षमार्गसे विमुख हैं, और दुर्मति हैं॥ ११९॥

पुनः (चौपाई)

जैसैं मुगध धान पहिचानै।
तुष तंदुलकौ भेद न जानै॥
तैसैं मूढ़मती विवहारी।
लखै न बंध मोख गति न्यारी॥॥ १२०॥

अर्थः—जिस प्रकार भोला मनुष्य धानको पहिचाने और तुष तंदुलका

---

[1] 'दुरगती' ऐसा भी पाठ है।

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्॥ ४९॥

भेद न जाने, उसी प्रकार बाह्य-क्रियामें लीन रहनेवाला अज्ञानी बंध और मोक्षकी पृथक्ता नहीं समझता ॥ १२० ॥

पुनः (दोहा)

जे विवहारी मूढ़ नर, परजै बुद्धो जीव।
तिन्हकौं बाहिज क्रियाविषै, है अवलंब सदीव ॥ १२१ ॥

कुमती बाहिज दृष्टिसौं, बाहिज क्रिया करंत।
मानै मोख परंपरा, मनमैं हरष धरंत ॥ १२२ ॥

सुद्धातम अनुभौ कथा, कहै समकिती कोइ।
सो सुनिकैं तासौं कहै, यह सिवपंथ न होइ ॥ १२३ ॥

अर्थः—जो व्यवहारमें लीन और पर्यायहीमें अहंबुद्धि करनेवाले भोले मनुष्य हैं, उन्हें हमेशा बाह्य क्रियाकाण्डहीका बल रहता है ॥ १२१ ॥ जो बहिर्दृष्टी और अज्ञानी हैं वे बाह्यचारित्र ही अंगीकार करते हैं, और मनमें प्रसन्न होकर उसे मोक्षमार्ग समझते हैं ॥ १२२ ॥ यदि कोई सम्यग्दृष्टी जीव उन मिथ्यात्वियोंसे शुद्ध आत्म-अनुभवकी वार्ता करे, तो उसको सुनकर वे कहते हैं कि यह मोक्षमार्ग नहीं है ॥ १२३ ॥

अज्ञानी और ज्ञानियोंकी परिणतिमें भेद है (कवित्त)

*जिन्हके देहबुद्धि घट अंतर,
मुनि-मुद्रा धरि क्रिया प्रवांनहि।
ते हिय अंध बंधके करता,
परम तत्तकौ भेद न जानहि ॥
जिन्हके हिए सुमतिकी कनिका,
बाहिज क्रिया भेष परमानहि।

---

*द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतो ॥ ५० ॥

ते समकिती मोख मारग मुख,
करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि ॥ १२४ ॥

शब्दार्थः—देहबुद्धि = शरीरको अपना मानना। प्रमानहि = सत्य मानना। हिय = हृदय। परमतत्त = आत्मपदार्थ। कनिका = किरण। भवस्थिति = संसारकी स्थिति। भानहि = नष्ट करते हैं।

अर्थः—जिनके हृदयमें शरीरसे अहंबुद्धि है, वे मुनिका वेश धारण करके बाह्य चारित्रहीको सत्य मानते हैं। वे हृदयके अंधे बंधके कर्त्ता हैं, आत्म-पदार्थका मर्म नहीं जानते, और जिन सम्यग्दृष्टी जीवोंके हृदयमें सम्यग्ज्ञानकी किरण प्रकाशित हुई है, वे बाह्यक्रिया और वेषको अपना निज-स्वरूप नहीं समझते, वे मोक्षमार्गके सन्मुख गमन करके भवस्थितिको नष्ट करते हैं ॥ १२४ ॥

समयसारका सार (सवैया इकतीसा)

आचारज कहैं जिन वचनकौ विसतार,
अगम अपार है कहैंगे हम कितनौ।
बहुत बोलिबेसौं न मकसूद चुप्प भली,
बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनौ॥
नानारूप जलपसौं नाना विकलप उठैं,
तातैं जेतौ कारज कथन भलौ तितनौ।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ अभ्यास कीजै,
यहै मोख-पंथ परमारथ है इतनौ॥ १२५॥

शब्दार्थः—विसतार (विस्तार) = फैलाव। अगम = अथाह। मकसूद = इष्ट। जलप = बकवाद। कारज = काम। परमारथ (परमार्थ) = परम पदार्थ।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ ५१ ॥

अर्थः—श्रीगुरु कहते हैं कि जिनवाणीका विस्तार विशाल और अपरम्पार है, हम कहाँ तक कहेंगे। बहुत बोलना हमें इष्ट नहीं है, इससे अब मौन हो रहना भला है, क्योंकि वचन उतने ही बोलना चाहिये, जितनेसे प्रयोजन सधे। अनेक प्रकारका बकवाद करनेसे अनेक विकल्प उठते हैं, इसलिये उतना ही कथन करना ठीक है जितनेका काम है। बस, शुद्ध परमात्माके अनुभवका अभ्यास करो यही मोक्षमार्ग है और इतना ही परमार्थ है॥ १२५॥

पुनः (दोहा)

सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्रिग दौर।
मुकति-पंथ साधन यहै, वागजाल सब और॥ १२६॥

शब्दार्थः—क्रिया = चारित्र। द्रिग = दर्शन। वागजाल = वाक्याडंबर।

अर्थः—शुद्ध आत्माका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है, बाकी सब वाक्याडम्बर हैं॥ १२६॥

अनुभव योग्य शुद्ध आत्माका स्वरूप (दोहा)

जगत चक्षु आनंदमय, ग्यान चेतनाभास।
निरविकलप सासुत सुथिर, कीजै अनुभौ तास॥ १२७॥
अचल अखंडित ग्यानमय, पूरन वीत ममत्व।
ग्यान गम्य बाधा रहित, सो है आतम तत्व॥ १२८॥

अर्थः—आत्मपदार्थ जगतके सब पदार्थोंको देखनेके लिये नेत्र है,

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत्॥ ५२॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्। ५३॥

इति सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकारः॥ १०॥

आनन्दमय है, ज्ञान-चेतनासे प्रकाशित है, संकल्प-विकल्प रहित है, स्वयं सिद्ध है, अविनाशी है, अचल है, अखंडित है, ज्ञानका पिण्ड है, सुख आदि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है, वीतराग है, इन्द्रियोंके अगोचर है, ज्ञानगोचर है, जन्म-मरण वा क्षुधा-तृषा आदिकी बाधासे रहित निराबाध है। ऐसे आत्मतत्त्वका अनुभव करो ॥ १२७ ॥ ॥ १२८ ॥

(दोहा)

सर्व विसुद्धी द्वार यह, कह्यौ प्रगट सिवपंथ ।
कुंद कुंद मुनिराज कृत, पूरन भयौ गरंथ ॥ १२९ ॥

अर्थः—साक्षात् मोक्षका मार्ग यह सर्वविशुद्धि अधिकार कहा और स्वामी कुंदकुंदमुनि रचित शास्त्र समाप्त हुआ ॥ १२९ ॥

ग्रन्थकर्त्ताका नाम और ग्रन्थकी महिमा (चौपाई)

कुंदकुंद मुनिराज प्रवीना ।
तिन्ह यह ग्रंथ इहांलौं कीना ॥
गाथा बद्ध सुप्राकृत वानी ।
गुरुपरंपरा रीति बखानी ॥ १३० ॥
भयौ गिरंथ जगत विख्याता ।
सुनत महा सुख पावहि ग्याता ॥
जे नव रस जगमांहि बखानै ।
ते सब समयसार रस सानै[1] ॥ १३१ ॥

अर्थः—आध्यात्मिक विद्यामें कुशल स्वामी कुंदकुंद मुनिने यह ग्रन्थ यहाँ तक रचा है, और वह गुरु-परम्पराके कथन अनुसार प्राकृत भाषामें गाथाबद्ध कथन किया है ॥ १३० ॥ यह ग्रन्थ जगत्प्रसिद्ध है, इसे सुनकर ज्ञानी लोग परमानंद प्राप्त करते हैं। लोकमें जो नव रस प्रसिद्ध हैं वे सब इस समयसारके रसमें समाये हुए हैं ॥ १३१ ॥

---

[1] 'मानै' ऐसा भी पाठ है।

पुनः (दोहा)

प्रगटरूप संसारमैं, नव रस नाटक होइ।
नवरस गर्भित ग्यानमय, विरला जानैं कोइ॥ १३२ ॥

अर्थः—संसारमें प्रसिद्ध है कि नाटक नव रस सहित होता है, पर ज्ञानमें नव ही रस गर्भित हैं, इस बातको कोई विरला ही ज्ञानी जानता है।

भावार्थः—नव रसोंमें सबका नायक शान्तरस है, और शान्तरस ज्ञानमें है ॥ १३२ ॥

नव रसोंके नाम (कवित्त)

प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस,
तीजौ रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम,
छट्ठम रस बीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत,
नवमो शांत रसनिकौ नायक।
ए नव रस एई नव नाटक,
जो जहं मगन सोइ तिहि लायक॥ १३३ ॥

अर्थः—पहला श्रृंगार, दूसरा वीर रस, तीसरा सुखदायक करुणा रस, चौथा हास्य, पाँचवाँ रौद्र रस, छट्ठा घिनावना बीभत्स रस, सातवाँ भयानक, आठवाँ अद्भुत और नवमा सब रसोंका सरताज शान्त रस है। ये नव रस हैं। और यही नाटकरूप हैं। जो जिस रसमें मग्न होवे उसको वही रुचिकर होता है ॥ १३३ ॥

नव रसोंके लौकिक स्थान (सवैया इकतीसा)

सोभामैं सिंगार बसै वीर पुरुषारथमैं,
कोमल हिंएमैं करुना रस बखानिये।

आनंदमैं हास्य रुंड मुंडमैं विराजै रुद्र,
बीभत्स तहां जहां गिलानि मन आनिये ॥
चिंतामैं भयानक अथाहतामैं अदभुत,
मायाकी अरुचि तामैं सांत रस मानिये ।
एई नव रस भवरूप एई भावरूप,
इनिकौ विलेछिन सुद्रिष्टि जागैं जानिये ॥ १३४ ॥

शब्दार्थः—रुंड मुंड = रण-संग्राम । विलेछिन = पृथक्करण ।

अर्थः—शोभामें श्रृंगार, पुरुषार्थमें वीर, कोमल हृदयमें करुणा, आनंदमें हास्य, रण-संग्राममें रौद्र, ग्लानिमें बीभत्स, शोक मरणादिकी चिंतामें भयानक, आश्चर्यमें अद्भुत और वैराग्यमें शान्त रसका निवास है। ये नव रस लौकिक हैं और पारमार्थिक हैं, सो इनका पृथक्करण ज्ञानदृष्टिका उदय होनेपर होता है ॥ १३४ ॥

नव रसोंके पारमार्थिक स्थान (छप्पय)

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख ।
करुना समरस रीति, हास हिरदै उछाह सुख ॥
अष्ट करम दल मलन, रुद्र वरतै तिहि थानक ।
तन विलेछ बीभच्छ, दुंद मुख दसा भयानक ॥
अदभुत अनंत बल चिंतवन, सांत सहज वैराग ध्रुव ।
नव रस विलास परगास तब,
जब सुबोध घट प्रगट हुव ॥ १३५ ॥

शब्दार्थः—उछाह = उत्साह । दल मलन = नष्ट करना । विलेछ = अशुचि ।

अर्थः—आत्माको ज्ञानगुणसे विभूषित करनेका विचार श्रृंगार रस है, कर्म-निर्जराका उद्यम वीररस है, अपने ही समान सब जीवोंको समझना करुणा रस है, मनमें आत्म-अनुभवका उत्साह हास्यरस है, अष्ट कर्मोंका नष्ट करना रौद्र-रस है, शरीरकी अशुचिता विचारना बीभत्स रस है, जन्म–मरण आदिका दुख

चिंतवन करना भयानक रस है, आत्माकी अनंतशक्ति चिंतवन करना अद्भुत रस है, दृढ़ वैराग्य धारण करना शान्त रस है। सो जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है तब इस प्रकार नव रसका विलास प्रकाशित होता है॥ १३५॥

(चौपाई)

जब सुबोध घटमैं परगासै।
तब रस विरस विषमता नासै॥
नव रस लखै एक रस मांही।
तातैं विरस भाव मिटि जांही॥ १३६॥

शब्दार्थः—सुबोध = सम्यग्ज्ञान। विषमता = भेद।

अर्थः—जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब रस-विरसका भेद मिट जाता है। एक ही रसमें नव रस दिखाई देते हैं, इससे विरसभाव नष्ट होकर एक शान्त रसहीमें आत्मा विश्राम लेता है॥ १३६॥

(दोहा)

सबरसगर्भित मूल रस, नाटक नाम गरंथ।
जाके सुनत प्रवांन जिय, समुझै पंथ कुपंथ॥ १३७॥

शब्दार्थः—मूल रस = प्रधानरस। कुपंथ = मिथ्यामार्ग।

अर्थः—यह नाटक समयसार ग्रन्थ सब रसोंसे गर्भित आत्मानुभवरूप मूलरसमय है, इसके सुनते ही जीव सन्मार्ग और उन्मार्गको समझ जाता है॥ १३७॥

(चौपाई)

वरतै ग्रंथ जगत हित काजा।
प्रगटे अमृतचंद्र मुनिराजा॥
तब तिन्हि ग्रंथ जानि अति नीका।
रची बनाई संसकृत टीका॥ १३८॥

अर्थः—यह जगत्‌हितकारी ग्रन्थ प्राकृत भाषामें था सो अमृतचन्द्रस्वामीने इसे अत्यंत श्रेष्ठ जानकर इसकी संस्कृत टीका बनाई ॥ १३८ ॥

(दोहा)

सरब विसुद्धी द्वारलौं, आए करत बखान ।
तब आचारज भगतिसौं, करे ग्रंथ गुन गान ॥ १३९ ॥

अर्थः—स्वामीअमृतचंद्रने सर्वविशुद्धिद्वार पर्यंत इस ग्रन्थका संस्कृत भाषामें व्याख्यान किया है और भक्तिपूर्वक गुणानुवाद गाया है ॥ १३९ ॥

दसवें अधिकारका सार

अनन्तकालसे जन्म-मरणरूप संसारमें निवास करते हुए इस मोही जीवने पुद्‌गलोंके समागमसे कभी अपने स्वरूपका आस्वादन नहीं किया, और राग-द्वेष आदि मिथ्याभावोंमें तत्पर रहा । अब सावधान होकर निजात्म-अभिरुचिरूप सुमति राधिकासे नाता लगाना और परपदार्थोंमें अहंबुद्धिरूप कुमति कुबजासे विरक्त होना उचित है । सुमति राधिका शतरंजके खिलाड़ीके समान पुरुषार्थको प्रधान करती है और कुमति कुबजा चौसरके खिलाड़ीके समान 'पाँसा परै सो दाव' की नीतिसे तकदीरका अवलम्बन लेती है । इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि नीतिसे अपने बुद्धिबल और बाह्य साधनोंको संग्रह करके उद्योगमें तत्पर होनेकी शिक्षा दी गई है । नसीबकी बात है, कर्म जैसा रस देगा सो होवेगा, तकदीरमें नहीं है। इत्यादि किसमतके रोनेको अज्ञानभाव बतलाया है, क्योंकि तकदीर अंधी है और तदबीर सूझती हुई है ।

आत्मा पूर्वकर्मरूप विष-वृक्षोंका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, इस प्रकारका विचार दृढ़ रखनेसे और शुद्धात्म पदमें मस्त रहनेसे वे कर्म-समूह अपने आप नष्ट हो जाते हैं। यदि अंधा मनुष्य लँगड़े मनुष्यको अपने कंधेपर रख ले, तो अंधा लँगड़ेके ज्ञान और लँगड़ा अंधेके पैरोंकी सहायतासे रास्ता पार कर सकता है, परन्तु अंधा अकेला ही रहे और लँगड़ा भी उससे जुदा रहे तो, वे दोनों इच्छित क्षेत्रको नहीं पहुँच सकते, और न विपत्तिपर विजय पा सकते हैं। यही हाल ज्ञान

चारित्रका है। सच पूछो तो, ज्ञानके विना चारित्र चारित्र ही नहीं है, और चारित्रके बिना ज्ञान ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानके बिना पदार्थके स्वरूपको कौन पहिचानेगा और चारित्रके विना स्वरूपमें विश्राम कैसे मिलेगा? इससे स्पष्ट है, कि ज्ञान–वैराग्यका जोड़ा है। फल-क्रियामें लीन होनेकी जैनमतमें कुछ महिमा नहीं है, उसे "करनी हित हरनी सदा मुकति वितरनी नांहि" कहा है। इसलिये ज्ञानी लोग ज्ञानगोचर और ज्ञानस्वरूप आत्माका ही अनुभव करते हैं।

स्मरण रहे कि ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है, जब वह ज्ञेयको ग्रहण करता अर्थात् जानता है, तब उसकी परिणति ज्ञेयाकार होती है, क्योंकि ज्ञान सविकल्प है, दर्शनके समान निर्विकल्प नहीं है, अर्थात् ज्ञान ज्ञेयके आकार आदिको विकल्प करता है, कि यह छोटा है, वड़ा है, टेढ़ा है, सीधा है, ऊंचा है, नीचा है, गोल है, त्रिकोण है, मीठा है, कड़ुवा है, साधक है, बाधक है, हेय है, उपादेय है इत्यादि। परन्तु ज्ञान ज्ञानही रहता है, ज्ञेयका ज्ञायक होनेसे वा ज्ञेयाकार परिणमनेसे ज्ञेयरूप नहीं होता, परन्तु ज्ञानमें ज्ञेयकी आकृति प्रतिविम्बित होनेसे वा उसमें आकार आदिका विकल्प होनेसे अज्ञानी लोग ज्ञानका दोष समझते हैं, और कहते हैं, कि जब यह ज्ञानकी सविकल्पता मिट जावेगी—अर्थात् आत्मा शून्य जड़सा हो जावेगा, तब ज्ञान निर्दोष होगा, परंतु 'वस्तुस्वभाव मिटै नहि क्योंही' की नीतिसे उनका विचार मिथ्या है। बहुधा देखा गया है कि हम कुछ न कुछ चिंतवन किया ही करते हैं, उससे खेदखिन्न हुआ करते हैं और चाहते हैं कि यह चिंतवन न हुआ करे। इसके लिये हमारा अनुभव यह है कि चेतयिता चेतन तो चेतता ही रहता है, चेतता था, और चेतता रहेगा, उसका चेतना स्वभाव मिट नहीं सकता। 'तातैं खेद करैं सठ योंही' की नीतिसे खिन्नता प्रतीति होती है, अतः चिंतवन, धर्मध्यान और मंदकषायरूप होना चाहिये, ऐसा करनेसे बड़ी शान्ति मिलती है, तथा स्वभावका स्वाद मिलनेसे सांसारिक संताप नहीं सता सकते, इसलिये सदा सावधान रहकर इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, परिग्रह-संग्रह आदिको अत्यन्त गौण करके निर्भय, निराकुल, निगम, निरभेद आत्माके अनुभवका अभ्यास करना चाहिए।

* * *

स्याद्वाद द्वार

(११)

स्वामीअमृतचंद्र मुनिकी प्रतिज्ञा (चौपाई)

अदभुत ग्रंथ अध्यातम वानी ।
समुझै कोऊ विरला ग्यानी ॥
यामैं स्यादवाद अधिकारा ।
ताकौ जो कीजै बिसतारा ॥ १ ॥

तो गरंथ अति सोभा पावै ।
वह मंदिर यहु कलस कहावै ॥
तब चित अम्रत वचन गढ़ि खोले ।
अम्रतचंद्र आचारज बोले ॥ २ ॥

शब्दार्थः—अदभुत = अथाह । विरला = कोई कोई । गढ़ि = रचकर ।

अर्थः—यह अध्यात्म-कथनका गहन ग्रन्थ है, इसे कोई विरला ही मनुष्य समझ सकता है। यदि इसमें स्याद्वाद अधिकार बढ़ाया जावे तो यह ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर हो जावे, अर्थात् यदि कुंदकुंदस्वामीरचित ग्रन्थकी रचना मंदिरवत् है, तो उसपर स्याद्वादका कथन कलशाके समान सुशोभित होगा। ऐसा विचार कर अमृत-वचनोंकी रचना करके स्वामीअमृतचंद्र कहते हैं॥ १ ॥ २ ॥

पुनः (दोहा)

कुंदकुंद नाटक विषै, कह्यो दरब अधिकार ।
स्यादवाद नै साधि मैं, कहौं अवस्था द्वार ॥ ३ ॥
कहौं मुकति-पदकी कथा, कहौं मुकतिको पंथ ।
जैसैं घृत कारज जहां, तहां कारन दधि मंथ ॥ ४ ॥

अर्थः—स्वामीकुन्दकुन्दाचार्यने नाटकग्रन्थमें जीव-अजीव द्रव्योंका स्वरूप वर्णन किया है, अब मैं स्याद्वाद, नय और साध्य-साधक अधिकार कहता हूँ ॥ ३ ॥ साध्यस्वरूप मोक्षपद और साधकस्वरूप मोक्षमार्गका कथन करता हूँ, जिस प्रकार कि घृतरूप पदार्थकी प्राप्तिके हेतु दधि-मंथन कारण है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार दधिमंथनरूप कारण मिलनेसे घृत पदार्थकी प्राप्तिरूप कार्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग ग्रहण करनेसे मोक्षपदार्थकी प्राप्ति होती है। मोक्षमार्ग कारण है और मोक्षपदार्थ कार्य है। कारणके विना कार्यकी सिद्धि नहीं होती, इससे कारणस्वरूप मोक्षमार्ग और कार्यस्वरूप मोक्ष दोनोंका वर्णन किया जाता है।

(चौपाई)

अमृतचंद्र बोले मृदुवानी ।
स्यादवादकी सुनौ कहानी ॥
कोऊ कहै जीव जग मांही ।
कोऊ कहै जीव है नांही ॥ ५ ॥

(दोहा)

एकरूप कोऊ कहै, कोऊ अगनित अंग ।
छिनभंगुर कोऊ कहै, कोऊ कहै अभंग ॥ ६ ॥
नै अनंत इहबिधि कही, मिलै न काहू कोइ ।
जो सब नै साधन करै, स्यादवाद है सोई ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—कहानी = कथन । अगनित अंग = अनेक रूप । छिनभंगुर = अनित्य । अभंग = नित्य ।

अर्थः—स्वामीअमृतचन्द्रने मृदुवचनोंमें कहा, कि स्याद्वादका कथन सुनो; कोई कहता है कि संसारमें जीव है, कोई कहता है कि जीव नहीं है ॥ ५ ॥ कोई जीवको एकरूप और कोई अनेकरूप कहता है, कोई जीवको अनित्य और कोई

नित्य कहता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार अनेक नय हैं कोई किसीसे नहीं मिलते, परस्पर विरुद्ध हैं, और जो सब नयोंको साधता है वह स्याद्वाद है ॥ ७ ॥

विशेषः—कोई जीव पदार्थको अस्तिस्वरूप और कोई जीव पदार्थको नास्तिस्वरूप कहते हैं। अद्वैतवादी जीवको एक ब्रह्मरूप कहते हैं, नैयायिक जीवको अनेकरूप कहते हैं, बौद्धमतवाले जीवको अनित्य कहते हैं, सांख्यमतवाले शाश्वत अर्थात् नित्य कहते हैं। और यह सब परस्पर विरुद्ध हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते, पर स्याद्वादी सब नयोंको अविरुद्ध साधता है।

स्याद्वाद संसारसागरसे तारनेवाला है (दोहा)

स्यादवाद अधिकार अब, कहौं जैनकौ मूल ।
जाके जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—मूल = मुख्य । जगत जन = संसारके मनुष्य । कूल = किनारा ।

अर्थः—जैनमतका मूल सिद्धान्त 'स्याद्वाद अधिकार' कहता हूँ, जिसका ज्ञान होनेसे जगतके मनुष्य संसार-सागरसे पार होते हैं ॥ ८ ॥

नय समूहपर शिष्यकी शंका और गुरुका समाधान (सवैया इकतीसा)

शिष्य कहै स्वामी जीव स्वाधीन कि पराधीन,
जीव एक है किधौं अनेक मानि लीजिए ।
जीव है सदीव किधौं नांही है जगत मांहि,
जीव अविनस्वर कि नस्वर कहीजिए ॥
सतगुरु कहै जीव है सदीव निजाधीन,
एक अविनस्वर दरव-द्रिष्टि दीजिए ।

अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥ १ ॥

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।
यत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥ २ ॥

जीव पराधीन छिनभंगुर अनेक रूप,
नांही जहां तहां परजै प्रवांन कीजिए॥ ९॥

शब्दार्थः—अविनश्वर = नित्य। नश्वर = अनित्य। निजाधीन = अपने आधीन। पराधीन = दूसरेके आधीन। नांही = नष्ट होनेवाला[1]।

अर्थः—शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! जगतमें जीव स्वाधीन है कि पराधीन? जीव एक है अथवा अनेक? जीव सदाकाल है अथवा कभी जगतमें नहीं रहता है? जीव अविनाशी है अथवा नाशवान् है? श्रीगुरु कहते हैं कि द्रव्यदृष्टिसे देखो तो जीव सदाकाल है, स्वाधीन है, एक है, और अविनाशी है। पर्यायदृष्टिसे पराधीन, क्षणभंगुर, अनेकरूप और नाशवान् है, सो जहाँ जिस अपेक्षासे कहा गया है उसे प्रमाण करना चाहिये।

विशेषः—जब जीवकी कर्मरहित शुद्ध अवस्थापर दृष्टि डाली जाती है तब वह स्वाधीन है, जब उसकी कर्माधीन दशापर ध्यान दिया जाता है, तब वह पराधीन है। लक्षणकी दृष्टिसे सब जीवद्रव्य एक हैं, संख्याकी दृष्टिसे अनेक हैं। जीव था, जीव है, जीव रहेगा, इस दृष्टिसे जीव सदाकाल है, जीव गतिसे गत्यान्तरमें जाता है, इसलिये एक गतिमें सदाकाल नहीं है। जीव पदार्थ कभी नष्ट नहीं हो जाता, इसलिये वह अविनाशी है, क्षण-क्षणमें परिणमन करता है इसलिये वह अनित्य है॥ ९॥

पदार्थ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। (सवैया इकतीसा)

दर्व खेत काल भाव च्यारौं भेद वस्तुहीमैं,
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानियै।
परके चतुष्क वस्तु नासति नियत अंग,
ताकौ भेद दर्व-परजाइ मध्य जानियै॥
दरव तौ वस्तु खेत सत्ताभूमि काल चाल,
स्वभाव सहज मूल सकति बखानियै।

---

[1] यहाँ 'नांही' से नाशवानका अभिप्राय है।

याही भांति पर विकलप बुद्धि कलपना,
विवहारद्रिष्टि अंस भेद परवांनियै ॥ १० ॥

शब्दार्थः—चतुष्क = चार—द्रव्य क्षेत्र काल भाव। अस्ति = है। नासति = नहीं है। नियत = निश्चय। परजाइ = अवस्था। सत्ताभूमि = क्षेत्रावगाह।

अर्थः—द्रव्य क्षेत्र काल भाव ये चारों वस्तुहीमें हैं, इसलिये अपने चतुष्क अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे वस्तु अस्तिस्वरूप है, और परचतुष्क अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है। इस प्रकार निश्चयसे द्रव्य अस्ति—नास्तिरूप है। उनका भेद द्रव्य और पर्यायमें जाना जाता है। वस्तुको द्रव्य, सत्ताभूमिको क्षेत्र, वस्तुके परिणमनको काल और वस्तुके मूल स्वभावको भाव कहते हैं। इस प्रकार बुद्धिसे स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी कल्पना करना सो व्यवहार नयका भेद है।

विशेषः—गुण—पर्यायोंके समूहको वस्तु कहते हैं, इसीका नाम द्रव्य है। पदार्थ आकाशके जिन प्रदेशोंको रोककर रहता है, अथवा जिन प्रदेशोंमें पदार्थ रहता है, उस सत्ताभूमिको क्षेत्र कहते हैं। पदार्थके परिणमन अर्थात् पर्यायसे पर्यायान्तररूप होनेको काल कहते हैं। और पदार्थके निजस्वभावको भाव कहते हैं। यही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पदार्थका चतुष्क अथवा चतुष्टय कहलाता है, यह पदार्थका चतुष्टय सदा पदार्थहीमें रहता है, उससे पृथक् नहीं होता। जैसे—घटमें स्पर्श रस वा रुक्ष कठोर रक्त आदि गुण—पर्यायोंका समुदाय द्रव्य है, जिन आकाशके प्रदेशोंमें घट स्थित है वा घटके प्रदेश उसका क्षेत्र है, घटके गुण—पर्यायोंका परिवर्तन उसका काल है, घटकी जलधारणा शक्ति उसका भाव है। इसी प्रकार पट भी एक पदार्थ है, घटके समान पटमें भी द्रव्य क्षेत्र काल भाव हैं। घटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव घटमें है, पटमें नहीं; इसलिये घट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तिरूप है और पटके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है। इसी प्रकार पटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव पटमें है, इसलिये पट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तिरूप है, पटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव घटमें नहीं है, इसलिये पट, घटके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है॥ १० ॥

स्याद्वादके सप्त भंग (दोहा)

है नांही नांही सु है, है है नांही नांहि ।
यह सरवंगी नय धनी, सब मानै सबमांहि ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—है = अस्ति । नांही = नास्ति । है नांही = अस्ति-नास्ति । नांही सु है = अवक्तव्य ।

अर्थः—अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति नास्ति अवक्तव्य । ऐसे सात भंग होते हैं, सो इन्हें सर्वांग नयका स्वामी स्याद्वाद सर्व वस्तुमें मानता है ।

विशेषः—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस अपने चतुष्टयकी अपेक्षा तो द्रव्य अस्तिस्वरूप है अर्थात् आपसा है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव, इस परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नास्तिस्वरूप है, अर्थात् परसदृश नहीं है । उपर्युक्त स्वचतुष्टय परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य क्रमसे तीन कालमें अपने भावोंकर अस्ति-नास्तिस्वरूप है अर्थात् आपसा है—परसदृश नहीं है । और स्वचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य एकही काल वचनगोचर नहीं है, इस कारण अवक्तव्य है अर्थात् कहनेमें नहीं आता । और वही स्वचतुष्टयकी अपेक्षा और एकही काल स्व-पर चतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्य अस्तिस्वरूप है तथापि अवक्तव्य है । और वही द्रव्य परचतुष्टयकी अपेक्षा और एक ही काल स्व-पर चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप है, तथापि कहा जाता नहीं । और वही द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा और परचतुष्टयकी अपेक्षा और एकही वार स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति-नास्तिस्वरूप है, तथापि अवक्तव्य है । जैसे कि—एक ही पुरुष पुत्रकी अपेक्षा पिता कहलाता है, और वही पुरुष अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहलाता है, और वही पुरुष मामाकी अपेक्षा भानजा कहलाता है, और भानजेकी अपेक्षा मामा कहलाता है, स्त्रीकी अपेक्षा पति कहलाता है, बहिनकी अपेक्षा भाई भी कहलाता है, तथा वही पुरुष अपने बैरीकी अपेक्षा शत्रु कहलाता है, और इष्टकी अपेक्षा मित्र भी कहलाता है । इत्यादि अनेक नातोंसे एक ही पुरुष कथंचित् अनेक प्रकार कहा जाता है, उसी प्रकार एक द्रव्य सप्त भंगके द्वारा साधा जाता है । इन सप्त भंगोंका विशेष स्वरूप सप्तभंगीतरंगिणी आदि अन्यान्य जैनशास्त्रोंसे समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एकान्तवादियोंके चौदह नय-भेद (सवैया इकतीसा)

ग्यानकौ कारन ज्ञेय आतमा त्रिलोकमय,
ज्ञेयसौं अनेक ग्यान मेल ज्ञेय छांही है ।
जौलौं ज्ञेय तौलौं ग्यान सर्व दर्वमैं विग्यान,
ज्ञेय क्षेत्र मान ग्यान जीव वस्तु नांही है ॥
देह नसै जीव नसै देह उपजत लसै,
आतमा अचेतना है सत्ता अंस मांही है ।
जीव छिनभंगुर अग्यायक सहजरूपी[1] ग्यान,
ऐसी ऐसी एकान्त अवस्था मूढ पांही है ॥ १२ ॥

अर्थः—(१) ज्ञेय, (२) त्रैलोक्यमय, (३) अनेकज्ञान, (४) ज्ञेयका प्रतिबिम्ब, (५) ज्ञेय काल, (६) द्रव्यमय ज्ञान, (७) क्षेत्रयुत ज्ञान, (८) जीव नास्ति, (९) जीव विनाश, (१०) जीव उत्पाद, (११) आत्मा अचेतन, (१२) सत्ता अंश (१३) क्षणभंगुर और (१४) अज्ञायक । ऐसे चौदह नय हैं । सो जो कोई एक नयको ग्रहण करे और शेषको छोड़े, वह एकान्ती मिथ्यादृष्टी है ।

(१) ज्ञेय—एक पक्ष यह है कि ज्ञानके लिये ज्ञेय कारण है ।

(२) त्रैलोक्य प्रमाण—एक पक्ष यह है कि आत्मा तीन लोकके बरावर है ।

(३) अनेक ज्ञान—एक पक्ष यह है कि ज्ञेयमें अनेकता होनेसे ज्ञेय भी अनेक हैं ।

(४) ज्ञेयका प्रतिबिम्ब—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमें ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं ।

(५) ज्ञेय काल—एक पक्ष यह है कि जब तक ज्ञेय है तब तक ज्ञान है, ज्ञेयका नाश होनेसे ज्ञानका भी नाश है ।

---

[1] 'सुरूपी ज्ञान' ऐसा भी पाठ है ।

(६) द्रव्यमय ज्ञान—एक पक्ष यह है कि सब द्रव्य ब्रह्मसे अभिन्न हैं, इससे सब पदार्थ ज्ञानरूप हैं।

(७) क्षेत्रयुत ज्ञान—एक पक्ष यह है कि ज्ञेयके क्षेत्रके बराबर ज्ञान है इससे. बाहर नहीं है।

(८) जीवनास्ति—एक पक्ष यह है कि जीवपदार्थका अस्तित्व ही नहीं है।

(९) जीव विनाश—एक पक्ष यह है कि देहका नाश होते ही जीवका नाश हो जाता है।

(१०) जीव उत्पाद—एक पक्ष यह है कि शरीरकी उत्पत्ति होनेपर जीवकी उत्पत्ति होती है।

(११) आत्मा अचेतन—एक पक्ष यह है कि आत्मा अचेतन है, क्योंकि ज्ञान अचेतन है।

(१२) सत्ता अंश—एक पक्ष यह है कि आत्मा सत्ताका अंश है।

(१३) क्षणभंगुर—एक पक्ष यह है कि जीवका सदा परिणमन होता है, इससे क्षणभंगुर है।

(१४) अज्ञायक—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमें जाननेकी शक्ति नहीं है, इससे अज्ञायक है॥ १२॥

प्रथम पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ मूढ़ कहै जैसैं प्रथम सवांरी भींति,
पाछैं ताकै ऊपर सुचित्र आछ्यौ लेखिए।
तैसैं मूल कारन प्रगट घट पट जैसौ,
तैसौ तहां ग्यानरूप कारज विसेखिए॥
ग्यानी कहै जैसी वस्तु तैसौ ही सुभाव ताकौ,
तातैं ग्यान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए।

कारन कारज दोऊ एकहीमैं निहचै पै,
तेरौ मत साचौ विवहारदृष्टि देखिए ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—भींति = दीवाल। आछौ = उत्तम। मूल कारन = मुख्य कारण। कारज = कार्य। निहचै = निश्चयनयसे।

अर्थः—कोई अज्ञानी (मीमांसक आदि) कहते हैं कि पहले दीवाल साफ करके पीछे उसपर चित्रकारी करनेसे चित्र अच्छा आता है, और यदि दीवाल खराब हो तो चित्र भी खराब उघड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानके मूल कारण घट-पट आदि ज्ञेय जैसे होते हैं, वैसा ही ज्ञानरूप कार्य होता है, इससे स्पष्ट है कि ज्ञानका कारण ज्ञेय है। इसपर स्याद्वादी ज्ञानी संबोधन करते हैं कि जो जैसा पदार्थ होता है, वैसा ही उसका स्वभाव होता है, इससे ज्ञान और ज्ञेय भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। निश्चयनयसे कारण और कार्य दोनों एक ही पदार्थमें हैं, इससे तेरा जो मन्तव्य है वह व्यवहारनयसे सत्य है॥ १३॥

द्वितीय पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक व्यापि ग्यान मानि,
समुझै त्रिलोक पिंड आतम दरब है।
याहीतें सुछंद भयौ डोलै मुखहू न बोलै,
कहै या जगतमैं हमारोई परब है॥
तासौं ग्याता कहै जीव जगतसौं भिन्न पै,
जगतकौ विकासी तौही याहीतें गरब है।
जो वस्तु सो वस्तु पररूपसौं निराली सदा,
निहचै प्रमान स्यादवादमैं सरब है॥ १४॥

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
विंश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥ ३॥

शब्दार्थः—लोक = जहाँ छह द्रव्य पाये जाँय। अलोक = लोकसे बाहरका क्षेत्र। सुछंद = स्वतंत्र। गरब = अभिमान।

अर्थः—कोई अज्ञानी (नैयायिक आदि) ज्ञानको लोकालोक व्यापी जानकर आत्म-पदार्थको त्रैलोक्य-प्रमाण समझ बैठे हैं, इसलिये अपनेको सर्वव्यापी समझकर स्वतंत्र वर्तते हैं, और अभिमानमें मस्त होकर दूसरोंको मूर्ख समझते हैं, किसीसे बात भी नहीं करते और कहते हैं कि संसारमें हमारा ही सिद्धान्त सच्चा है। उनसे स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि जीव जगतसे जुदा है, परन्तु उसका ज्ञान त्रैलोक्यमें प्रसारित होता है इससे तुझे ईश्वरपनेका अभिमान है, परन्तु पदार्थ अपने सिवाय अन्य पदार्थोंसे सदा निराला रहता है, सो निश्चयनयसे स्याद्वादमें सब गर्भित है॥ १४॥

तृतीय पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ पसु ग्यानकी अनंत विचित्राई देखै,
ज्ञेयकै अकार नानारूप विसतर्‌यौ है।
ताहीको विचारि कहै ग्यानकी अनेक सत्ता,
गहिकै एकंत पच्छ लोकनिसौं लर्‌यौ है॥
ताकौ भ्रम भंजिवेकौ ग्यानवंत कहै ग्यान,
अगम अगाध निराबाध रस भर्‌यौ है।
ज्ञायक सुभाइ परजायसौं अनेक भयौ,
जद्यपि तथापि एकतासौं नहिं टर्‌यौ है॥ १५॥

शब्दार्थः—पसु = मूर्ख। विसतर्‌यौ = फैला। लर्‌यौ = झगड़ता है। भंजिवेकौ = नष्ट करनेके लिये।

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसद्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटयन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदा व्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित्॥ ४॥

अर्थः—अनन्त ज्ञेयके आकाररूप परिणमन करनेसे ज्ञानमें अनेक विचित्रताएँ दिखती हैं, उन्हें विचारकर कोई कोई पशुवत् अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान अनेक हैं, और इसका एकान्त पक्ष ग्रहण करके लोगोंसे झगड़ते हैं। उनके अज्ञान हटानेके लिये स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान अगम्य, गंभीर, और निराबाध रससे परिपूर्ण है। उसका ज्ञायकस्वभाव है, सो वह यद्यपि पर्यायदृष्टिसे अनेक है, तौ भी द्रव्यदृष्टिसे एक ही है॥ १५॥

चतुर्थ पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ कुधी कहै ग्यान मांहि ज्ञेयकौ अकार,
प्रतिभासि रह्यौ है कलंक ताहि धोइयै ।
जब ध्यान जलसौं पखारिकै धवल कीजै,
तब निराकार सुद्ध ग्यानमय होइयै॥
तासौं स्यादवादी कहै ग्यानकौ सुभाउ यहै,
ज्ञेयकौ अकार वस्तु मांहि कहां खोइयै ।
जैसे नानारूप प्रतिबिंबकी झलक दीखै,
जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइयै॥ १६॥

शब्दार्थः—कुधी = मूर्ख । प्रतिभासि = झलकना । कलंक = दोष । पखारिकै = धोकरके । धवल = उज्ज्वल । आरसी = दर्पण । जोइयै = देखिये ।

अर्थः—कोई अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयका आकार झलकता है, यह ज्ञानका दोष है, जब ध्यानरूप जलसे ज्ञानका यह दोष धोकर साफ किया जावे तब शुद्ध ज्ञान निराकार होता है। उससे स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानका ऐसा ही स्वभाव है, ज्ञेयका आकार जो ज्ञानमें झलकता है, वह कहाँ भगा

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन्पश्यत्यनेकान्तवित्॥ ५॥

दिया जावे ? जिस प्रकार दर्पणमें यद्यपि अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, तो भी दर्पण ज्योंका त्यों स्वच्छ ही वना रहता है, उसमें कुछ भी विकार नहीं होता ॥ १६ ॥

पंचम पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार ग्यान परिनाम,
जौलौं विद्यमान तौलौं ग्यान परगट है ।
ज्ञेयके विनास होत ग्यानकौ विनास होइ,
ऐसी वाकै हिरदै मिथ्यातकी अलट है ॥
तासौं समकितवंत कहै अनुभौ कहानि,
पर्जय प्रवांन ग्यान नानाकार नट है ।
निरविकलप अविनस्वर दरबरूप,
ग्यान ज्ञेय वस्तुसौं अव्यापक अघट है ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—अज्ञ = अज्ञानी । विद्यमान = मौजूद । कहानि = कथा । पर्जय प्रवांन = पर्यायके बराबर । नानाकार = अनेक आकृति । अव्यापक = एकमेक नहीं होने वाला । अघट = नहीं घटती अर्थात् नहीं बैठती ।

अर्थः—कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानका परिणमन ज्ञेयके आकार होता है, सो जब तक ज्ञेय विद्यमान रहता है तब तक ज्ञान प्रगट रहता है, और ज्ञेयके विनाश होते ही ज्ञान नष्ट हो जाता है, इस प्रकार उसके हृदयमें मिथ्यात्वका दुराग्रह है। उससे भेदविज्ञानी अनुभवकी बात कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही नट अनेक स्वांग बनाता है, उसीप्रकार एक ही ज्ञान पर्यायोंके अनुसार अनेक रूप धारण करता है। वास्तवमें ज्ञान निर्विकल्प और नित्य पदार्थ है, वह ज्ञेयमें प्रवेश नहीं करता, इसलिये ज्ञान और ज्ञेयकी एकता नहीं घटती ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ ६ ॥

छट्ठे पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ मंद कहै धर्म अधर्म आकास काल,
पुदगल जीव सब मेरो रूप जगमैं।
जानै न मरम निज मानै आपा पर वस्तु,
बांधै द्रिढ़ करम धरम खोवै डगमैं॥
समकिती जीव सुद्ध अनुभौ अभ्यासै तातैं,
परकौ ममत्व त्याग करै पग पगमैं।
अपने सुभावमैं मगन रहै आठौं जाम,
धारावाही पंथक कहावै मोख मगमैं॥ १८॥

शब्दार्थः—द्रिढ़ = पक्के। धरम = पदार्थका निजस्वभाव। डग = कदम। जाम = पहर। आठौं जाम = हमेशा। पंथक = मुसाफिर।

अर्थः—कोई ब्रह्म अद्वैतवादी मूर्ख कहते हैं कि धर्म–अधर्म–आकाश–काल–पुद्गल और जीव यह सर्व जगत ही मेरा स्वरूप है, अर्थात् सब द्रव्यमय ब्रह्म है, वे अपना निजस्वरूप नहीं जानते और पर-पदार्थोंको निज आत्मा मानते हैं, इससे वे समय समयपर कर्मोंका दृढ़ बन्ध करके अपने स्वरूपको मलिन करते हैं। पर सम्यग्ज्ञानी जीव शुद्ध आत्म-अनुभव करते हैं, इससे क्षण-क्षणमें पर पदार्थोंसे ममत्वभाव हटाते हैं, और मोक्षमार्गके धाराप्रवाही पथिक कहाते हैं॥ १८॥

सप्तम पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप परवांन,
तेतौ ग्यान तातैं कहूं अधिक न और है।

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥ ७॥

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्॥ ८॥

तिहूं काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै,
आपा न पिछानै ऐसी मिथ्यादृग दौर है॥
जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान,
ज्ञेयसौं अव्यापक जगत सिरमौर है।
ग्यानकी प्रभामैं प्रतिबिंबित विविध ज्ञेय,
जदपि तथापि थिति न्यारी न्यारी ठौर है॥ १९॥

शब्दार्थः—दौर = भटकना। सिरमौर = प्रधान। थिति = स्थिति।

अर्थः—कोई मूर्ख कहते हैं कि जितना छोटा या बड़ा ज्ञेयका स्वरूप होता है, उतना ही ज्ञान होता है, उससे अधिक-कम नहीं होता, इस प्रकार वे सदैव ज्ञानको परक्षेत्रव्यापी और ज्ञेयसे तन्मय मानते हैं, इससे कहना चाहिये कि वे आत्माका स्वरूप नहीं समझ सके, सो मिथ्यात्वकी ऐसी ही गति है। उनसे स्याद्वादी जैनी कहते हैं कि ज्ञान आत्म-सत्ताके बराबर है, वह घट-पटादि ज्ञेयसे तन्मय नहीं होता, ज्ञान जगतका चूडामणि है, उसकी प्रभामें यद्यपि अनेक ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं तो भी दोनोंकी सत्ताभूमि जुदी-जुदी है॥ १९॥

अष्टम पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ सुंनवादी कहै ज्ञेयके विनास होत,
ग्यानकौ विनास होइ कहौ कैसे जीजिये।
तातैं जीवतव्यताकी थिरता निमित्त सब,
ज्ञेयाकार परिनामनिकौ नास कीजिये॥
सत्यवादी कहै भैया हूजे नांहि खेद खिन्न,
ज्ञेयसौ विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिये।

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्॥
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥ ९॥

ग्यानकी सकति साधि अनुभौ दसा अराधि,
करमकौं त्यागिकै परम रस पीजिये ॥ २० ॥

शब्दार्थः—जीजिये = जीना होगा। खेद खिन्न = दुखी। विरचि = विरक्त होकर। अराधि = आराधना करके। सत्यवादी = पदार्थका यथार्थ स्वरूप कथन करनेवाला।

अर्थः—कोई कोई शून्यवादी अर्थात् नास्तिक कहते हैं, ज्ञेयका नाश होनेसे ज्ञानका नाश होना सम्भव है, और ज्ञान जीवका स्वरूप है, इसलिये ज्ञानका नाश होनेसे जीवका नाश होना स्पष्ट है, तो फिर ऐसी दशामें क्योंकर जीवन रह सकता है अतः जीवकी नित्यताके लिये ज्ञानमें ज्ञेयाकार परिणमनका अभाव मानना चाहिये। इसपर सत्यवादी ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तुम व्याकुल मत होओ, ज्ञेयसे उदासीन होकर ज्ञानको उससे पृथक् मानो, तथा ज्ञानकी ज्ञायक शक्ति सिद्ध करके अनुभवका अभ्यास करो और कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दमय अमृतरसका पान करो ॥ २० ॥

नववें पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिंड,
जब देह नसैगी तबही जीव मरैगौ।
छायाकौसौ छल किधौं मायाकौसौ परपंच,
कायामैं समाइ फिरि कायाकौ न धरैगौ॥
सुधी कहै देहसौं अव्यापक सदीव जीव,
समै पाइ परकौ ममत्व परिहरैगौ।
अपने सुभाई आइ धारना धरामैं धाइ,
आपमैं मगन ह्वैकै आप सुद्ध करैगौ ॥ २१ ॥

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥ १० ॥

शब्दार्थः—क्रूर = मूर्ख। परपंच = ठगाई। सुधी = सम्यग्ज्ञानी। परिहरैगौ = छोड़ेगा। धरा = धरती।

अर्थः—कोई कोई मूर्ख चार्वाक कहते हैं कि शरीर और जीव दोनोंका एक पिण्ड है, सो जब शरीर नष्ट होगा तब जीव भी नष्ट हो जायगा; जिस प्रकार वृक्षके नष्ट होनेसे छाया नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शरीरके नाश होनेसे जीव भी नाश हो जायगा। यह इन्द्रजालियाकी मायाके समान कौतुक बन रहा है, सो जीवात्मा दीपककी लौ (ज्योत)के प्रकाशके समान शरीरमें समा जायगा, फिर शरीर धारण नहीं करेगा। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि जीव पदार्थ शरीरसे सदैव भिन्न है, सो काललब्धि पाकर परपदार्थोंसे ममत्व छोड़ेगा, और अपने स्वरूपको प्राप्त होकर निजात्मभूमिमें विश्राम करके उसीमें लीन होकर अपनेको आपही शुद्ध करेगा ॥ २१ ॥

पुनः (दोहा)

ज्यौं तन कंचुक त्यागसौं, विनसै नांहि भुजंग।
त्यौं सरीरके नासतैं, अलख अखंडित अंग ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—कंचुक = काँचली। भुजंग = साँप। अखंडित = अविनाशी।

अर्थः—जिस प्रकार काँचलीके छोड़नेसे सर्प नष्ट नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीरका नाश होनेसे जीव पदार्थ नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

दसवें पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ दुरबुद्धी कहै पहले न हुतौ जीव,
देह उपजत अब उपज्यौ है आइकै।

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥ ११ ॥

जौलौं देह तौलौं देहधारी फिर देह नसै,
रहैगौ अलख जोति जोतिमैं समाइकै॥
सद्बुद्धी कहै जीव अनादिकौ देहधारी,
जब ग्यानी होइगौ कबहूं काल पाइकै।
तबहीसौं पर तजि अपनौ सरूप भजि,
पावैगौ परमपद करम नसाइकै॥ २३॥

अर्थः—कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि पहले जब नहीं था, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वमय शरीरके उत्पन्न होनेपर ज्ञानशक्तिरूप जीव उपजता है, जबतक शरीर रहता है तबतक जीव रहता है, और शरीरके नाश होनेपर जीवात्माकी ज्योतिमें ज्योति समा जाती है। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि जीव पदार्थ अनादि कालसे देह धारण किये हुए है, नवीन नहीं उपजता, और न देहके नष्ट होनेसे वह नष्ट होता है, कभी अवसर पाकर जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त करेगा, तब परपदार्थोंसे अहंबुद्धि छोड़कर आत्मस्वरूपको ग्रहण करेगा और अष्ट कर्मोंका विध्वंस करके निर्वाणपद पावेगा॥ २३॥

ग्यारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन (सवैया इकतीसा)

कोऊ पक्षपाती जीव कहै ज्ञेयकै अकार,
परिनयौ ग्यान तात चेतना असत है।
ज्ञेयके नसत चेतनाकौ नास ता कारन,
आतमा अचेतन त्रिकाल मेरे मत है॥
पंडित कहत ग्यान सहज अखंडित है,
ज्ञेयकौ आकार धरै ज्ञेयसौं विरत है।

विभ्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः॥ १२॥

चेतनाकौ नास होत सत्ताकौ विनास होइ,
यातैं ग्यान चेतना प्रवांन जीव तत है ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—पक्षपाती = हठग्राही। असत = सत्ता रहित। सहज = स्वाभाविक। विरत = विरक्त। तत = तत्त्व।

अर्थः—कोई कोई हठग्राही कहते हैं कि ज्ञेयके आकार ज्ञानका परिणमन होता है, और आकार परिणमन असत् है, इससे चेतनाका अभाव हुआ, ज्ञेयके नाश होनेसे चेतनाका नाश है, इसलिये मेरे सिद्धान्तमें आत्मा सदा अचेतन है। इसपर स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान स्वभावसे ही अविनाशी, है वह ज्ञेयाकार परिणमन करता है, परन्तु ज्ञेयसे भिन्न है, यदि ज्ञान-चेतनाका नाश मानोगे तो आत्मसत्ताका नाश हो जायेगा, इससे जीव तत्त्वको ज्ञानचेतनायुक्त मानना सम्यग्ज्ञान है ॥ २४ ॥

बारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन (सवैया इकतीसा)

कोऊ महामूरख कहत एक पिंड मांहि,
जहांलौं अचित चित अंग लहलहै है।
जोगरूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप,
जेते भेद करमके तेते जीव कहै है॥
मतिमान कहै एक पिंड मांहि एक जीव,
ताहीके अनंत भाव अंस फैलि रहै है।
पुग्गलसौं भिन्न कर्म जोगसौं अखिन्न सदा,
उपजै विनसै थिरता सुभाव गहै है ॥ २५ ॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—अचित = अचेतन—जड़। चित = चेतन। मतिमान = बुद्धिमान—सम्यग्ज्ञानी।

अर्थः—कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि एक शरीरमें जबतक चेतन अचेतन पदार्थोंके तरंग उठते हैं, तबतक जो जोगरूप परिणमें वह जोगी जीव और जो भोगरूप परिणमें वह भोगी जीव है, ऐसे ज्ञेयरूप क्रियाके जितने भेद होते हैं जीवके उतने भेद एक देहमें उपजते हैं, इसलिये आत्मसत्ताके अनंत अंश होते हैं। उनसे सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि एक शरीरमें एकही जीव है, उसके ज्ञानगुणके परिणमनसे अनंत भावरूप अंश प्रगट होते हैं। यह जीव शरीरसे पृथक् है, कर्म-संयोगसे रहित है और सदा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यगुणसम्पन्न है ॥ २५ ॥

तेरहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन (सवैया इकतीसा)

कौऊ एक छिनवादी कहै एक पिंड मांहि,
एक जीव उपजत एक विनसत है।
जाही समै अंतर नवीन उतपति होइ,
ताही समै प्रथम पुरातन बसत है॥
सरवांगवादी कहै जैसै जल वस्तु एक,
सोई जल विविध तरंगनि लसत है।
तैसै एक आतम दरब गुन परजैसौं,
अनेक भयौ पै एकरूप दरसत है॥ २६ ॥

शब्दार्थः—सरवांगवादी = अनेकान्तवादी। तरंगनि = लहरों।

अर्थः—कोई कोई क्षणिकवादी-बौद्ध कहते हैं कि एक शरीरमें एक जीव उपजता और एक नष्ट होता है, जिस क्षणमें नवीन जीव उत्पन्न होता है उसके पूर्व समयमें प्राचीन जीव था। उनसे स्याद्वादी कहते हैं कि जिस प्रकार पानी

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ॥ १४ ॥

एक पदार्थ है वही अनेक लहरोंरूप होता है, उसी प्रकार आत्मद्रव्य अपने गुण-पर्यायोंसे अनेकरूप होता है, पर निश्चयनयसे एकरूप दिखता है ॥ २६ ॥

चौदहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन (सवैया इकतीसा)

कोऊ बालबुद्धी कहै ग्यायक सकति जौलौं,
तौलौं ग्यान असुद्ध जगत मध्य जानियै ।
ज्ञायक सकति काल पाइ मिटि जाइ जब,
तब अविरोध बोध विमल बखानियै ॥
परम प्रवीन कहै ऐसी तौ न बनै बात,
जैसैं बिन परगास सूरज न मानियै ।
तैसैं बिन ग्यायक सकति न कहावै ग्यान,
यह तौ न परोच्छ परतच्छ परवांनियै ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—बालबुद्धी = अज्ञानी । परम प्रवीन = सम्यग्ज्ञानी । परगास (प्रकाश) = उजेला । परतच्छ = साक्षात् ।

अर्थः—कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि जबतक ज्ञानमें ज्ञायकशक्ति है, तबतक वह ज्ञान संसारमें अशुद्ध कहलाता है, भाव यह है कि ज्ञायकशक्ति ज्ञानका दोष है, और जब समय पाकर ज्ञायकशक्ति नष्ट हो जाती है, तब ज्ञान निर्विकल्प और निर्मल हो जाता है। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि यह बात अनुभवमें नहीं आती, क्योंकि जिस प्रकार बिना प्रकाशके सूर्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना ज्ञायकशक्तिके ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है ॥ २७ ॥

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥ १५ ॥

स्याद्वादकी प्रशंसा (दोहा)

इहि विधि आतम ग्यान हित, स्यादवाद परवांन।
जाके वचन विचारसौं, मूरख होइ सुजान॥ २८॥

स्यादवाद आतम दशा, ता कारन बलवान।
सिवसाधक बाधा रहित, अखै अखंडित आन॥ २९॥

अर्थः—इस प्रकार आत्मज्ञानके लिये स्याद्वाद ही समर्थ है, इसके वचन सुनने व अध्ययन करनेसे अज्ञानी लोग पंडित हो जाते हैं॥ २८॥ स्याद्वादसे आत्माका स्वरूप पहिचाना जाता है, इसलिये यह ज्ञान बहुत बलवान् है, मोक्षका साधक है, अनुमान-प्रमाणकी बाधासे रहित है, अक्षय है, इसको आज्ञावादी प्रतिवादी खंडन नहीं कर सकते॥ २९॥

ग्यारहवें अधिकारका सार

जैनधर्मके महत्वपूर्ण अनेक सिद्धान्तोंमें स्याद्वाद प्रधान है, जैनधर्मको जो कुछ गौरव है, वह स्याद्वादका है। यह स्याद्वाद अन्य धर्मोंको निर्मूल करनेके लिये सुदर्शन-चक्रके समान है, इस स्याद्वादका रहस्य समझना कठिन नहीं है परन्तु गूढ़ अवश्य है, और इतना गूढ़ है कि इसे स्वामी शंकराचार्य वा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे अजैन विद्वान नहीं समझ सके, और स्याद्वादका उलटा खण्डन करके जैनधर्मको बड़ा धक्का दे गये। इतना ही नहीं आधुनिक कई विद्वान इस धर्मपर नास्तिकपनेका लाञ्छन लगाते हैं।

पदार्थमें जो अनेक धर्म होते हैं, वे सब एक साथ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि शब्दमें इतनी शक्ति नहीं जोकि अनेक धर्मोंको एक साथ कह सके,

---

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते॥ १६॥
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन्स्वयम्।
अलंघ्यंशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः॥ १७॥

इति स्याद्वाधिकार;।

इसलिये किसी एक धर्मको मुख्य और शेषको गौण करके कथन किया जाता है। 'स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है:—

णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वच्चदे अत्थं।
तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खाहु सेसाणं॥ २६४॥

अर्थः—इसलिये जिस धर्मका जिसकी अपेक्षा कथन किया गया है वह धर्म, जिस शब्दसे कथन किया गया है वह शब्द, और उसको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों नय हैं। कहा भी है किः—

सो चिय इक्को धम्मो वाचयसद्दो वि तस्स धमस्स।
तं जाणदि तं णाणं ते तिण्णि विणय विसेसा य॥

अर्थः—हमारे नित्यके बोलचाल भी नय-गर्भित हुआ करते हैं, जैसे जब कोई मरणोन्मुख होता है, तब उसे साहस देते हैं कि जीव नित्य है, जीव तो मरता नहीं है, शरीररूप वस्त्रका उससे सम्बन्ध है, सो वस्त्रके समान शरीर बदलना पड़ता है। न तो जीव जन्मता है, न मरता है, और न धन संतान कुटुम्ब आदिसे उसका नाता है, यह जो कुछ कहा गया है वह जीव पदार्थके नित्यधर्मकी ओर दृष्टि देकर कहा गया है। पश्चात् जब वह मर जाता है, और उसके सम्बन्धियोंको सम्बोधन करते हैं तब कहते हैं कि संसार अनित्य है, जो जन्मता है वह मरता ही है, पर्यायोंका पलटना जीवका स्वभाव ही है, यह कथन पदार्थके अनित्य धर्मकी ओर दृष्टि रखकर कहा है। कुंदकुंदस्वामीने पंचास्तिकायमें इस विषयको खूब स्पष्ट किया है, स्वामीजीने कहा है कि जीवके चेतना उपयोग आदि गुण हैं, नर नारक आदि पर्यायें हैं। जब कोई जीव मनुष्य पर्यायसे देव पर्यायमें जाता है तब मनुष्य पर्यायका अभाव (व्यय) और देव पर्यायका सद्भाव (उत्पाद) होता है, परन्तु जीव न उपजा है न मरा है, यह उसका ध्रुव धर्म है, बस! इसीका नाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ॥ १८॥

(पंचास्तिकाय पृ० ३८)

अर्थः—वह ही जीव उपजता है, जोकि मरणभावको प्राप्त होता है, स्वभावसे वह जीव न विनशा है और न निश्चयसे उपजा है, सदा एकरूप है तब कौन उपजा और विनशा है? पर्याय ही उपजी और पर्याय ही विनशी है, जैसे कि देव पर्याय उत्पन्न हुई है, मनुष्य पर्याय नष्ट हुई है यह पर्यायका उत्पाद-व्यय है। जीवको ध्रौव्य जानना।

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो॥ २१॥
(पंचास्तकाय पृ० ४५)

अर्थः—पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे पंचपरावर्तनरूप संसारमें भ्रमण करता हुआ यह आत्मा देवादिक पर्यायोंको उत्पन्न करता है, मनुष्यादि पर्यायोंको नाश करता है, तथा विद्यमान देवादिक पर्यायोंके नाशका आरम्भ करता है, और जो विद्यमान नहीं है मनुष्यादि पर्याय उनके उत्पादका आरम्भ करता है।

खूब स्मरण रहे नयका कथन अपेक्षित होता है, और तभी वह सुनय कहलाता है; यदि अपेक्षा रहित कथन किया जावे तो वह नय नहीं कुनय है।

ते साविक्खा सुणया णिरविक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण॥

अर्थः—ये नय परस्पर अपेक्षा सहित हों तब तो सुनय हैं, और वे ही जब अपेक्षा रहित ग्रहण किये जाँय तब दुर्नय हैं; सुनयसे सर्व व्यवहारकी सिद्धि होती है।

अन्य मतावलंबी भी जीव पदार्थके एक ही धर्मपर दृष्टि देकर मस्त हो गये हैं, इसलिये जैनमतमें उन्हें 'मतवारे[१]' कहा है। इस अधिकारमें चौदह मतवालोंको सम्बोधन किया है, और उनके माने हुए प्रत्येक धर्मका समर्थन करते हुए स्याद्वादको पुष्ट किया है।

---

[१] पागल।

साध्य-साधक द्वार

(१२)

प्रतिज्ञा (दोहा)

स्यादवाद अधिकार यह, कह्यौ अलप विसतार ।
अमृतचंद मुनिवर कहै, साधक साध्य दुवार ॥ १ ॥

शब्दार्थः—साध्य = जो सिद्ध करने योग्य है-इष्ट । साधक = जो साध्यको सिद्ध करे ।

अर्थः—यह स्याद्वाद अधिकारका संक्षिप्त वर्णन किया; अब श्री अमृतचन्द्र मुनिराज साध्य-साधक द्वारका वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

(सवैया इकतीसा)

जोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरुलघु,
अभोगी अमूरतीक परदेसवंत है ।
उतपतिरूप नासरूप अविचलरूप,
रतनत्रयादि गुनभेदसौं अनंत है ॥
सोई जीव दरब प्रमान सदा एकरूप,
ऐसौ सुद्ध निहचै सुभाउ निरतंत है ।
स्यादवाद मांहि साध्य पद अधिकार कह्यौ,
अब आगै कहिवैकौं साधक सिद्धंत है ॥ २ ॥

शब्दार्थः—अस्ति = था, है और रहेगा । प्रमेय = [1]प्रमाणमें आने योग्य ।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥ १ ॥

---

[1] सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं ।

अगुरुलघु = न भारी न हलका। उतपति = नवीन पर्यायका प्रगट होना। नास = पूर्व पर्यायका अभाव। अविचल = ध्रौव्य।

अर्थः—यह जीव पदार्थ अस्तित्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अभोक्तृत्व, अमूर्तिकत्व, प्रदेशत्व सहित है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणोंसे अनंतरूप है। निश्चयनयमें उस जीव पदार्थका स्वाभाविक धर्म सदा सत्य और एकरूप है। उसे स्याद्वाद अधिकारमें साध्यस्वरूप, कहा, अब आगे उसे साधकरूप कहते हैं॥ २॥

जीवकी साध्य-साधक अवस्थाओंका वर्णन (दोहा)

साध्य सुद्ध केवल दशा, अथवा सिद्ध महंत।
साधक अविरत आदि बुध, छीन मोह परजंत॥ ३॥

शब्दार्थः—सुद्ध केवल दशा = तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत। सिद्ध महंत = जीवकी अष्टकर्म रहित शुद्ध अवस्था। अविरत बुध = चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टी। खीनमोह (क्षीणमोह) = बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्वथा निर्मोही।

अर्थः—केवलज्ञानी अरहंत वा सिद्ध परमात्मपद साध्य है और अव्रत सम्यग्दृष्टी अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानसे लगाकर क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थानपर्यंत नव गुणस्थानोंमेंसे किसी भी गुणस्थानका धारक ज्ञानी जीव साधक है॥ ३॥

साधक अवस्थाका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

जाकौ अधो अपूरब अनिवृति करनकौ,
भयौ लाभ भई गुरुवचनकी बोहनी।
जाकै अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ,
अनादि मिथ्यात मिश्र समकित मोहनी॥
सातौं परकिति खपीं किंवा उपसमी जाके,
जगी उर मांहि समकित कला सोहनी।
सोई मोख साधक कहायौ ताकै सरवंग,
प्रगटी सकति गुन थानक अरोहनी॥ ४॥

शब्दार्थः—अधःकरण[1] = जिस करणमें (परिणाम-समूहमें) उपरितनसमयवर्ती तथा अधस्तनसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश हों। अपूर्वकरण[2] = जिस करणमें उत्तरोत्तर अपूर्वही अपूर्व परिणाम होते जायँ, इस करणमें भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदा विसदृश ही रहते हैं, और एकसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश भी और विसदृश भी रहते हैं। अनिवृत्तिकरण[3] = जिस करणमें भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही हों और एकसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही हों। बोहनी (बोधनी) = उपदेश। खपीं = समूल नष्ट हुईं। किंवा = अथवा। सोहनी = सुहावनी। अरोहनी = चढ़नेकी।

अर्थः—जिस जीवको अधः, अपूर्व, अनिवृत्तिरूप[4] करणलब्धिकी प्राप्ति हुई है और श्रीगुरुका सत्य उपदेश मिला है, जिसकी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, मोहनीय ऐसी सात प्रकृतियाँ सर्वथा क्षय वा उपशम हुई हैं, वा अंतरंगमें सम्यग्दर्शनकी सुन्दर किरण जागृत हुई है वही जीव सम्यग्दृष्टि मुक्तिका साधक कहलाता है। उसके अंतरंग और बाह्य, सर्व अंगमें गुणस्थान चढ़नेकी शक्ति प्रकट होती है ॥ ४ ॥

(सोरठा)

जाके मुकति समीप, भई भवस्थिति घट गई।
ताकी मनसा सीप, सुगुरु मेघ मुकता वचन ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—भवस्थिति = भव-भ्रमणका काल। मुकता = मोती।

अर्थः—जिसकी भवस्थिति घट जानेसे अर्थात् किंचित् न्यून अर्ध-पुद्गलपरावर्त्तन कालमात्र शेष रहनेसे मुक्ति-अवस्था समीप आ गई है, उसके मनरूप सीपमें सद्गुरु मेघरूप और उनके वचन मोतीरूप परिणमन करते हैं। भाव यह कि ऐसे जीवोंको ही श्रीगुरुके वचन रुचिकर होते हैं ॥ ५ ॥

१-२-३ इन्हें विशेष समझनेके लिये गोम्मटसार जीवकांडका अध्ययन करना चाहिये और सुशीला उपन्यासके पृष्ठ २४७से २६३ तकके पृष्ठोंमें इसका विस्तारसे वर्णन है।

४ इन तीनों करणोंके परिणाम प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता लिये होते हैं।

सद्गुरुको मेघकी उपमा (दोहा)

ज्यौं वरषै वरषा समै, मेघ अखंडित धार ।
त्यौं सदगुरु वानी खिरै, जगत जीव हितकार ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—अखंडित धार = लगातार । वानी (वाणी) = वचन ।

अर्थः—जिस प्रकार बरसातमें मेघकी धाराप्रवाह वृष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीगुरुका उपदेश संसारी जीवोंके लिये हितकारी होता है।

भावार्थः—जिस प्रकार जलवृष्टि जगतको हितकारी है उसी प्रकार सद्गुरुकी वाणी सब जीवोंको हितकारी है ॥ ६ ॥

धन-सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपाय (सवैया तेईसा)

चेतनजी तुम जागि विलोकहु,
लागि रहे कहा मायाके ताईं ।
आए कहींसौं कहीं तुम जाहुगे,
माया रमेगी जहांकी तहांई ॥
माया तुम्हारी न जाति न पांति न,
वंसकी वेलि न अंसकी झांई ।
दासी कियै विनु लातनि मारत,
ऐसी अनीति न कीजै गुसांई ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—विलोकहु = देखो । माया = धन-सम्पदा । झांई = परछाँई—प्रतिबिंब । दासी = नौकरानी । गुसांई = महंत ।

अर्थः—हे आत्मन् ! तुम मोहनिद्रको छोड़कर सावधान होओ और देखो, तुम धन–सम्पत्तिरूप मायामें क्यों भूल रहे हो ? तुम कहाँसे आये हो और कहाँ चले जाओगे और दौलत जहाँकी तहाँ पड़ी रहेगी। लक्ष्मी न तुम्हारी जातिकी है, न पाँतिकी है, न वंश-परंपराकी है, और तो क्या तुम्हारे एक प्रदेशका भी प्रतिरूप नहीं है। यदि इसे तुमने नौकरानी बनाकर न रक्खा तो यह तुम्हें लातें मारेगी, सो बड़े होकर तुम्हें ऐसा अन्याय करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥

पुनः (दोहा)

माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन मांहि।
इन्हकी संगति जे लगैं, तिन्हहिं कहूं सुख नांहि ॥ ८ ॥

अर्थः—लक्ष्मी और छाया एक सारखी हैं, क्षणमें बढ़ती और क्षणमें घटती हैं, जो इनके संगमें लगते हैं अर्थात् नेह लगाते हैं, उन्हें कभी चैन नहीं मिलती ॥ ८ ॥

कुटुम्बियों आदिसे मोह हटानेका उपदेश (सवैया तेईसा)

लोकनिसौं कछु नातौ न तेरौ न,
तोसौं कछु इह लोककौ नातौ।
ए तौ रहै रमि स्वारथके रस,
तू परमारथके रस मातौ ॥
ये तनसौं तनमै तनसे जड़,
चेतन तू तिनसौं नित हांतौ।
होहु सुखी अपनौ बल फेरिकै,
तोरिकै राग विरोधकौ तांतौ ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—लोकनिसौं = कुटुम्ब आदि जनोंसे। नातौ = सम्बन्ध। रहै रमि = लीन हुए। परमारथ = आत्महित। मातौ = मस्त। तनमै (तन्मय) = लीन। हांतौ = भिन्न। फेरिकै = प्रगट करके। तोरिकै = तोड़कर। तांतौ (तंतु) = धागा।

अर्थः—हे जीव! कुटुम्बी आदि जनोंका तुमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है और न तुम्हारा उनसे कुछ इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन है, ये तो अपने मतलबके वास्ते तुम्हारे शरीरसे मुहब्बत लगाते हैं और तुम अपने आत्महितमें मस्त होओ। ये लोग शरीरमें तन्मय हो रहे हैं, इसलिये शरीरहीके समान जड़बुद्धि हैं, और तुम चैतन्य हो, इनसे अलग हो, इसलिये राग-द्वेषका धागा तोड़कर अपना आत्मबल प्रगट करो और सुखी होओ ॥ ९ ॥

इन्द्रादि उच्च पदकी चाह अज्ञानता है (सोरठा)

जे दुरबुद्धी जीव, ते उतंग पदवी चहैं।
जे समरसी सदीव, तिनकौं कछू न चाहिये ॥ १० ॥

अर्थः—जो अज्ञानी जीव हैं वे इन्द्रादि उच्चपदकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु जो सदा समतारसके रसिया हैं, वे संसार सम्बन्धी कोई भी वस्तु नहीं चाहते ॥ १० ॥

समताभाव मात्रहीमें सुख है (सवैया इकतीसा)

हांसीमैं विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै,
कायामैं मरन गुरु वर्तनमैं हीनता।
सुचिमैं गिलानि बसै प्रापतिमैं हानि बसै,
जैमैं हारि सुंदर दसामैं छबि छीनता ॥
रोग बसै भोगमैं संजोगमैं वियोग बसै,
[1]गुनमैं गरब बसै सेवा मांहि हीनता।
और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती,
साताकी सहेली है अकेली उदासीनता ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—विषाद = रंज। विवाद = उत्तर-प्रत्युत्तर। छबि = कान्ति। छीनता = कमी। गरब = घमंड। साता = सुख। सहेली = साथ देनेवाली।

अर्थः—यदि हँसीमें सुख माना जावे तो हँसीमें तकरार (लड़ाई) खड़ी होनेके संभावना है, यदि विद्यामें सुख माना जावे तो विद्यामें विवादका निवास है, यदि शरीरमें सुख माना जावे तो जो जन्मता है वह अवश्य मरता है, यदि बड़प्पनमें सुख माना जावे तो उसमें नीचपनेका वास है, यदि [2]पवित्रतामें सुख

---

[1] 'प्रीतिमैं अप्रीति' ऐसा भी पाठ है।

[2] लौकिक पवित्रता नित्य नहीं है, उसके नष्ट होनेपर मलिनता आजाती है।

माना जावे तो पवित्रतामें ग्लानिका वास है, यदि लाभमें सुख माना जावे तो जहाँ नफा है वहाँ नुकसान भी है, यदि जीतमें सुख माना जावे तो जहाँ जय है वहाँ हार भी है, यदि सुन्दरतामें सुख माना जावे तो वह सदा एकसी नहीं रहती—बिगड़ती भी है, यदि भोगोंमें सुख माना जावे तो वे रोगोंके कारण हैं, यदि इष्ट संयोगमें सुख माना जावे तो जिसका संयोग होता है उसका वियोग भी है, यदि गुणोंमें सुख माना जावे तो गुणोंमें घमंडका निवास है, यदि नौकरी-चाकरीमें सुख माना जावे तो वह हीनता (गुलामी) ही है। इनके सिवाय और भी जो लौकिक कार्य हैं वे सब असातामय हैं, इससे स्पष्ट है कि साताका संयोग मिलानेके लिये उदासीनता सखीके समान है, भाव यह है कि समतामात्र भावही जगतमें सुखदायक है ॥ ११ ॥

जिस उन्नतिकी फिर अवनति है वह उन्नति नहीं है (दोहा)

जिहि उतंग चढ़ि फिर पतन, नहि उतंग वह कूप ।
जिहि [1]सुख अंतर भय बसै, सो सुख है दुखरूप ॥ १२ ॥
जो विलसै सुख संपदा, गये तहां दुख होइ ।
जो धरती बहु तृनवती, जरै अगनिसौं सोइ ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—उतंग = ऊंचा । पतन = गिरना । कूप = कुआ । विलसै = भोगे । तृनवती = घासवाली । जरै = जलती है ।

अर्थः—जिस उच्च स्थानपर पहुँचके फिर गिरना पड़ता है, वह उच्च पद नहीं गहरा कुआ ही है। उसी प्रकार जिस सुखके प्राप्त होनेपर उसके नष्ट होनेका भय है वह सुख नहीं दुखरूप है ॥ ११ ॥ क्योंकि लौकिक सुख-सम्पत्तिका विलास नष्ट होनेपर फिर दुख ही प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि सघन घासवाली ही धरती अग्निसे जल जाती है ॥ १३ ॥

श्रीगुरुके उपदेशमें ज्ञानी जीव रुचि लगाते हैं और मूर्ख समझते ही नहीं
(दोहा)

सबद मांहि सतगुरु कहै, प्रगट रूप निज धर्म ।
सुनत विचच्छन सद्दहै, मूढ़ न जानै मर्म ॥ १४ ॥

---

[1] ‘सुखमैं फिर दुख बसै’ ऐसा भी पाठ है।

अर्थः—श्रीगुरु आत्म-पदार्थका स्वरूप वर्णन करते हैं, उसे सुनकर बुद्धिमान लोग धारण करते हैं और मूर्ख उसका मर्म ही नहीं समझते ॥ १४ ॥

ऊपरके दोहेका दृष्टान्त द्वारा समर्थन (सवैया इकतीसा)

जैसें काहू नगरके वासी द्वै पुरुष भूले,
तामैं एक नर सुष्ट एक दुष्ट उरकौ ।
दोउ फिरैं पुरके समीप परे ऊटवमैं,
काहू और पथिकसौं पूछैं पंथ पुरकौ ॥
सो तौ कहै तुमारौ नगर है तुमारे ढिग,
मारग दिखावै समुझावै खोज पुरकौ ।
एतेपर सुष्ट पहचानै पै न मानै दुष्ट,
हिरदै प्रवांन तैसे उपदेस गुरुकौ ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—वासी = रहनेवाले । सुष्ट = समझदार । दुष्ट = दुर्बुद्धि । ऊटव = उलटा रास्ता । ढिग = पास, निकट ।

अर्थः—जिस प्रकार किसी शहरके रहनेवाले दो पुरुष वस्तीके समीप रास्ता भूल गये, उसमें एक सज्जन और दूसरा हृदयका दुर्जन था। रास्ता भूलकर उलटे फिरें और किसी तीसरे रास्तागीरसे अपने नगरका रास्ता पूछें तथा वह रास्तागीर उन्हें रास्ता समझाकर दिखावे और कहे कि यह तुम्हारा नगर तुम्हारे ही निकट है। सो उन दोनों पुरुषोंमें जो सज्जन है वह उसकी बातको सच्ची मानता है अर्थात् अपने नगरको पहिचान लेता है और मूर्ख उसे नहीं मानता; इसी प्रकार ज्ञानी लोग श्रीगुरुके उपदेशको सत्य श्रद्धान करते हैं, पर अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आता। भाव यह है कि उपदेशका असर श्रोताओंके परिणामोंके अनुसार ही होता है[1] ॥ १५ ॥

जैसें काहू जंगलमैं पावसकौ समै पाइ,
अपनै सुभाव महामेघ बरषतु है ।

---

[1] चौपाई—सुगुरु सिखावहिं बारहिं बारा। सूझ परै तऊं मति अनुसारा॥

आमल कषाय कटु तीखन मधुर खार,
तैसौ रस बाढ़ै जहां जैसौ दरखतु है ॥
तैसैं ग्यानवंत नर ग्यानकौ बखान करै,
रसकौ उमाहू है न काहू परखतु है ।
वहै धुनि सुनि कोऊ गहै कोऊ रहै सोइ,
काहूकौ विखाद होइ कोऊ हरखतु है ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—पावस = बरसात। आमल = खट्टा। कषाय = ऐंठायला। कटु = कडुवा। तीखन (तीक्ष्ण) = चरपरा। मधुर = मीठा। खार (क्षार) = खारा। दरखतु (दरख्त) = वृक्ष। उमाहू = उत्साहित। न परखतु है = परीक्षा नहीं करता। धुनि (ध्वनि) = शब्द। विखाद (विषाद) = रंज। हरखतु = हर्षित (आनन्दित)।

अर्थः—जैसे किसी वनमें बरसातके दिनोंमें अपने आप पानी बरसता है तो खट्टा, कषायला, कडुवा, चरपरा, मिष्ट, खारा जिस रसका वृक्ष होता है वह पानी भी उसी रसरूप हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोग ज्ञानके व्याख्यानमें अपना अनुभव प्रगट करते हैं, पात्र–अपात्रकी परीक्षा नहीं करते, उस वाणीको सुनकर कोई तो ग्रहण करते हैं, कोई ऊंघते हैं, कोई विषाद करते हैं और कोई आनंदित होते हैं।

भावार्थः—जिस प्रकार पानी अपने आप बरसता है और वह नींबके वृक्षपर पड़नेसे कडुवा, नींबूके वृक्षपर पड़नेसे खट्टा, गन्नेके झाड़पर पड़नेसे मिष्ट, मिर्चके झाड़पर पड़नेसे चरपरा, चनेके झाड़पर पड़नेसे खारा और बबूलपर पड़नेसे कषायला हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी लोग ख्याति लाभादिकी अपेक्षा रहित माध्यस्थभावसे तत्त्वका स्वरूप कथन करते हैं, उसे सुनकर कोई श्रोता परमार्थ ग्रहण करते हैं, कोई संसारसे भयभीत होकर यम–नियम लेते हैं, कोई लड़ बैठते हैं, कोई ऊँघते हैं, कोई कुतर्क करते हैं, कोई निन्दा–स्तुति करते हैं और कोई व्याख्यानके पूर्ण होनेकी ही वाट देखते रहते हैं ॥ १६ ॥

(दोहा)

गुरु उपदेश कहा करै, दुराराध्य संसार ।
बसै सदा जाकै उदर, जीव पंच परकार ॥ १७ ॥

अर्थः—जिसमें पाँच प्रकारके जीव निवास करते हैं वह संसार ही बहुत दुस्तर है, उसके लिये श्रीगुरुका उपदेश क्या करेगा? ॥ १७ ॥

पाँच प्रकारके जीव (दोहा)

डूंघा प्रभु चूंघा चतुर, सूंघा रूंचक सुद्ध ।
ऊंघा दुरबुद्धी विकल, घूंघा घोर अबुद्ध ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—रूंचक = रुचिवाला । अबुद्ध = अज्ञान ।

डूंघा जीव प्रभु है, चूंघा चतुर है, सूंघा शुद्ध रुचिवंत है, ऊंघा दुर्बुद्धि और दुखी है और घूंघा महा अज्ञानी है ॥ १८ ॥

डूंघा जीवका लक्षण (दोहा)

जाकी परम दसा विषै, करम कलंक न होइ ।
डूंघा अगम अगाधपद, वचन अगोचर सोइ ॥ १९ ॥

अर्थः—जिनका कर्म-कालिमा रहित अगम्य, अगाध और वचन-अगोचर उत्कृष्ट पद है वे सिद्ध भगवान डूंघा[1] जीव हैं ॥ १९ ॥

चूंघा जीवका लक्षण (दोहा)

जो उदास ह्वै जगतसौं, गहै परम रस प्रेम ।
सो चूंघा गुरुके वचन, चूंघै बालक जेम ॥ २० ॥

शब्दार्थः—उदास = विरक्त । परम रस = आत्म-अनुभव । चूंघै = चूसे ।

अर्थः—जो संसारसे विरक्त होकर आत्म-अनुभवका रस सप्रेम ग्रहण करता है और श्रीगुरुके वचन बालकके समान दुग्धवत् चूसता है वह चूंघा जीव है ॥ २० ॥

सूंघा जीवके लक्षण (दोहा)

जो सुवचन रुचिसौं सुनै, हियै दुष्टता नांहि ।
परमारथ समुझै नहीं, सो सूंघा जगमांहि ॥ २१ ॥

---

[1] यह कथन पं० बनारसीदासजीने अपने मनसे किया है किसी ग्रन्थके आधारसे नहीं ।

शब्दार्थः—रुचिसौं = प्रेमसे । परमारथ = आत्मतत्त्व ।

अर्थः—जो गुरुके वचन प्रेमपूर्वक सुनता है और हृदयमें दुष्टता नहीं है—भद्र है, पर आत्मस्वरूपको नहीं पहिचानता ऐसा मन्द कषायी जीव सूंघा है ॥ २१ ॥

ऊंघा जीवका लक्षण (दोहा)

जाकौं विकथा हित लगै, आगम अंग अनिष्ट ।
सो ऊंघा विषयी विकल, दुष्ट रुष्ट पापिष्ट ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—विकथा = खोटी वार्ता । अनिष्ट = अप्रिय । दुष्ट = द्वेषी । रुष्ट = क्रोधी । पापिष्ट = अधर्मी ।

अर्थः—जिसे सत् शास्त्रका उपदेश तो अप्रिय और विकथाएँ प्रिय लगती हैं वह विषयाभिलाषी, द्वेषी-क्रोधी और अधर्मी जीव ऊंघा है ॥ २२ ॥

घूंघा जीवका लक्षण (दोहा)

जाकै वचन श्रवन नहीं, नहि मन सुरति विराम ।
जड़तासौं जड़वत भयौ, घूंघा ताकौ नाम ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—सुरति = स्मृति । विराम = अव्रती ।

अर्थः—वचन रहित अर्थात् एकेन्द्रिय, श्रवण रहित अर्थात् द्वि, त्रि, चतुरिन्द्रिय, मन रहित अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय और अव्रती अज्ञानी जीव जो ज्ञानावरणीयकर्मके तीव्र उदयसे जड़ हो रहा है वह घूंघा है ॥ २३ ॥

उपर्युक्त पाँच प्रकारके जीवोंका विशेष वर्णन (चौपाई)

डूंघा सिद्ध कहै सब कोऊ ।
सूंघा ऊंघा मूरख दोऊ ॥
घूंघा घोर विकल संसारी ।
चूंघा जीव मोख अधिकारी ॥ २४ ॥

अर्थः—डूंघा जीवको सब कोई सिद्ध कहते हैं, सूंघा ऊंघा दोनों मूर्ख हैं, घूंघा घोर संसारी है और चूंघा जीव मोक्षका पात्र है ॥ २४ ॥

चूंघा जीवका वर्णन (दोहा)

चूंघा साधक मोखकौ, करै दोष दुख नास ।
लहै मोख संतोषसौं, वरनौं लच्छन तास ॥ २५ ॥

अर्थः—चूंघा जीव मोक्षका साधक है, दोष और दुखोंका नाशक है, संतोषसे परिपूर्ण रहता है, उसके गुण वर्णन करता हूँ ॥ २५ ॥

(दोहा)

कृपा प्रसम संवेग दम, अस्तिभाव वैराग्य ।
ये लच्छन जाके हियै, सप्त व्यसनकौ त्याग ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—कृपा = दया । प्रसम (प्रशम) = कषायोंकी मंदता । संवेग = संसारसे भयभीत । दम = इन्द्रियोंका दमन । अस्तिभाव (अस्तिक्य) = जिन वचनोंपर श्रद्धा । वैराग्य = संसारसे विरक्ति ।

अर्थः—दया, प्रशम, संवेग, इन्द्रिय-दमन, आस्तिक्य, वैराग्य और सप्त-व्यसनका त्याग ये चूंघा अर्थात् साधक जीवके चिह्न हैं ॥ २६ ॥

सप्त व्यसनके नाम (चौपाई)

जूवा आमिष मदिरा दारी ।
आखेटक चोरी परनारी ॥
एई सात विसन दुखदाई ।
दुरित मूल दुरगतिके भाई ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—आमिष = मांस । मदिरा = शराब । दारी = वेश्या । आखेटक = शिकार । परनारी = पराई स्त्री । दुरित = पाप । मूल = जड़ ।

अर्थः—जुवा खेलना, मांस खाना, शराब पीना, वेश्या सेवन, शिकार करना, चोरी और परस्त्री सेवन । ये सातों व्यसन दुःखदायक हैं, पापकी जड़ हैं और कुगतिमें लेजानेवाले हैं ॥ २७ ॥

व्यसनोंके द्रव्य और भाव भेद (दोहा)

दरवित ये सातौं विसन, दुराचार दुखधाम।
भावित अंतर कलपना, मृषा मोह परिनाम ॥ २८ ॥

अर्थः—ये सातों जो शरीरसे सेवन किये जाते हैं वे दुराचाररूप द्रव्य-व्यसन हैं, और झूठे मोहपरिणामकी अन्तरंग कल्पना सो भाव-व्यसन हैं। द्रव्य और भाव दोनों ही दुःखोंके घर हैं ॥ २८ ॥

सप्त भाव व्यसनोंका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

अशुभमैं हारि शुभजीति यहै दूत कर्म,
देहकी मगनताई यहै मांस भखिवौ।
मोहकी गहलसौं अजान यहै सुरापान,
कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिवौ ॥
निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारी संग परबुद्धिकौ परखिवौ।
प्यारसौं पराई सौंज गहिवेकी चाह चोरी,
एई सातौं विसन बिडारैं ब्रह्म लखिवौ ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—दूत (द्यूत) = जुआ। गहल = मूर्छा। अजान = अचेत। सुरा = शराब। पान = पीना। गनिका = वेश्या। सौंज = वस्तु। बिडारैं = विदारण करें।

अर्थः—अशुभ कर्मके उदयमें हार और शुभ कर्मके उदयमें विजय मानना यह भाव जुआ है, शरीरमें लीन होना यह भाव मांस-भक्षण है, मिथ्यात्वसे मूर्छित होकर स्वरूपको भूलना यह भाव मद्यपान है, कुबुद्धिके मार्गपर चलना यह भाव वेश्या सेवन है, कठोर परिणाम रखकर प्राणोंका घात करना यह भाव शिकार है, देहादि परवस्तुमें आत्मबुद्धि रखना सो भाव परस्त्री संग है, अनुराग पूर्वक पर-पदार्थोंके ग्रहण करनेकी अभिलाषा करना सो भाव चोरी है। ये ही सातों भाव-व्यसन आत्मज्ञानको विदारण करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान नहीं होने देते ॥ २९ ॥

साधक जीवका पुरुषार्थ (दोहा)

विसन भाव जामैं नहीं, पौरुष अगम अपार ।
किये प्रगट घट सिंधुमैं, चौदह रतन उदार ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—सिंधु = समुद्र । उदार = महान ।

अर्थः—जिसके चित्तमें भाव-व्यसनोंका लेश भी नहीं रहता है वह अतुल्य और अपरम्पार पुरुषार्थका धारक हृदयरूप समुद्रमें चौदह महारत्न प्रगट करता है ॥ ३० ॥

चौदह भावरत्न (सवैया इकतीसा)

लक्ष्मी सुबुद्धि अनुभूति कउस्तुभ मनि,
वैराग कलपवृच्छ संख सुवचन है ।
ऐरावत उद्दिम प्रतीति रंभा उदै विष,
कामधेनु निर्जरा सुधा प्रमोद धन है ॥
ध्यान चाप प्रेमरीति मदिरा विवेक वैद्य,
सुद्धभाव चन्द्रमा तुरंगरूप मन है ।
चौदह रतन ये प्रगट होंहि जहां तहां,
ग्यानके उदोत घट सिंधुकौ मथन है ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—सुधा = अमृत । प्रमोद = आनंद । चाप = धनुष । तुरंग = घोड़ा ।

अर्थः—जहाँ ज्ञानके प्रकाशमें चित्तरूप समुद्रका मन्थन किया जाता है वहाँ सुबुद्धिरूप लक्ष्मी, अनुभूतिरूप कौस्तुभमणि, वैराग्यरूप कल्पवृक्ष, सत्यवचनरूप शंख, ऐरावत हाथीरूप उद्यम, श्रद्धारूप रम्भा, उदयरूप विष, निर्जरारूप कामधेनु, आनन्दरूप अमृत, ध्यानरूप धनुष्य, प्रेमरूप मदिरा, विवेकरूप वैद्य, शुद्धभावरूप चन्द्रमा और मनरूप घोड़ा ऐसे चौदह रत्न प्रगट होते हैं ॥ ३१ ॥

चौदह रत्नोंमें कौन हेय और कौन उपादेय हैं (दोहा)

किये अवस्थामैं[1] प्रगट, चौदह रतन रसाल।
कछु त्यागै कछु संग्रहै, विधिनिषेधकी चाल ॥ ३२ ॥

रमा संख विष धनु सुरा, वैद्य धेनु हय हेय।
मनि रंभा गज कलपतरु, सुधा सोम आदेय ॥ ३३ ॥

इह विधि जो परभाव विष, वमैं रमैं निजरूप।
सो साधक सिवपंथकौ, चिद वेदक चिद्रूप ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—संग्रहै = ग्रहण करे। विधि = ग्रहण करना। निषेध = छोड़ना। रमा = लक्ष्मी। धनु = धनुष। सुरा = शराब। धेनु = गाय। हय = घोड़ा। रंभा = अप्सरा। सोम = चन्द्रमा। आदेय = ग्रहण करने योग्य। वमैं = छोड़े।

अर्थः—साधकदशामें जो चौदह रत्न प्रगट किये उन्हें ज्ञानी जीव विधि-निषेधकी रीतिपर कुछ त्याग करता है और कुछ ग्रहण करता है ॥ ३२ ॥ अर्थात् सुबुद्धिरूप लक्ष्मी, [2]सत्यवचनरूप शंख, उदयरूप विष, ध्यानरूप धनुष्य, प्रेमरूप मदिरा, विवेकरूप धन्वन्तरि, निर्जरारूप कामधेनु और मनरूप घोड़ा ये आठ अस्थिर हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं तथा अनुभूतिरूप मणि, प्रतीतिरूप रम्भा, उद्यमरूप हाथी, वैराग्यरूप कल्पवृक्ष, आनन्दरूप अमृत, शुद्धभावरूप चन्द्रमा, ये छह रत्न उपादेय हैं ॥ ३३ ॥ इस प्रकार जो परभावरूप विष-विकार त्याग करके निज स्वरूपमें मग्न होता है वह निज स्वरूपका भोक्ता चैतन्य आत्मा मोक्षमार्गका [3]साधक है ॥ ३४ ॥

---

[1] साधक दशा।

[2] सत्यवचन भी हेय है, जैनमतमें तो मौनहीकी सराहना है।

[3] सात भाव-व्यसनों और चौदह रत्नोंकी कविता पंडित बनारसीजीने स्वतंत्र रची है।

मोक्षमार्गके साधक जीवोंकी अवस्था (कवित्त)

ग्यान द्रिष्टि जिन्हके घट अंतर,
निरखैं दरब सुगुन परजाइ।
जिन्हकैं सहजरूप दिन दिन प्रति,
स्यादवाद साधन अधिकाइ॥
जे केवलि प्रनीत मारग मुख,
चितैं चरन राखै ठहराइ।
ते प्रवीन करि खीन मोहमल,
अविचल होहिं परमपद पाइ॥ ३५॥

शब्दार्थः—निरखैं = देखें। प्रनीत (प्रणीत) = रचित।

अर्थः—जिनके अन्तरंगमें ज्ञानदृष्टि द्रव्य, गुण और पर्यायोंका अवलोकन करती है, जो स्वयमेव ही दिनपर दिन स्याद्वादके द्वारा अपना स्वरूप अधिक अधिक जानते हैं, जो केवली कथित धर्ममार्गमें श्रद्धा करके उसके अनुसार आचरण करते हैं, वे ज्ञानी मनुष्य मोहकर्मका मल नष्ट करते हैं और परमपदको प्राप्त करके स्थिर होते हैं॥ ३५॥

शुद्ध अनुभवसे मोक्ष और मिथ्यात्वसे संसार है (सवैया इकतीसा)

*चाकसौ फिरत जाकौ संसार निकट आयौ,
पायौ जिन सम्यक मिथ्यात नास करिकै।

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः॥ २॥

यह श्लोक ईडरकी प्रतिमें नहीं है, किन्तु मुद्रित दोनों प्रतियोंमें है।

* ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ ३॥

निरदुंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन,
कीनी मोखकारन अवस्था ध्यान धरिकैं ॥
सो ही सुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनासी भयौ,
गयौ ताकौ करम भरम रोग गरिकैं ।
मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै तातैं,
डोलै जगजालमैं अनंत काल भरिकैं ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—चाक = चक्र । निरदुंद (निरद्वंद) = दुविधा रहित । गरिकैं (गलिके) = गलकर नष्ट हुआ । पिछांनै = पहिचाने ।

अर्थः—चाकके समान घूमते घूमते जिसके संसारका अन्त निकट आगया और जिसने मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, जिसने राग-द्वेष छोड़कर मनरूप भूमिको शुद्ध किया है और ध्यानके द्वारा अपनेको मोक्षके योग्य बनाया है, वही शुद्ध अनुभवका अभ्यास करनेवाला अविचल पद पाता है, और उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं व अज्ञानरूपी रोग हट जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टी अपने स्वरूपको नहीं पहिचानते इससे वे अनन्तकाल पर्यन्त जगतके जालमें भटकते हैं और जन्म-मरणके चक्कर लगाते हैं ॥ ३६ ॥

आत्म-अनुभवका परिणाम (सवैया इकतीसा)

जे जीव दरबरूप तथा परजायरूप,
दोऊ नै प्रवांन वस्तु सुद्धता गहतु हैं ।
जे असुद्ध भावनिके त्यागी भये सरवथा,
विषैसौं विमुख ह्वै विरागता बहतु हैं ॥

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ ४ ॥

जे जे ग्राह्यभाव त्यागभाव दोऊ भावनिकौं,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करतु हैं ।
तेई ग्यान क्रियाके आराधक सहज मोख,
मारगके साधक अबाधक महतु हैं ॥ ३७ ॥

अर्थः—जिन जीवोंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंके द्वारा पदार्थका स्वरूप समझकर आत्माकी शुद्धता ग्रहण की है, जो अशुद्ध भावोंके सर्वथा त्यागी हैं, इन्द्रिय-विषयोंसे पराङ्मुख होकर वीतरागी हुए हैं, जिन्होंने अनुभवके अभ्यासमें उपादेय और हेय दोनों प्रकारके भावोंको एकसा जाना है, वे ही जीव ज्ञानक्रियाके उपासक हैं, मोक्षमार्गके साधक हैं, कर्मबाधा रहित हैं और महान हैं ॥ ३७ ॥

ज्ञानक्रियाका स्वरूप (दोहा)

विनसि अनादि असुद्धता, होइ सुद्धता पोख ।
ता परनतिको बुध कहैं, ग्यान क्रियासौं मोख ॥ ३८ ॥

शब्दार्थः—विनसि = नष्ट होकर । पोख = पुष्ट । परनति = चाल ।

अर्थः—ज्ञानी लोग कहते हैं कि अनादि कालकी अशुद्धताके नष्ट होने और शुद्धताके पुष्ट होनेकी परिणित ज्ञानक्रिया है और उसीसे मोक्ष होता है ॥ ३८ ॥

सम्यक्त्वसे क्रमशः ज्ञानकी पूर्णता होती है (दोहा)

जगी सुद्ध समकित कला, बगी मोख मग जोइ ।
वहै करम चूरन करै, क्रम क्रम पूरन होइ ॥ ३९ ॥

जाके घट ऐसी दसा, साधक ताकौ नाम ।
जैसै जो दीपक धरै, सो उजियारौ धाम ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—बगी = चली ।

अर्थः—सम्यग्दर्शनकी जो किरण प्रकाशित होती है और मोक्षके मार्गमें चलती है वह धीरे धीरे कर्मोंका नाश करती हुई परमात्मा बनती है ॥ ३९ ॥ जिसके चित्तमें ऐसी सम्यग्दर्शनकी किरणका उदय हुआ है उसीका नाम साधक है, जैसे कि जिस घरमें दीपक जलाया जाता है उसी घरमें उजेला होता है ॥ ४० ॥

सम्यक्त्वकी महिमा (सवैया इकतीसा)

जाके घट अंतर मिथ्यात अंधकार गयौ,
भयौ परगास सुद्ध समकित भानकौ ।
जाकी मोहनिद्रा घटी ममता पलक फटी,
जान्यौ जिन मरम अवाची भगवानकौ ॥
जाकौ ग्यान तेज बग्यौ उद्दिम उदार जग्यौ,
लग्यौ सुख पोख समरस सुधा पानकौ ।
ताही सुविचच्छनकौ संसार निकट आयौ,
पायौ तिन मारग सुगम निरवानकौ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—अवाची = वचनातीत । बग्यौ = बढ़ा ।

अर्थः—जिसके हृदयमें मिथ्यात्वका अन्धकार नष्ट होनेसे शुद्ध सम्यग्दर्शनका सूर्य प्रकाशित हुआ, जिसकी मोहनिद्रा हट गई और ममताकी पलकें उघड़ पड़ीं, जिसने वचनातीत अपने परमेश्वरका स्वरूप पहिचान लिया, जिसके ज्ञानका तेज प्रकाशित हुआ, जो महान उद्यममें सावधान हुआ, जो साम्यभावका अमृतरस पान करके पुष्ट हुआ, उसी ज्ञानीके संसारका अन्त समीप आया है और उसने ही सुगम मार्ग पाया है ॥ ४१ ॥

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ ५ ॥

सम्यग्ज्ञानकी महिमा (सवैया इकतीसा)

जाके हिरदैमैं स्याद्वाद साधना करत,
सुद्ध आतमाकौ अनुभौ प्रगट भयौ है ।
जाके संकलप विकलपके विकार मिटि,
सदाकाल एकीभाव रस परिनयौ है ॥
जिन बंध विधि परिहार मोख अंगीकार,
ऐसौ सुविचार पच्छ सोऊ छांड़ि दयौ है ।
ताकौ ग्यान महिमा उदोत दिन दिन प्रति,
सोही भवसागर उलंघि पार गयौ है ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—परिनयौ = हुआ । परिहार = नष्ट । अंगीकार = स्वीकार । पार = तट ।

अर्थः—स्याद्वादके अभ्याससे जिसके अन्तःकरणमें शुद्ध आत्माका अनुभव प्रगट हुआ, जिसके संकल्प-विकल्पके विकार नष्ट हो गये और सदैव ज्ञानभावरूप हुआ, जिसने बन्धविधिका परिहार और मोक्ष अंगीकारका सद्विचार भी छोड़ दिया, जिसके ज्ञानकी महिमा दिनपर दिन प्रकाशित हुई, वह ही संसार-सागरसे पार होकर उसके किनारे पर पहुँचा है ॥ ४२ ॥

अनुभवमें नय पक्ष नहीं है (सवैया इकतीसा)

अस्तिरूप नासति अनेक एक थिररूप,
अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहियै ।

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ ६ ॥
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ ७ ॥

दीसै एक नैकी प्रतिपच्छी न अपर दूजी,
नैकौ न दिखाइ वाद विवादमैं रहिये ॥
थिरता न होइ विकलपकी तरंगनिमैं,
चंचलता बढ़ै अनुभौ दसा न लहियै ।
तातैं जीव अचल अबाधित अखंड एक,
ऐसौ पद साधिकै समाधि सुख गहियै ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—थिर = स्थिर । अथिर = चंचल । प्रतिपच्छी = विपरीत । अपर = और । थिरता = शान्ति । समाधि = अनुभव ।

अर्थः—जीवपदार्थ नयकी अपेक्षासे अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, थिर-अथिर, आदि अनेकरूप कहा गया है । यदि एक नयसे विपरीत दूसरा नय न दिखाया जाय तो विपरीतता दिखने लगती है और वादानुवाद उपस्थित होता है । ऐसी दशामें अर्थात् नयके विकल्पजालमें पड़नेसे चित्तको विश्राम नहीं होता और चंचलता बढ़नेसे अनुभव टिक नहीं सकता, इसलिये जीवपदार्थको अचल, अबाधित, अखंडित और एक साधकर अनुभवका आनन्द लेना चाहिये ।

भावार्थः—एक नय पदार्थको अस्तिरूप कहता है तो दूसरा नय उसी पदार्थको नास्तिरूप कहता है, एक नय उसे एकरूप कहता है तो दूसरा नय उसे अनेक कहता है, एक नय नित्य कहता है तो दूसरा नय उसे अनित्य कहता है, एक नय शुद्ध कहता है तो दूसरा नय उसे अशुद्ध कहता है, एक नय ज्ञानी कहता है तो दूसरा उसे अज्ञानी कहता है, एक नय सबंध कहता है तो दूसरा नय उसे अबंध कहता है । ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोंकी अपेक्षासे पदार्थ अनेकरूप कहा जाता है । जब प्रथम नय कहा गया और उसका विरोधी न दिखाया जावे तो विवाद खड़ा होता है और नयोंके भेद बढ़नेसे अनेक विकल्प उपजते हैं जिससे चित्तमें चंचलता बढ़नेके कारण अनुभव नष्ट हो जाता है, इसलिये प्रथम अवस्थामें तो नयोंका जानना आवश्यक है, फिर उनके द्वारा पदार्थका वास्तविक स्वरूप निर्णय करनेके अनंतर एक शुद्ध बुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥ ४३ ॥

आत्मा द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अखंडित है (सवैया इकतीसा)

जैसैं एक पाकौ आंबफल ताके चार अंस,
रस जाली गुठली छीलक जब मानियै ।
यौंतौ न बनै पै ऐसे बनै जैसैं वहै फल,
रूप रस गंध फास अखंड प्रमानियै ॥
तैसै एक जीवकौ दरव खेत काल भाव,
अंस भेद करि भिन्न भिन्न न बखानियै ।
दर्वरूप खेतरूप कालरूप भावरूप,
चारौंरूप अलख अखंड सत्ता मानियै ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—आंबफल = आम । फास = स्पर्श । अखंड = अभिन्न । अलख = आत्मा ।

अर्थः—कोई यह समझे कि जिस प्रकार पके हुए आमके फलमें रस, जाली, गुठली, छिलका ऐसे चार अंश हैं, वैसे ही पदार्थमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव ये चार अंश हैं, सो ऐसा नहीं है। इस प्रकार है कि जैसे आमका फल है और उसके स्पर्श रस गंध वर्ण उससे अभिन्न हैं, उसी प्रकार जीव पदार्थके द्रव्य क्षेत्र काल भाव उससे अभिन्न हैं और आत्मसत्ता अपने स्वचतुष्टयसे सदा अखंडित है।

भावार्थः—यदि कोई चाहे कि अग्निसे उष्णता पृथक् की जावे अर्थात् कोई तो अपने पासमें अग्नि रक्खे और दूसरेके पास उष्णता सौंपे तो नहीं हो सकती, इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भावको पदार्थसे अभिन्न जानना चाहिये ॥४४॥

ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

कोऊ ग्यानवान कहै ग्यान तौ हमारौ रूप,
ज्ञेय षट दर्व सो हमारौ रूप नाहीं है ।

न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि ॥

यह संस्कृत अंश मुद्रित दोनों प्रतियोंमें नहीं है, किन्तु ईडरकी प्रतिमें है।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ ८ ॥

एक नै प्रवांन ऐसे दूजी अब कहूं जैसै,
सरस्वती अक्खर अरथ एक ठाहीं है॥
तैसै ग्याता मेरौ नाम ग्यान चेतना विराम,
ज्ञेयरूप सकति अनंत मुझ पांही है।
आ कारन वचनके भेद भेद कहै कोऊ,
ग्याता ग्यान ज्ञेयकौ विलास सत्ता मांही है॥ ४५॥

अर्थः—कोई ज्ञानी कहता है कि ज्ञान मेरा रूप है और ज्ञेय षट् द्रव्य मेरा स्वरूप नहीं है। इसपर श्रीगुरु संबोधन करते हैं कि एक नय अर्थात् व्यवहार नयसे तुम्हारा कहना सत्य है, और दूसरा निश्चयनय मैं कहता हूँ वह इस प्रकार है कि जैसे विद्या अक्षर और अर्थ एक ही स्थानपर हैं, भिन्न नहीं हैं। उसी प्रकार ज्ञाता आत्माका नाम है, और ज्ञान [1]चेतनाका प्रकार है तथा वह ज्ञान ज्ञेयरूप परिणमन करता है सो ज्ञेयरूप परिणमन करनेकी अनंत शक्ति आत्मामें ही है, इसलिये वचनके भेदसे भले ही भेद कहो, परन्तु निश्चयसे ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयका विलास एक आत्मसत्तामें ही है॥ ४५॥

(चौपाई)

स्वपर प्रकासक सकति हमारी।
तातैं वचन भेद भ्रम भारी॥
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी।
निजरूपा पररूपा भासी॥ ४६॥

अर्थः—आत्माकी ज्ञानशक्ति अपना स्वरूप जानती है और अपने सिवाय अन्य पदार्थोंको भी जानती है, इससे ज्ञान और ज्ञेयका वचन-भेद मूर्खोंको बड़ा भ्रम उत्पन्न करता है। ज्ञेय अवस्था दो प्रकारकी है—एक तो स्वज्ञेय और दूसरी परज्ञेय॥ ४६॥

---

[1] चेतना दो प्रकारकी है—ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना।

(दोहा)

निजरूपा आतम सकति, पररूपा पर वस्त ।
जिन लखि लीनौं पेंच यह, तिन लखि लियौ समस्त ॥ ४७ ॥

अर्थः—स्वज्ञेय आत्मा है और परज्ञेय आत्माके सिवाय जगत्के सब पदार्थ हैं, जिसने यह स्वज्ञेय और परज्ञेयकी उलझन समझ ली है—उसने सब कुछ ही जान लिया समझो ॥ ४७ ॥

स्याद्वादमें जीवका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

करम अवस्थामैं असुद्धसौ विलोकियत,
करम कलंकसौं रहित सुद्ध अंग है ।
उभै नै प्रवांन समकाल सुद्धासुद्ध रूप,
ऐसौ परजाइ धारी जीव नाना रंग है ।
एक ही समैमैं त्रिधारूप पै तथापि याकी,
अखंडित चेतना सकति सरवंग है ॥
यहै स्यादवाद याकौ भेद स्यादवादी जानै,
मूरख न मानै जाकौ हियौ दृगभंग है ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—अवस्था = दशा । विलोकियत = दिखता है । उभै (उभय) = दो । नै = नय । परजाइ धारी = शरीर सहित, संसारी । रंग = धर्म । त्रिधा = तीन । दृगभंग = अंधा ।

अर्थः—यदि जीवकी कर्म सहित अवस्थापर दृष्टि दी जावे तो वह व्यवहारनयसे अशुद्ध दिखता है, यदि निश्चयनयसे कर्म-मलरहित अवस्था विचारी जावे तो वह निर्दोष है, और अदि ये दोनों नय एक साथ सोचे जावें तो

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥९॥

शुद्धाशुद्धरूप जाना जाता है। इस प्रकार संसारी जीवकी विचित्र गति है। यद्यपि वह एक क्षणमें शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध ऐसे तीनरूप है तो भी इन तीनों रूपोंमें वह अखंड चैतन्यशक्तिसे सर्वांग सम्पन्न है। यही स्याद्वाद है, इस स्याद्वादके मर्मको स्याद्वादी ही जानते हैं, जो मूर्ख हृदयके अंधे हैं वे इस मतलबको नहीं समझते ॥ ४८ ॥

निहचै दरबद्रिष्टि दीजै तब एक रूप,
गुन परजाइ भेद भावसौं बहुत है।
असंख्य परदेस संजुगत सत्ता परमान,
ग्यानकी प्रभासौं लोकाऽलोक मानयुत है॥
परजै तरंगनिके अंग छिनभंगुर है,
चेतना सकतिसौं अखंडित अचुत है।
सो है जीव जगत विनायक जगतसार,
जाकी मौज महिमा अपार अदभुत है॥ ४९॥

शब्दार्थः—भेदभाव = व्यवहार नय। संजुगत (संयुक्त) = सहित। जुत (युक्त) = सहित। अचुत = अचल। विनायक = शिरोमणि। मौज = सुख।

अर्थः—आत्मा निश्चयनय वा द्रव्यदृष्टिसे एकरूप है, गुण-पर्यायोंके भेद अर्थात् व्यवहारनयसे अभेदरूप है। अस्तित्वकी दृष्टिसे निज क्षेत्रावगाहमें स्थित है, प्रदेशोंकी दृष्टिसे लोक-प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, ज्ञायक दृष्टिसे [1]लोकालोक प्रमाण है। पर्यायोंकी दृष्टिसे क्षणभंगुर है, अविनाशी चेतनाशक्तिकी दृष्टिसे नित्य है। वह जीव जगतमें श्रेष्ठ और सार पदार्थ है, उसके सुखगुणकी महिमा अपरम्पार और अद्भुत है ॥ ४९ ॥

---

[1] लोक और अलोकमें उसके ज्ञानकी पहुँच है।

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥ १०॥

विभाव सकति परनतिसौं विकल दीसै,
सुद्ध चेतना विचारतैं सहज संत है।
करम संजोगसौं कहावै गति जोनि वासी,
निहचै सुरूप सदा मुकत महंत है॥
ज्ञायक सुभाउ धरै लोकालोक परगासी,
सत्ता परवांन सत्ता परगासवंत है।
सो है जीव जानत जहान कौतुक महान,
जाकी किरति [1]कहां न अनादि अनंत है॥ ५०॥

शब्दार्थः—विकल = दुखी। सहज संत = स्वाभाविक शान्त। वासी = रहनेवाला। जहान = लोक। कीरति (कीर्ति) = यश। कहां न = कहाँ नहीं।

अर्थः—आत्मा विभाव परिणतिसे दुखी दिखता है, पर उसकी शुद्ध चैतन्य-शक्तिका विचार करो तो वह साहजिक शान्तिमय ही है। वह कर्मके संसर्गसे गति योनिका प्रवासी कहलाता है, पर उसका निश्चय स्वरूप देखो तो कर्म-बन्धनसे मुक्त परमेश्वर ही है। उसकी ज्ञायक शक्तिपर दृष्टि डालो तो लोकालोकका ज्ञातादृष्टा है, यदि उसके अस्तित्वपर ध्यान दो तो निज क्षेत्रावगाह-प्रमाण ज्ञानका पिण्ड है। ऐसा जीव जगतका ज्ञाता है, उसकी लीला विशाल है, उसकी कीर्ति कहाँ नहीं है, अनादि कालसे चली आती है और अनंत काल तक चलेगी॥ ५०॥

---

[1] 'कहान' ऐसा भी पाठ है अर्थात् कहानी-कथा।

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥ ११॥

साध्यस्वरूप केवलज्ञानका वर्णन (सवैया इकतीसा)

पंच परकार ग्यानावरनकौ नास करि,
प्रगटी प्रसिद्ध जग मांहि जगमगो है ।
ज्ञायक प्रभामैं नाना ज्ञेयकी अवस्था धरि,
अनेक भई पै एकताके रस पगी है ॥
याही भांति रहेगी अनंत काल परजंत,
अनंत सकति फोरि अनंतसौं लगी है ।
नरदेह देवलमैं केवल सरूप सुद्ध,
ऐसी ग्यानज्योतिकी सिखा समाधि जगी है ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—फोरि = स्फुरित करके । देवल = मंदिर । सिखा (शिखा) = लौ । समाधि = अनुभव ।

अर्थः—जगतमें जो ज्ञायक ज्योति पाँच प्रकारका ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट करके चमकती हुई प्रगट हुई है और अनेक प्रकार ज्ञेयाकार परिणमन करनेपर भी जो एकरूप हो रही है वह ज्ञायक शक्ति इसी ही प्रकार अनंत काल तक रहेगी और अनंत वीर्यको स्फुरित करके अक्षय पद प्राप्त करेगी । वह शुद्ध केवलज्ञानरूप प्रभा मनुष्य-देहरूप मंदिरमें परम शान्तिमय प्रगट हुई है ॥ ५१ ॥

अमृतचन्द्र कलाके तीन अर्थ (सवैया इकतीसा)

अच्छर अरथमैं मगन रहै सदा काल,
महासुख देवा जैसी सेवा कामगविकी ।

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक पक स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्च्चिश्चिचमत्कार पषः ॥ १२ ॥

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहः ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥ १३ ॥

अमल अबाधित अलख गुन गावना है,
पावना परम सुद्ध भावना है भविकी ॥
मिथ्यात तिमिर अपहारा वर्धमान धारा,
जैसी उभै जामलौं किरण दीपैं रविकी ।
ऐसी है अमृतचन्द्र कला त्रिधारूप धरै,
अनुभौ दसा गरंथ टीका बुद्धि कविकी ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—कामगवि = कामधेनु । अलख = आत्मा । पावना = पवित्र । अपहारा = नष्ट करनेवाली । वर्धमान = उन्नतिरूप । उभै जाम = दोपहर । त्रिधारूप = तीन प्रकारकी ।

अर्थः—अमृतचंद्र स्वामीकी चंद्रकला; अनुभवकी, टीकाकी और कविताकी तीनरूप है सो सदाकाल अक्षर अर्थ अर्थात् मोक्ष पदार्थसे भरपूर है, सेवा करनेसे कामधेनुके समान महा सुखदायक है। इसमें निर्मल और शुद्ध परमात्माके गुण-समूहका वर्णन है, परम पवित्र है, निर्मल है और भव्य जीवोंके चिंतवन करने योग्य है, मिथ्यात्वका अंधकार नष्ट करनेवाली है, दोपहरके सूर्यके समान उन्नतिशील है ॥ ५२ ॥

(दोहा)

नाम साध्य साधक कह्यौ, द्वार द्वादसम ठीक ।
समयसार नाटक सकल, पूरन भयौ सटीक ॥ ५३ ॥

अर्थः—साध्य-साधक नामक बारहवाँ अधिकार वर्णन किया और श्रीअमृतचंद्राचार्यकृत समयसारजी समाप्त हुए ॥ ५३ ॥

ग्रंथके अंतमें ग्रंथकारकी आलोचना (दोहा)

अब कवि निज पूरब दसा, कहैं आपसौं आप ।
सहज हरख मनमैं धरै, करै न पश्चाताप ॥ ५४ ॥

अर्थः—स्वरूपका ज्ञान होनेसे प्रसन्नता प्रगट हुई और संतापका अभाव हुआ है इसलिये अब काव्यकर्त्ता स्वयं ही अपनी पूर्वदशाकी आलोचना करते हैं ॥ ५४ ॥

(सवैया इकतीसा)

जो मैं आपा छांड़ि दीनौ पररूप गहि लीनौ,
कीनौ न बसेरौ तहां जहां मेरौ थल है।
भोगनिकौ भोगी ह्वै करमकौ करता भयौ,
हिरदै हमारे राग द्वेष मोह मल है॥
ऐसी विपरीत चाल भई जो अतीत काल,
सो तो मेरे क्रियाकी ममताहीकौ फल है।
ग्यान दृष्टि भासी भयौ क्रियासौं उदासी वह,
मिथ्या मोह निद्रामैं सुपनकोसौ छल है॥ ५५॥

शब्दार्थः—बसेरौ = निवास। थल = स्थान। अतीत काल = पूर्व समय। सुपन = स्वप्न।

अर्थः—मैंने पूर्वकालमें अपना स्वरूप ग्रहण नहीं किया, परपदार्थोंको अपना माना और परम समाधिमें लीन नहीं हुआ, भोगोंका भोगता बनकर कर्मोंका कर्ता हुआ, और हृदय राग-द्वेष-मोहके मलसे मलिन रहा। ऐसी विभाव परिणतिमें हमने ममत्वभाव रक्खा अर्थात् विभाव परिणतिको आत्मपरिणति समझा, उसके फलसे हमारी यह दशा हुई। अब ज्ञानका उदय होनेसे क्रियासे विरक्त हुआ हूँ, पहलेका कहा हुआ जो कुछ हुआ वह मिथ्यात्वकी मोहनिद्रामें स्वप्न कैसा छल हुआ हैं, अब नींद खुल गई॥ ५५॥

(दोहा)

अमृचन्द्र मुनिराजकृत, पूरन भयौ गिरंथ।
समयसार नाटक प्रगट, पंचम गतिको पंथ॥ ५६॥

यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्नं क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल॥ १४॥
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥ १५॥
इति समयसारकलशाः समाप्ताः॥

अर्थः—साक्षात् मोक्षका मार्ग बतलानेवाला श्रीअमृतचंद्रजी मुनिराजकृत नाटक समयसार ग्रंथ संपूर्ण हुआ ॥ ५६ ॥

बारहवें अधिकारका सार

जो साधै सो साधक, जिसको साधा जावे सो साध्य है। मोक्षमार्गमें, "मैं साध्य साधक मैं अबाधक" की नीतिसे आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है, भेद इतना है कि ऊँचेकी अवस्था साध्य और नीचेकी अवस्था साधक है इसलिये केवलज्ञानी अर्हंत सिद्ध पर्याय साध्य और सम्यग्दृष्टी श्रावक साधु अवस्थाएँ साधक हैं।

अनंतानुबंधीकी चौकड़ी और दर्शनमोहनीय त्रयका अनोदय होनेसे सम्यग्दर्शन होता है, और सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही जीव उपदेशका वास्तविक पात्र होता है, सो मुख्य उपदेश तन धन जन आदिसे राग हटाने और व्यसन तथा विषय-वासनाओंसे विरक्त होनेका है। जब लौकिक सम्पत्ति और विषय-वासनाओंसे चित्त विरक्त हो जाता है तब इन्द्र अहमिन्द्रकी सम्पदा भी विरस और निस्सार भासने लगती है, इसलिये ज्ञानी लोग स्वर्गादिकी अभिलाषा नहीं करते, क्योंकि जहाँ तक चढ़कर 'देव इक इन्द्री भया' की उक्तिके अनुसार फिर नीचे पड़ता है उसे उन्नति ही नहीं कहते हैं, और जिस सुखमें दुःखका समावेश है वह सुख नहीं दुःख ही है, इससे विवेकवान स्वर्ग और नर्क दोनोंको एकही सा गिनते हैं।

इस सर्वथा अनित्य संसारमें कोई भी वस्तु तो ऐसी नहीं है जिससे अनुराग किया जावे; क्योंकि भोगोंमें रोग, संयोगमें वियोग, विद्यामें विवाद, शुचिमें ग्लानि, जयमें हार पायी जाती है। भाव यह है कि संसारकी जितनी सुख-सामग्रियाँ हैं वे दुःखमय ही हैं, इससे साताकी सहेली अकेली उदासीनता जानकर उसकी ही उपासना करना चाहिए।

स्व० कविवर पं० बनारसीदासजी विरचित

चतुर्दश गुणस्थानाधिकार

(१३)

मंगलाचरण (दोहा)

जिन-प्रतिमा जिन-सारखी, नमै बनारसि ताहि ।
जाकी भक्ति प्रभावसौं, कीनौ ग्रन्थ निवाहि ॥ १ ॥

शब्दार्थः—सारखी = सदृश । निवाहि = निर्वाह ।

अर्थः—जिसकी भक्तिके प्रसादसे यह ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुआ ऐसी जिनराज सदृश जिन-प्रतिमाको पं० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

जिन-प्रतिबिम्बका माहात्म्य (सवैया इकतीसा)

जाके मुख दरससौं भगतके नैननिकौं,
थिरताकी बानि बढ़ै चंचलता विनसी ।
मुद्रा देखि केवलीकी मुद्रा याद आवै जहां,
जाके आगै इंद्रकी विभूति दीसै तिनसी ॥
जाकौ जस जपत प्रकास जगै हिरदेमैं,
सोइ सुद्धमति होइ [1]हुती जु मलिनसी ।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सोहै जिनकी छबि सुविद्यमान जिनसी ॥ २ ॥

शब्दार्थः—बानि = आदत । विनसी = नष्ट हुई । विभूति = सम्पत्ति । तिनसी (तृणसी) = तिनकाके समान । मलिनसी (मलीन सी) = मैली सरीखी । जिनसी = जिनदेव सदृश ।

---

[1] 'कुमति मलिनसी' ऐसा भी पाठ है ।

अर्थः—जिसके मुखका दर्शन करनेसे भक्तजनोंके नेत्रोंकी चंचलता नष्ट होती है और स्थिर होनेकी आदत बढ़ती है अर्थात् एकदम टकटकी लगाकर देखने लगते हैं, जिस मुद्राके देखनेसे केवली भगवानका स्मरण हो पड़ता है, जिसके सामने सुरेन्द्रकी सम्पदा भी तिनकेके समान तुच्छ भासने लगती है, जिसके गुणोंका गान करनेसे हृदयमें ज्ञानका प्रकाश होता है और जो बुद्धि मलिन थी वह पवित्र हो जाती है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि जिनराजके प्रतिविम्वकी प्रत्यक्ष महिमा है, जिनेन्द्रकी मूर्ति साक्षात् जिनेन्द्रके समान सुशोभित होती है ॥ २ ॥

जिन-मूर्तिपूजकोंकी प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जाके उर अंतर सुद्रिष्टिकी लहर लसी,
विनसी मिथ्यात मोहनिद्राकी ममारखी ।
सैली जिनशासनकी फैली जाकै घट भयौ,
गरबकौ त्यागी षट-दरबकौ पारखी ॥
आगमकै अच्छर परे हैं जाके श्रवनमैं,
हिरदै-भंडारमैं समानी वानी आरखी ।
कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सोई जिन प्रतिमा प्रवांनै जिन सारखी ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—सुद्रिष्टि = सम्यग्दर्शन । ममारखी = मूर्छा—अचेतना । सैली (शैली) = पद्धति । गरब (गर्व) = अभिमान । पारखी = परीक्षक । श्रवन = कान । समानी = प्रवेश कर गई । आरखी (आर्षित) = ऋषि प्रणीत । अलप (अल्प) = थोड़ी ।

अर्थः—पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिसके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनकी तरंग उठकर मिथ्यात्व मोहनीयजनित निद्राकी असावधानी नष्ट हो गई है, जिनके हृदयमें जैनमतकी पद्धति प्रगट हुई है, जिन्होंने मिथ्याभिमानका त्याग किया है, जिन्हें छह द्रव्योंके स्वरूपकी पहिचान हुई है, जिन्हें अरहंत कथित आगमका उपदेश श्रवणगोचर हुआ है, जिनके हृदयरूप भंडारमें जैन ऋषियोंके वचन प्रवेश कर गये हैं, जिनका संसार निकट आया है वे ही जिन-प्रतिमाको जिनराज सदृश मानते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञा (चौपाई)

जिन-प्रतिमा जन दोष निकंदै ।
सीस नमाइ बनारसि बंदै ॥
फिरि मनमांहि विचारै ऐसा ।
नाटक गरंथ परम पद जैसा ॥ ४ ॥
परम तत्त परचै इस मांही ।
गुनथानककी रचना नांही ॥
यामैं गुनथानक रस आवै ।
तो गरंथ अति सोभा पावै ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—निकंदै = नष्ट करे। गुनथानक (गुणस्थान) = मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्था-विशेषको गुणस्थान कहते हैं। यामैं = इसमें।

अर्थः—जिनराजकी प्रतिमा भक्तोंके मिथ्यात्वको दूर करती है। उस जिन-प्रतिमाको पं० बनारसीदासजीने नमस्कार करके मनमें ऐसा विचार किया कि यह नाटक समयसार ग्रंथ परम पदरूप है और इसमें आत्मतत्त्वका व्याख्यान तो है, परन्तु गुणस्थानोंका वर्णन नहीं है। यदि इसमें गुणस्थानोंकी चर्चा सम्मिलित हो तो ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हो सकता है ॥ ४ ॥ ५ ॥

(दोहा)

इह विचारि संछेपसौं, गुनथानक रस चोज ।
वरनन करै बनारसी, कारन सिव-पथ खोज ॥ ६ ॥
नियत एक विवहारसौं, जीव चतुर्दस भेद ।
रंग जोग बहु विधि भयौ, ज्यौं पट सहज सुफेद ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—संछेपसौं = थोड़ेमें। जोग (योग) = संयोग। पट = वस्त्र।

अर्थः—यह सोचकर पंडित बनारसीदासजी शिव-मार्ग खोजनेमें कारणभूत गुणस्थानोंका संक्षिप्त वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥ जीवपदार्थ निश्चयनयसे एकरूप है और व्यवहारनयसे गुणस्थानोंके भेदसे चौदह प्रकारका है। जिस प्रकार श्वेत वस्त्र रंगोंके संयोगसे अनेक रंगका हो जाता है, उसी प्रकार मोह और योगके संयोगसे संसारी जीवोंमें चौदह अवस्थाएँ पायी जाती हैं ॥ ७ ॥

चौदह गुणस्थानोंके नाम (सवैया इकतीसा)

प्रथम मिथ्यात दूजौ सासादान तीजौ मिश्र,
चतुर्थ अव्रत पंचमौ विरत रंच है।
छट्ठौ परमत्त नाम सातमौ अपरमत्त,
आठमो अपूरवकरन सुख संच है॥
नौमौ अनिवृत्तिभाव दशमो सूच्छम लोभ,
एकादशमो सु उपसांत मोह बंच है।
द्वादशमो खीनमोह तेरहो सजोगी जिन,
चौदहो अजोगी जाकी थिति अंक पंच है॥ ८॥

शब्दार्थः—रंच = किंचित्। सुखसंच = आनंदका संग्रह। वंच (वंचकता = ठगाई—धोखा। थिति = स्थिति। अंक पंच = पाँच अक्षर।

अर्थः—पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, तीसरा मिश्र, चौथा अव्रत-सम्यग्दृष्टि, पाँचवाँ देशव्रत, छठवाँ प्रमत्त मुनि, सातवाँ अप्रमत्त मुनि, आठवाँ अपूर्वकरण, नववाँ अनिवृत्तिकरण, दशवाँ सूक्ष्मलोभ, ग्यारहवाँ उपशांतमोह, बारहवाँ क्षीणमोह, तेरहवाँ सयोगी-जिन और चौदहवाँ अयोगी-जिन जिसकी स्थिति अ इ उ ऋ ऌ इन पाँच अक्षरोंके उच्चारण-कालके बराबर है ॥ ८ ॥

मिथ्यात्व गुणस्थानका वर्णन (दोहा)

बरनै सब गुनथानके, नाम चतुर्दस सार।
अब बरनौं मिथ्यातके, भेद पंच परकार॥ ९॥

अर्थः—गुणस्थानोंके चौदह मुख्य नाम बतलाये, अब पाँच प्रकारके मिथ्यात्वका वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

मिथ्यात्व गुणस्थानमें पाँच प्रकारके मिथ्यात्वका उदय रहता है।

(सवैया इकतीसा)

प्रथम एकांत नाम मिथ्यात अभिग्रहीत,
दूजौ विपरीत अभिनिवेसिक गोत है ।
तीजौ विनै मिथ्यात अनाभिग्रह नाम जाकौ,
चौथौ संसै जहां चित्त भौंरकौसौ पोत है ॥
पांचमौ अग्यान अनाभोगिक गहलरूप,
जाकै उदै चेतन अचेतसौ होत है ।
एई पांचौं मिथ्यात जीवकौं जगमैं भ्रमावैं,
इनकौ विनास समकितकौ उदोत है ॥ १० ॥

शब्दार्थः—गोत = नाम । भौंर = भँवर । पोत = जहाज । गहल = अचेतता । उदोत = प्रगट होना ।

अर्थः—पहला अभिग्रहीत अर्थात् एकान्त मिथ्यात्व है, दूसरा अभिनिवेशिक अर्थात् विपरीत मिथ्यात्व है, तीसरा अनाभिग्रह अर्थात् विनय मिथ्यात्व है, चौथा चित्तको भँवरमें पड़े हुए जहाजके समान डाँवाडोल करनेवाला संशय मिथ्यात्व है, पाँचवाँ अनाभोगिक अर्थात् अज्ञान मिथ्यात्व सर्वथा असावधानीकी मूर्ति है। ये पाँचों मिथ्यात्व जीवको संसारमें भ्रमण कराते हैं और इनके नष्ट होनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ॥ १० ॥

एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

जो इकंत नय पच्छ गहि, छकै कहावै दच्छ ।
सो इकंतवादी पुरुष, मृषावंत परतच्छ ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—मृषावंत = झूठा । परतच्छ । (प्रत्यक्ष) = साक्षात् ।

अर्थः—जो किसी एक नयका हठ ग्रहण करके उसीमें लीन होकर अपनेको तत्त्ववेत्ता कहता है वह पुरुष एकान्तवादी साक्षात् मिथ्यात्वी है ।। ११ ।।

विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

ग्रंथ उकत पथ उथपि जो, थापै कुमत स्वकीउ ।
सुजस हेतु गुरुता गहै, सो विपरीती जीउ ।। १२ ।।

शब्दार्थः—उकत = कहा हुआ । उथपि = खंडन करके । गुरुता = बड़प्पन ।

अर्थः—जो आगमकथित मार्गका खंडन करके स्नान, छुआछूत आदिमें धर्म बतलाकर अपना कपोलकल्पित पाखंड पुष्ट करता है व अपनी नामवरीके लिये बड़ा बना फिरता है वह जीव विपरीत मिथ्यात्वी है ।। १२ ।।

विनय मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

देव कुदेव सुगुरु कुगुरु, ठानै समान जु कोइ ।
नमै भगतिसौं सबनिकौं, विनै मिथ्याती सोइ ।। १३ ।।

अर्थः—जो सुदेव–कुदेव, सुगुरु–कुगुरु, सत्‌शास्त्र–कुशास्त्र, सबको एकसा गिनता है और विवेकरहित सबकी भक्ति वन्दना करता है वह जीव विनय-मिथ्यात्वी है ।। १३ ।।

संशय मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

जो नाना विकलप गहै, रहै हियै हैरान ।
थिर ह्वै तत्त्व न सद्दहै, सो जिय संसयवान ।। १४ ।।

अर्थः—जो जीव अनेक कोटिका अवलम्बन करके चंचल चित्त रहता है और स्थिर चित्त होकर पदार्थका यथार्थ श्रद्धान नहीं करता वह संशय-मिथ्यात्वी है ।। १४ ।।

अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

जाकौ तन दुख दहलसौं, सुरत होत नहि रंच ।
गहल रूप वरतै सदा, सो अग्यान तिरजंच ।। १५ ।।

शब्दार्थः—सुरत = सुध । रंच = जरा भी । गहल = अचेतता ।

अर्थः—जिसको शारीरिक कष्टके उद्वेगसे किंचित् मात्र भी सुध नहीं है और सदैव तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ रहता है, वह जीव अज्ञानी है, पशुके समान है ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वके दो भेद (दोहा)

पंच भेद मिथ्यातके, कहै जिनागम जोइ ।
सादि अनादि सरूप अब, कहूं अवस्था दोइ ॥ १६ ॥

अर्थः—जैन शास्त्रोंमें जो पाँच प्रकारका मिथ्यात्व वर्णन किया है उसके सादि और अनादि दोनोंका स्वरूप कहता हूँ ॥ १६ ॥

सादि मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

जो मिथ्या दल उपसमै, ग्रंथि भेदि बुध होइ ।
फिर आवै मिथ्यातमैं, सादि मिथ्याती सोइ ॥ १७ ॥

अर्थः—जो जीव दर्शनमोहनीयका दल अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्‌प्रकृतिको उपशम करके मिथ्यात्व गुणस्थानसे चढ़कर सम्यक्त्वका स्वाद लेता है और फिर मिथ्यात्वमें गिरता है वह सादि मिथ्यात्वी है ॥ १७ ॥

अनादि मिथ्यात्वका स्वरूप (दोहा)

जिनि ग्रंथी भेदी नहीं, ममता मगन सदीव ।
सो अनादि मिथ्यामती, विकल बहिर्मुख जीव ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—विकल = मूर्ख । बहिर्मुख = पर्यायबुद्धि ।

अर्थः—जिसने मिथ्यात्वका कभी अनोदय नहीं किया, सदा शरीरादिसे अहंबुद्धि रखता आया है वह मूर्ख आत्मज्ञानसे शून्य अनादि मिथ्यात्वी है ॥ १८ ॥

सासादन गुणस्थानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा (दोहा)

कह्यौ प्रथम गुनथान यह, मिथ्यामत अभिधान ।
करूं [1]अलप वरनन अबै, सासादन गुनथान ॥ १९ ॥

---

[1] 'अलपरूप अब बरनवौं' ऐसा भी पाठ है।

अर्थः—यह पहले मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप कहा, अब संक्षेपसे सासादन गुणस्थानका कथन करते हैं ॥ १९ ॥

सासादन गुणस्थानका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ छुधित पुरुष खाइ खीर खांड,
वौन करै पीछेकौ लगार स्वाद पावै है ।
तैसैं चढ़ि चौथै पांचए कै छट्ठे गुनथान,
काहू उपसमीकौ कषाय उदै आवै है ॥
ताही समै तहांसौं गिरै प्रधान दसा त्यागी,
मिथ्यात अवस्थाकौ अधोमुख ह्वै धावै है ।
बीचि एक समै वा छ आवली प्रवांन रहै,
सोई सासादान गुनथानक कहावै है ॥ २० ॥

शब्दार्थः—खांड = शक्कर । वौन = वमन । प्रधान = ऊंचा । अधोमुख = नीचे । आवली = असंख्यात समयोंकी एक आवली होती है ।

अर्थः—जिस प्रकार कोई भूखा मनुष्य शक्कर मिली हुई खीर खावे और वमन होनेके बाद उसका किंचित् मात्र स्वाद लेता रहे, उसी प्रकार चौथे पाँचवें छठवें गुणस्थान तक चढ़े हुए किसी उपशमी सम्यक्त्वीको कषायका उदय होता है तो उसी समय वहाँसे मिथ्यात्वमें गिरता है, उस गिरती हुई दशामें एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली तक जो सम्यक्त्वका किंचित् स्वाद मिलता है वह सासादन गुणस्थान है।

विशेषः—यहाँ अनंतानुबंधी चौकड़ीमेंसे किसी एकका उदय रहता है ॥ २० ॥

तीसरा गुणस्थान कहनेकी प्रतिज्ञा (दोहा)

सासादन गुनथान यह, भयौ समापत बीय ।
मिश्रनाम गुनथान अब, वरनन करूं तृतीय ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—बीय (बीजो[1]) = दूसरा।

अर्थः—यह दूसरे सासादन गुणस्थानका स्वरूप समाप्त हुआ, अब तीसरे मिश्र गुणस्थानका वर्णन करते हैं॥ २१॥

तृतीय गुणस्थानका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

उपसमी समकिती कै तौ सादि मिथ्यामती,
दुहुंनिकौं मिश्रित मिथ्यात आइ गहै है।
अनंतानुबंधी चौकरीकौ उदै नाहि जामैं,
मिथ्यात समै प्रकृति मिथ्यात न रहै है॥
जहां सद्दहन सत्यासत्यरूप समकाल,
ग्यानभाव मिथ्याभाव मिश्र धारा बहै है।
याकी थिति अंतर मुहूरत उभयरूप,
ऐसौ मिश्र गुनथान अचारज कहै है॥ २२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि उपशम सम्यग्दृष्टी अथवा सादि मिथ्यादृष्टी जीवको यदि मिश्र मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृतिका उदय हो पड़े और अनन्तानुबंधीकी चौकड़ी तथा मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन छह प्रकृतियोंका उदय न हो, वहाँ एकसाथ सत्यासत्य श्रद्धानरूप ज्ञान और मिथ्यात्वमिश्रित भाव रहते हैं वह मिश्र गुणस्थान है, इसका काल अंतर्मुहूर्त है।

भावार्थः—यहाँ गुड़ मिश्रित दहीके समान सत्यासत्य मिश्रित भाव रहते हैं॥ २२॥

चौथा गुणस्थान वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा (दोहा)

मिश्र दसा पूरन भई, कही यथामति भाखि।
अब चतुर्थ गुनथान विधि, कहौं जिनागम साखि॥ २३॥

---

[1] यह शब्द गुजराती भाषाका है।

अर्थः—अपने क्षयोपशमके अनुसार मिश्र गुणस्थानका कथन समाप्त हुआ, अब जिनागमकी साक्षीपूर्वक चौथे गुणस्थानका वर्णन करता हूँ ॥ २३ ॥

चौथे गुणस्थानका वर्णन (सवैया इकतीसा)

केई जीव समकित पाइ अर्ध पुदगल-
परावर्त काल तांई चोखे होइ चितके ।
केई एक अंतरमुहूरतमैं गंठि भेदि,
मारग उलंघि सुख वेदै मोख वितके ॥
तातैं अंतरमुहूरतसौं अर्धपुदगल लौं,
जेते समै होहिं तेते भेद समकितके ।
जाही समै जाकौं जब समकित होइ सोई,
तबहीसौं गुन गहै दोस दहै इतके ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—चोखे = अच्छे । वेदै = भोगे । दहै = जलावे । इतके = संसारके ।

अर्थः—जिस किसी जीवके संसार संसरणका काल अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन और कमसे कम अंतर्मुहूर्त शेष रहता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन ग्रहण करके चतुर्गतिरूप संसारको पार करनेवाले मोक्षसुखकी वानगी लेता है। अंतर्मुहूर्तसे लगाकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन कालके जितने समय हैं उतने ही सम्यक्त्वके भेद हैं। जिस समय जीवको सम्यक्त्व प्रगट होता है तभीसे आत्मगुण प्रगट होने लगते हैं और सांसारिक दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

(दोहा)

अध अपूर्व अनिवृत्ति त्रिक, करन करै जो कोइ ।
मिथ्या गंठि विदारि गुन, प्रगटै समकित सोइ ॥ २५ ॥

अर्थः—जो अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण पूर्वक मिथ्यात्वका अनोदय करता है उसे आत्मानुभव गुण प्रगट होता है और वही सम्यक्त्व है ॥ २५ ॥

सम्यक्त्वके आठ विवरण (दोहा)

समकित उतपति चिहन गुन, भूषन दोष विनास।
अतीचार जुत अष्ट विधि, वरनौं विवरन तास॥ २६॥

अर्थः—सम्यक्त्वका स्वरूप, उत्पत्ति, चिह्न गुण, भूषण, दोष, नाश और अतीचार ये सम्यक्त्वके आठ विवरण हैं॥ २६॥

(१) सम्यक्त्वका स्वरूप (चौपाई)

सत्यप्रतीति अवस्था जाकी।
दिन दिन रीति गहै समताकी॥
छिन छिन करै सत्यकौ साकौ।
समकित नाम कहावै ताकौ॥ २७॥

अर्थः—आत्मस्वरूपकी सत्यप्रतीति होना, दिन-प्रतिदिन समताभावमें उन्नति होना, और क्षण क्षणपर परिणामोंकी विशुद्धि होना इसीका नाम सम्यग्दर्शन है॥२७॥

(२) सम्यक्त्वकी उत्पत्ति (दोहा)

कै तौ सहज सुभाउकै, उपदेसै गुरु कोइ।
चहुंगति सैनी जीउकौ, सम्यकदरसन होइ॥ २८॥

अर्थः—चतुर्गतिमें सैनी जीवको सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सो अपने-आप अर्थात् निसर्गज और गुरुके उपदेशसे अर्थात् अधिगमज होता है॥ २८॥

(३) सम्यक्त्वके चिह्न (दोहा)

आपा परिचै निज विषै, उपजै नहिं संदेह।
सहज प्रपंच रहित दसा, समकित लच्छन एह॥ २९॥

अर्थः—अपनेमें ही आत्मस्वरूपका परिचय पाता है, कभी सन्देह नहीं उपजता और छल-कपटरहित वैराग्यभाव रहता है, यही सम्यग्दर्शनका चिह्न है॥ २९॥

(४) सम्यग्दर्शनके आठ गुण (दोहा)

करुना वच्छल सुजनता, आतम निंदा पाठ ।
समता भगति विरागता, धरमराग गुन आठ ॥ ३० ॥

अर्थः—करुणा, मैत्री, सज्जनता, स्वलघुता, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्मानुराग ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं ॥ ३० ॥

(५) सम्यक्त्वके पाँच भूषण (दोहा)

चित प्रभावना भावजुत, हेय उपादै वानि ।
धीरज हरख प्रवीनता, भूषन पंच बखानि ॥ ३१ ॥

अर्थः—जैनधर्मकी प्रभावना करनेका अभिप्राय, हेय-उपादेयका विवेक, धीरज, सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका हर्ष और तत्त्व-विचारमें चतुराई ये पाँच सम्यग्दर्शनके भूषण हैं ॥ ३१ ॥

(६) सम्यग्दर्शन पच्चीस दोष वर्जित होता है (दोहा)

अष्ट महामद अष्ट मल, षट आयतन विशेष ।
तीन मूढ़ता संजुगत, दोष पचीसौं एष ॥ ३२ ॥

अर्थः—आठ मद, आठ मल, छह अनायतन और तीन मूढ़ता ये सब मिलाकर पच्चीस दोष हैं ॥ ३२ ॥

आठ महामदके नाम (दोहा)

जाति लाभ कुल रूप तप, बल विद्या अधिकार ।
इनकौ गरब जु कीजिये, यह मद अष्ट प्रकार ॥ ३३ ॥

अर्थः—जाति, धन, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और अधिकार इनका गर्व करना यह आठ प्रकारका महामद है ॥ ३३ ॥

आठ मलोंके नाम (चौपाई)

आसंका अस्थिरता वांछा ।
ममता द्रिष्टि दसा [1]दुरगंछा ॥

---

[1] ग्लानि ।

वच्छल रहित दोष पर भाखै ।
चित प्रभावना मांहि न राखै ॥ ३४ ॥

अर्थः—जिन-वचनमें सन्देह, आत्मस्वरूपसे चिगना, विषयोंकी अभिलाषा, शरीरादिसे ममत्व, अशुचिमें ग्लानि, सहधर्मियोंसे द्वेष, दूसरोंकी निंदा, ज्ञानकी वृद्धि आदि धर्म-प्रभावनाओंमें प्रमाद ये आठ मल सम्यग्दर्शनको दूषित करते हैं ॥ ३४ ॥

छह अनायतन (दोहा)

कुगुरु कुदेव कुधर्म धर, कुगुरु कुदेव कुधर्म ।
इनकी करै सराहना, यह षडायतन कर्म ॥ ३५ ॥

अर्थः—कुगुरु, कुदेव, कुधर्मके उपासकों और कुगुरु, कुदेव, कुधर्मकी प्रशंसा करना ये छह अनायतन हैं ॥ ३५ ॥

तीन मूढ़ताके नाम और पचीस दोषोंका जोड़ (दोहा)

देवमूढ़ गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता पोष ।
आठ आठ षट तीन मिलि, ए पचीस सब दोष ॥ ३६ ॥

अर्थः—देवमूढ़ता अर्थात् सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानना, गुरुमूढ़ता अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिका स्वरूप नहीं समझना और धर्ममूढ़ता अर्थात् जिनभाषित धर्मका स्वरूप नहीं समझना ये तीन मूढ़ता हैं। आठ मद, आठ मल, छह अनायतन तथा तीन मूढ़ता सब मिलाकर पच्चीस दोष हुए ॥ ३६ ॥

(७) पाँच कारणोंसे सम्यक्त्वका विनाश होता है (दोहा)

ग्यान गरब मति मंदता, निठुर वचन उदगार ।
रुद्रभाव आलस दसा, नास पंच परकार ॥ ३७ ॥

अर्थः—ज्ञानका अभिमान, बुद्धिकी हीनता, निर्दय वचनोंका भाषण, क्रोधी परिणाम और प्रमाद ये पाँच सम्यक्त्वके घातक हैं ॥ ३७ ॥

(८) सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार (दोहा)

लोक हास भय भोग रुचि, अग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगमकी भगति, मृषा दर्सनी सेव॥ ३८॥

अर्थः—लोक-हास्यका भय अर्थात् सम्यक्त्वरूप प्रवृत्ति करनेमें लोगोंकी हँसीका भय, इन्द्रियोंके विषय भोगनेमें अनुराग, आगामी कालकी चिन्ता, कुशास्त्रोंकी भक्ति और कुदेवोंकी सेवा ये सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार हैं॥ ३८॥

(चौपाई)

अतीचार ए पंच परकारा।
समल करहिं समकितकी धारा॥
दूषन भूषन गति अनुसरनी।
दसा आठ समकितकी वरनी॥ ३९॥

अर्थः—ये पाँच प्रकारके अतीचार सम्यग्दर्शनकी उज्ज्वल परिणतिको मलिन करते हैं। यहाँ तक सम्यग्शनको सदोष व निर्दोष दशा प्राप्त करानेवाले आठ विवरण वर्णन किये॥ ३९॥

मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है

(दोहा)

प्रकृति सात अब मोहकी, कहूं जिनागम [1]जोइ।
जिनकौ उदै निवारिकै, सम्यग्दरसन होइ॥ ४०॥

अर्थः—मोहनीयकर्मकी जिन सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उन्हें जिनशासनके अनुसार कहता हूँ॥ ४०॥

मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके नाम (सवैया इकतीसा)

चारित मोहकी च्यारि मिथ्यातकी तीन तामैं,
प्रथम प्रकृति अनंतानुबंधी कोहनी।

---

[1] देखकर।

बीजी महा-मानरसभीजी मायामयी तीजी,
चौथी महालोभ दसा परिग्रह पोहनी॥
पाँचईं मिथ्यातमति छट्टी मिश्रपरनति,
सातईं समै प्रकृति समकित मोहनी।
एई षट विगवनितासी एक कुतियासी,
सातौं मोहप्रकृति कहावैं सत्ता रोहनी॥ ४१॥

शब्दार्थः—चारितमोह = जो आत्माके चारित्र गुणका घात करे। अनंतानुबंधी = जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते—अनंत संसारके कारणभूत मिथ्यात्वके साथ जिनका बंध होता है। कोहनी = क्रोध। [1]बीजी = दूसरी। पोहनी = पुष्ट करनेवाली। विगवनिता = व्याघ्रनी। कुतिया = कूकरी—अथवा कर्कशा स्त्री। रोहनी = ढँकनेवाली।

अर्थः—सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन ऐसी सात प्रकृतियाँ हैं। उनमेंसे पहली अनंतानुबंधी क्रोध, दूसरी अभिमानके रँगसे रँगी हुई अनंतानुबंधी मान, तीसरी अनंतानुबंधी माया, चौथी परिग्रहको पुष्ट करनेवाली अनंतानुबंधी लोभ, पाँचवीं मिथ्यात्व, छट्ठी मिश्र मिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्त्वमोहनीय है। इनमेंसे छह प्रकृतियाँ व्याघ्रनीके समान सम्यक्त्वके पीछे पड़कर भक्षण करनेवाली हैं, और सातवीं कुतिया अर्थात् कुत्ती वा कर्कशा स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकंप वा मलिन करनेवाली है। इस प्रकार ये सातों प्रकृतियाँ सम्यक्त्वके सद्भावको रोकती हैं॥ ४१॥

सम्यक्त्वोंके नाम (छप्पय छन्द)

सात प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपसम मंडित।
सात प्रकृति छय करन-हार छायिकी अखंडित॥
सातमांहि कछु खपैं, कछुक उपसम करि रक्खै।
सो छय उपसमवंत, मिश्र समकित रस रक्खै॥

---

[1] यह शब्द गुजरांती भाषाका है।

षट प्रकृति उपसमै वा खपैं, अथवा छय उपसम करै।
सातई प्रकृति जाके उदय, सो वेदक समकित धरै॥ ४२॥

शब्दार्थ:—अखंडित = अविनाशी। चक्खै = स्वाद लेवे। खपैं = क्षय करे।

अर्थ:—जो ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंको उपशमाता है वह औपशमिकसम्यग्दृष्टी है। सातों प्रकृतियोंका क्षय करनेवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टी है, यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता। सात प्रकृतियोंमेंसे कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्वी है, उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद मिलता है। छह प्रकृतियाँ उपशम हों वा क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातवीं प्रकृति सम्यक्त्व मोहनीयका उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्वधारी होता है॥ ४२॥

सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन (दोहा)

छयउपसम वरतै त्रिविधि, वेदक च्यारि प्रकार।
छायक उपसम जुगल जुत, नौधा समकित धार॥ ४३॥

शब्दार्थ:—त्रिविधि = तीन प्रकारका। जुगल = दो। जुत = सहित

अर्थ:—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका है, और उपशम तथा क्षायिक ये दो भेद और मिलानेसे सम्यक्त्वके नव भेद होते हैं॥ ४३॥

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन (दोहा)

च्यारि खिपै त्रय उपसमैं, पन छै उपसम दोइ।
छै षट् उपसम एक यौं, छयउपसम त्रिक होइ॥ ४४॥

अर्थ:—(१) चारका[1] अर तीनका[2] उपशम, (२) पाँचका[3] क्षय दोका[4] उपशम, (३) छहका[5] क्षय एकका उपशम, इस प्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेद हैं॥ ४४॥

---

[1] अनंतानुबंधीकी चौकड़ी। [2] दर्शनमोहनीयका त्रिक। [3] अनंतानुबंधी चौकड़ी और महामिथ्यात्व। [4] मिश्रमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। [5] अनंतानुबंधीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्र।

वेदकसम्यक्त्वके चार भेद (दोहा)

जहां च्यारि परकिति खिपहिं, द्वै उपसम इक वेद।
छय-उपसम वेदक दसा, तासु प्रथम यह भेद॥ ४५॥
पंच खिपैं इक उपसमै, इक वेदै जिहि ठौर।
सो छय-उपसम वेदकी, दसा दुतिय यह और॥ ४६॥
छै षट वेदै एक जा, छायक वेदक सोइ।
षट उपसम इक प्रकृति विद, उपसम वेदक होइ॥ ४७॥

अर्थः—(१) जहाँ [1]चार प्रकृतियोंका क्षय [2]दोका उपशम और [3]एकका उदय है वह प्रथम क्षयोपशमवेदकसम्यक्त्व है, (२) जहाँ [4]पाँच प्रकृतियोंका क्षय [5]एकका उपशम और एकका उदय है वह द्वितीय क्षयोपशमवेदकसम्यक्त्व है, (३) जहाँ [6]छह प्रकृतियोंका क्षय और एकका उदय है वह क्षायिकवेदकसम्यक्त्व है, (४) जहाँ [7]छह प्रकृतियोंका उपशम और एकका उदय है वह उपशमवेदकसम्यक्त्व है॥ ४५॥ ४६॥ ४७॥

यहाँ क्षायिक व उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप न कहनेका कारण (दोहा)

उपसम छायककी दसा, पूरब षट पदमांहि।
कही प्रगट अब पुनरुकति, कारन वरनी नांहि॥ ४८॥

शब्दार्थः—पुनरुकति (पुनरुक्ति) = बार बार कहना।

अर्थः—क्षायिक और उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप पहले ४२वें छप्पय छन्दमें कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दोषके कारण यहाँ नहीं लिखा॥ ४८॥

नव प्रकारके सम्यक्त्वोंका विवरण (दोहा)

छय-उपसम वेदक खिपक, उपसम समकित च्यारि।
तीन च्यारि इक इक मिलत, सब नव भेद विचारि॥ ४९॥

---

[1] अनंतानुबंधीकी चौकड़ी। [2] महामिथ्यात्व और मिश्र। [3] सम्यक्प्रकृति। [4] अनंतानुबंधी चौकड़ी और महामिथ्यात्व। [5] मिश्र। [6] अनंतानुबंधीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्र। [7] अनंतानुबंधीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्र।

अर्थः—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका और उपशमसम्यक्त्व एक तथा क्षायिकसम्यक्त्व एक, इस प्रकार सम्यक्त्वके मूल भेद चार और उत्तर भेद नव हैं ॥ ४९ ॥

प्रतिज्ञा (सोरठा)

अब निहचै विवहार, अरु सामान्य विशेष विधि ।
कहौं च्यारि परकार, रचना समकित भूमिकी ॥ ५० ॥

अर्थः—सम्यक्त्व सत्ताकी निश्चय, व्यवहार, सामान्य और विशेष ऐसी चार विधि कहते हैं ॥ ५० ॥

सम्यक्त्वके चार प्रकार (सवैया इकतीसा)

मिथ्यामति-गंठि-भेदि जगी निरमल जोति,
जोगसौं अतीत सो तो निहचै प्रमानियै ।
वहै दुंद दसासौं कहावै जोग मुद्रा धरै,
मति श्रुतग्यान भेद विवहार मानियै ॥
चेतना चिहन पहिचानि आपा पर वेदै,
पौरुष अलख तातैं सामान्य बखानियै ।
करै भेदाभेदकौ विचार विसतार रूप,
हेय गेय उपादेयसौं विशेष जानियै ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—गंठि (ग्रंथि) = गाँठ । भेदि = नष्ट करके । अतीत = रहित । दुंददसा = सविकल्पता ।

अर्थः—मिथ्यात्वके नष्ट होनेसे मन वचन कायके अगोचर जो आत्माकी निर्विकार श्रद्धानकी ज्योति प्रकाशित होती है, उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये । जिसमें योग, मुद्रा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके विकल्प हैं, वह व्यवहार सम्यक्त्व जानना । ज्ञानकी अल्प शक्तिके कारण मात्र चेतना चिह्नके धारक आत्माको पहिचानकर निज और परके स्वरूपका जानना सो सामान्य सम्यक्त्व है, और हेय ज्ञेय उपादेयके भेदाभेदको सविस्ताररूपसे समझना सो विशेष सम्यक्त्व है ॥ ५१ ॥

चतुर्थ गुणस्थानके वर्णनका उपसंहार (सोरठा)

थिति सागर तेतीस, अंतर्मुहूरत एक वा।
अविरतसमकित रीति, यह चतुर्थ गुनथान इति ॥ ५२ ॥

अर्थः—अव्रतसम्यग्दृष्टी गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। यह चौथे गुणस्थानका कथन समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अणुव्रतगुणस्थानका वर्णन प्रतिज्ञा (दोहा)

अब वरनौं इकईस गुन, अरु बावीस अभक्ष।
जिनके संग्रह त्यागसौं, सोभै श्रावक पक्ष ॥ ५३ ॥

अर्थः—जिन गुणोंके ग्रहण करने और अभक्ष्योंके त्यागनेसे श्रावकका पाँचवाँ गुणस्थान सुशोभित होता है, ऐसे इक्कीस गुणों और बाईस अभक्ष्योंका वर्णन करता हूँ ॥ ५३ ॥

श्रावकके इक्कीस गुण (सवैया इकतीसा)

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत,
परदोषकौ ढकैया पर-उपगारी है।
सौमदृष्टी गुनग्राही गरिष्ट सबकौं इष्ट,
शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥
विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य,
न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।
सहज विनीत पापक्रियासौं अतीत ऐसौ,
श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है॥ ५४ ॥

शब्दार्थः—प्रसंत = मंद कषायी। प्रतीतवंत = श्रद्धालु। गरिष्ट = सहनशील। इष्ट = प्रिय। शिष्टपक्षी = सत्य पक्षमें सहमत। दीरघ विचारी = अग्रसोची। विशेषज्ञ = अनुभवी। रसज्ञ = मर्मका जाननेवाला। कृतज्ञ = दूसरोंके उपकारको नहीं भूलनेवाला। मध्य व्यवहारी = दीनता और अभिमान रहित। विनीत = नम्र। अतीत = रहित।

अर्थः—लज्जा, दया, मंदकषाय, श्रद्धा, दूसरोंके दोष ढाँकना, परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सहनशीलता, सर्वप्रियता, सत्य पक्ष, मिष्टवचन, अग्रसोची, विशेषज्ञान, शास्त्रज्ञानकी मर्मज्ञता, कृतज्ञता, तत्त्वज्ञानी, धर्मात्मा, न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरणसे रहित। ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकोंको ग्रहण करना चाहिये ॥ ५४ ॥

बाईस अभक्ष्य (कवित्त)

ओरा घोरबरा निसिभोजन,
बहुबीजा बैंगन संधान।
पीपर बर ऊमर कठूंबर,
पाकर जो फल होइ अजान ॥
कंदमूल माटी विष आमिष,
मधु माखन अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुसार चलित रस,
जिनमत ए बाईस अखान ॥ ५५ ॥

शब्दार्थः—घोरबरा = द्विदल[1]। निसिभोजन = रात्रिमें आहार करना। संधान = अथाना, मुरब्बा। आमिष = मांस। मधु = शहद। मदिरा = शराब। अति तुच्छ = बहुत छोटे। तुषार = बर्फ। चलित रस = जिनका स्वाद बिगड़ जाय। अखान = अभक्ष्य।

अर्थः—(१) ओला (२) द्विदल (३) रात्रिभोजन (४) बहुबीजा[2] (५) बैंगन (६) अथाना, मुरब्बा (७) पीपर फल (८) बड़फल (९) ऊमर फल (१०) कठूमर (११) पाकर फल (१२) [3]अजान फल (१३) कंदमूल (१४) माटी (१५) विष (१६) मांस (१७) शहद (१८) मक्खन (१९) शराब (२०) अतिसूक्ष्म फल (२१) बर्फ (२२) चलित रस ये बाईस अभक्ष्य जैनमतमें कहे हैं ॥ ५५ ॥

---

[1] जिन अन्नोंकी दो दालें होती हैं, उन अन्नोंके साथ बिना गरम किया हुआ अर्थात् कच्चा दूध, दही, मठा आदि मिलाकर खाना अभक्ष्य है। [2] जिन बहुबीजनके घर नाहिं, ते सब बहुबीजा कहलाहिं। 'क्रियाकोश' [3] जिन्हें पहिचानते ही नहीं हैं।

प्रतिज्ञा (दोहा)

अब पंचम गुनथानकी, रचना बरनौं अल्प ।
जामैं एकादस दसा, प्रतिमा नाम विकल्प ॥ ५६ ॥

अर्थः—अब पाँचवें गुणस्थानका थोड़ासा वर्णन करते हैं, जिसमें ग्यारह प्रतिमाओंका विकल्प है ॥ ५६ ॥

ग्यारह प्रतिमाओंके नाम (सवैया इकतीसा)

दर्सनविसुद्धकारी बारह विरतधारी,
सामाइकचारी पर्वप्रोषध विधि वहै ।
सचितकौ परहारी दिवा अपरस नारी,
आठौं जाम ब्रह्मचारी निरारंभी ह्वै रहै ॥
पाप परिग्रह छंडै पापकी न शिक्षा मंडै,
कोऊ याके निमित्त करै सो वस्तु न गहै ।
ऐते देसव्रतके धरैया समकिती जीव,
ग्यारह प्रतिमा तिन्है भगवंतजी कहै ॥ ५७ ॥

अर्थः—(१) सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि उत्पन्न करनेवाली दर्शन प्रतिमा है, (२) बारह व्रतोंका आचरण व्रत प्रतिमा है, (३) सामायिककी प्रवृत्ति सामायिक प्रतिमा है, (४) पर्वमें उपवास-विधि करना प्रोषध प्रतिमा है, (५) सचित्तका त्याग सचित्तविरत प्रतिमा है, (६) दिनमें स्त्री-स्पर्शका त्याग दिवामैथुनव्रत प्रतिमा है, आठों पहर स्त्रीमात्रका त्याग ब्रह्मचर्य प्रतिमा है, (८) सर्व आरंभका त्याग निरारंभ प्रतिमा है, (९) पापके कारणभूत परिग्रहका त्याग सो परिग्रहत्याग प्रतिमा है, (१०) पापकी शिक्षाका त्याग अनुमतित्याग प्रतिमा है, (११) अपने वास्ते बनाये हुए भोजनादिका त्याग उद्देशविरति प्रतिमा है। ये ग्यारह प्रतिमा देशव्रतधारी सम्यग्दृष्टी जीवोंकी जिनराजने कही हैं ॥ ५७ ॥

प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

संजम अंस जग्यौ जहां, भोग अरुचि परिनाम।
उदै प्रतिग्याकौ भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम॥ ५८॥

अर्थः—चारित्र गुणका प्रगट होना, परिणामोंका भोगोंसे विरक्त होना और प्रतिज्ञाका उदय होना इसको प्रतिमा कहते हैं ॥ ५८ ॥

दर्शन प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

आठ मूलगुण संग्रहै कुविसन क्रिया न कोइ।
दरसन गुन निरमल करै, दरसन प्रतिमा सोइ॥ ५९॥

अर्थः—दर्शन गुणकी निर्मलता, अष्ट मूलगुणोंका ग्रहण और सात कुव्यसनोंका त्याग इसे दर्शन प्रतिमा कहते हैं ॥ ५९ ॥

व्रत प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

पंच अनुव्रत आदरै, तीनौं गुनव्रत पाल।
सिच्छाव्रत चारौं धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल॥ ६०॥

अर्थः—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके धारण करनेको व्रत प्रतिमा कहते हैं।

विशेषः—यहाँ पंच अणुव्रतका निरतिचार पालन होता है, पर गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके अतीचार सर्वथा नहीं टलते ॥ ६० ॥

सामायिक प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

[2]दर्व भाव विधि संजुगत, हियै प्रतिग्या टेक।
तजि ममता समता ग्रहै, अंतरमुहूरत एक॥ ६१॥

---

[1] पंचपरमेष्ठीमें भक्ति, जीवदया, पानी छानकर काममें लाना, मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग रात्रिभोजन त्याग और उदंबर फलोंका त्याग, ये आठ मूलगुण हैं। कहीं कहीं मद्य मांस मधु और पाँच पापके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है, कहीं कहीं पाँच उदंबर फल और मद्य मांस मधुके त्यागको मूलगुण बतलाये हैं।

[2] 'सर्व' ऐसा भी पाठ है।

(चौपाई)

जो अरि मित्र समान विचारै।
आरत रौद्र कुध्यान निवारै॥
संयम सहित भावना भावै।
सो सामायिकवंत कहावै॥ ६२॥

शब्दार्थः—दर्व विधि = बाह्य क्रिया—आसन, मुद्रा, पाठ, शरीर और वचनकी स्थिरता आदिकी सावधानी। भाव विधि = मनकी स्थिरता और परिणामोंमें समता भावका रखना। प्रतिज्ञा = आखड़ी। अरि = शत्रु। कुध्यान = खोटा विचार। निवारै = दूर करे।

अर्थः—मनमें समयकी प्रतिज्ञापूर्वक द्रव्य और भावविधि सहित, एक मुहूर्त्त अर्थात् दो घड़ी[1] तक ममत्वभावरहित साम्यभाव ग्रहण करना, शत्रु और मित्रपर एकसा भाव रखना, आर्त और रौद्र दोनों कुध्यानोंका निवारण करना और संयममें सावधान रहना सामायिक प्रतिमा कहाती है॥ ६१॥ ६२॥

चौथी प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

सामायिककीसी दसा, च्यारि पहरलौं होइ।
अथवा आठ पहर रहै, प्रोसह प्रतिमा सोइ॥ ६३॥

अर्थः—बारह घंटे अथवा चौबीस घंटे तक सामायिक जैसी स्थिति अर्थात् समताभाव रखनेको प्रोषध प्रतिमा कहते हैं॥ ६३॥

पाँचवीं प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्राशुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिग्यागीर॥ ६४॥

अर्थः—सचित्त भोजनका त्याग करना और प्रासुक[2] जल पान करना उसे सचित्तविरति प्रतिमा कहते हैं।

विशेषः—यहाँ सचित्त वनस्पतिको मुखसे विदारण नहीं करते॥ ६४॥

---

[1] चौबीस मिनिटकी एक घड़ी होती है।

[2] गर्म किया हुआ वा लवंग इलायची राख आदि डालकर स्वाद बदल देनेसे प्रासुक पानी होता है।

छट्ठी प्रतिमाका स्वरूप (चौपाई)

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै।
तिथि आये निसि दिवस संभालै॥
गहि नौ वाड़ि करै व्रत रख्या।
सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या॥ ६५॥

अर्थः—नव वाड़ सहित दिनमें ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना और पर्वतिथियोंमें दिन-रात ब्रह्मचर्य सम्हालना दिवामैथुनव्रत प्रतिमा है॥ ६५॥

सातवीं प्रतिमाका स्वरूप (चौपाई)

जो नौ वाड़ि सहित विधि साधै।
निसि दिन ब्रह्मचर्य आराधै॥
सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता।
सील-सिरोमनि जग विख्याता॥ ६६॥

अर्थः—जो नव वाड़ सहित सदाकाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करता है, वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमाका धारी ज्ञानी जगत् विख्यात शील-शिरोमणि है॥ ६६॥

नव वाड़के नाम (कवित्त)

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन,
दे परीछ भाखै मधु वैन।
पूरव भोग केलि रस चिंतन,
गुरु आहार लेत चित चैन॥
करि सुचि तन सिंगार बनावत,
तिय परजंक मध्य सुख सैन।
मनमथ-कथा उदर भरि भोजन,
ये नौवाड़ि [1]कहै जिन बैन॥ ६७॥

---

[1] 'कहैं मंत जैंन' ऐसा भी पाठ है।

शब्दार्थः—तियथल वास = स्त्रियोंके समुदायमें रहना। निरखन = देखना। परीछ (परोक्ष) अप्रत्यक्ष। गुरु आहार = गरिष्ट भोजन। सुचि = पवित्र। परजंक = पलंग। मनमथ = काम। उदर = पेट।

अर्थः—स्त्रियोंके समागममें रहना, स्त्रियोंको रागभरी दृष्टिसे देखना, स्त्रियोंसे परोक्षमें[1] सराग सम्भाषण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग-विलासोंका स्मरण करना, आनंददायक गरिष्ट भोजन करना, स्नान मंजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलंग आसन आदिपर सोना बैठना, कामकथा वा कामोत्पादक कथा गीतोंका सुनना, भूखसे अधिक अथवा खूब पेट भरकर भोजन करना। इनके त्यागको जैनमतमें ब्रह्मचर्यकी नव वाड़ कहा है ॥ ६७ ॥

आठवीं प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

जो विवेक विधि आदरै करै न पापारंभ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजै रनथंभ ॥ ६८ ॥

अर्थः—जो विवेक पूर्वक धर्ममें सावधान रहता है और सेवा कृषि वाणिज्य आदिका पापारंभ नहीं करता, वह कुगतिके रणथंभको जीतनेवाली आठवीं प्रतिमाका स्वामी है ॥ ६८ ॥

नववीं प्रतिमाका स्वरूप (चौपाई)

जो दसधा परिग्रहकौ त्यागी।
सुख संतोष सहित वैरागी ॥
समरस संचित किंचित ग्राही।
सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही ॥ ६९ ॥

अर्थः—जो वैराग्य और संतोषका आनंद प्राप्त करता है, तथा दस प्रकारके परिग्रहोंमेंसे थोड़ेसे वस्त्र व पात्र मात्र रखता है, वह साम्यभावका धारक नववीं प्रतिमाका स्वामी है ॥ ६९ ॥

---

[1] दृष्टि-दोष वचानेके लिये परदा आदिकी ओटमें संभाषण करना, अथवा पत्रव्यवहार करना।

दसवीं प्रतिमाका स्वरूप (दोहा)

परकौं पापारंभकौ, जो न देइ उपदेस ।
सो दसमी प्रतीमा सहित, श्रावक विगत कलेस ॥ ७० ॥

अर्थः—जो कुटुम्बी व अन्य जनोंको विवाह, वाणिज्य आदि पापारंभ करनेका उपदेश नहीं देता, वह पापरहित दसवीं प्रतिमाका धारक है ॥ ७० ॥

ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप (चौपाई)

जो सुछंद वरतै तजि डेरा ।
मठ मंडपमैं करै बसेरा ॥
उचित आहार उदंड विहारी ।
सो एकादश प्रतिमा धारी ॥ ७१ ॥

अर्थः—जो घर छोड़कर मठ मंडपमें निवास करता है, और स्त्री पुत्र कुटुम्ब आदिसे विरक्त होकर स्वतंत्र वर्तता है, तथा कृत कारित अनुमोदना रहित योग्य आहार ग्रहण करता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है ॥ ७१ ॥

प्रतिमाओंके सम्बन्धमें मुख्य उल्लेख (दोहा)

एकादश प्रतिमा दसा, कहीं देसव्रत मांहि ।
वही अनुक्रम मूलसौं, गहौ सु छूटै नांहि ॥ ७२ ॥

अर्थः—देशव्रत गुणस्थानमें ग्यारह प्रतिमाएँ ग्रहण करनेका उपदेश है। सो शुरूसे उत्तरोत्तर अंगीकार करना चाहिये और नीचेकी प्रतिमाओंकी क्रिया छोड़ना नहीं चाहिये ॥ ७२ ॥

प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावकोंके भेद (दोहा)

षट प्रतिमा तांई जघन, मध्यम नौ परजंत ।
उत्तम दसमी ग्यारमी, इति प्रतिमा विरतंत ॥ ७३ ॥

अर्थः—छठवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक, नववीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक और दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करनेवालोंको उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। यह प्रतिमाओंका वर्णन पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

पाँचवें गुणस्थानका काल (चौपाई)

एक कोडि पूरव गिनि लीजै ।
तामैं आठ बरस घटि कीजै ॥
यह उत्कृष्ट काल थिति जाकी ।
अंतरमुहूरत जघन दशाकी ॥ ७४ ॥

अर्थः—पाँचवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त्त है ॥ ७४ ॥

एक पूर्वका प्रमाण (दोहा)

सत्तर लाख किरोर मित, छप्पन सहस किरोड़ ।
ऐते बरस मिलाइके, पूरव संख्या जोड़ ॥ ७५ ॥

अर्थः—सत्तर लाख छप्पन हजारको एक करोड़का गुणा करनेसे जो संख्या प्राप्त होती है, उतने वर्षका एक पूर्व[1] होता है ॥ ७५ ॥

अंतर्मुहूर्तका मान (दोहा)

अंतर्मुहूरत द्वै घरी, कछुक घाटि उतकिष्ट ।
एक समय एकावली, अंतरमुहूर्त कनिष्ट ॥ ७६ ॥

अर्थः—दो घड़ीमेंसे एक समय कम अंतर्मुहूर्तका उत्कृष्ट काल है और एक समय अधिक एक आवली[2] अंतर्मुहूर्तका जघन्य काल है तथा बीचके असंख्यात भेद हैं ॥ ७६ ॥

छट्ठे गुणस्थानका वर्णन-प्रतिज्ञा (दोहा)

यह पंचम गुनथानकी, रचना कही विचित्र ।
अब छट्ठे गुनथानकी दसा कहूं सुन मित्र ॥ ७७ ॥

अर्थः—पाँचवें गुणस्थानका यह विचित्र वर्णन किया; अब हे मित्र, छट्ठे गुणस्थानका स्वरूप सुनो ॥ ७७ ॥

---

[1] चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग होता है, और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है ।

[2] असंख्यात समयकी एक आवली होती है ।

छट्ठे गुणस्थानका स्वरूप (दोहा)

पंच प्रमाद दशा धरै, अट्ठाइस गुनवान ।
थविरकल्पि जिनकल्पि जुत, है प्रमत्तगुनथान ॥ ७८ ॥

अर्थः—जो मुनि अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं, परन्तु पाँच प्रकारके प्रमादोंमें किंचित वर्तते हैं, वे मुनि प्रमत्तगुणस्थानी हैं। इस गुणस्थानमें स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु रहते हैं ॥ ७८ ॥

पाँच प्रमादोंके नाम (दोहा)

धर्मराग विकथा वचन, निद्रा विषय कषाय ।
पंच प्रमाद दसा सहित, परमादी मुनिराय ॥ ७९ ॥

अर्थः—धर्ममें अनुराग, विकथावचन, निद्रा, विषय[1], कषाय[2] ऐसे पाँच प्रमाद सहित साधु छट्ठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तमुनि होते हैं ॥ ७९ ॥

साधुके अट्ठाईस मूलगुण (सवैया इकतीसा)

पंच महाव्रत पालै पंच समिति संभालै,
पंच इंद्री जीति भयौ भोगी चित चैनकौ ।
षट आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै,
प्रासुक धरामैं एक आसन है सैनकौ ॥
मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै,
त्यागै दंतवन पै सुगंध स्वास वैनकौ ।
ठाड़ौ करसे आहार लघुभुंजी एक बार,
अट्ठाइस मूलगुनधारी जती जैनकौ ॥ ८० ॥

शब्दार्थः—पंचमहाव्रत = पंच पापोंका सर्वथा त्याग। प्रासुक = जीव रहित। सैन (शयन) = सोना। मंजन = स्नान। केश = बाल। लुंचै = उखाड़े। मुंचै = छोड़े। करसे = हाथसे। लघु = थोड़ा। जती = साधु।

१–२ यहाँ अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान इन तीन चौकड़ीकी बारह कषायोंका अनोदय और संज्वलन कषायका तीव्र उदय रहता है, इससे वे साधु किंचित् प्रमादके वशमें होते हैं और शुभाचारमें विशेषतया वर्तते हैं। यहाँ विषय सेवन वा स्थूलरूपसे कषायमें वर्तनेका प्रयोजन नहीं है। हाँ, शिष्योंको ताड़ना आदिका विकल्प तो भी है।

अर्थः—पंच महाव्रत पालते हैं, पाँचों समिति पूर्वक वर्तते हैं, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर प्रसन्न होते हैं, द्रव्य और भाव छह आवश्यक साधते हैं, त्रस जीव रहित भूमिपर करवट रहित शयन करते हैं, यावज्जीवन स्नान नहीं करते, हाथोंसे केशलोंच करते हैं, नग्न रहते हैं, दंतवन नहीं करते, तो भी वचन और श्वासमें सुगंध ही निकलती है, खड़े भोजन लेते हैं, थोड़ा भोजन लेते हैं, भोजन दिनमें एक ही बार लेते हैं। ऐसे अट्ठाईस मूलगुणोंके धारक जैन साधु होते हैं ॥ ८० ॥

पंच अणुव्रत और पंच महाव्रतका स्वरूप (दोहा)

हिंसा मृषा अदत्त धन, मैथुन परिगह साज ।
किंचित त्यागी अनुव्रती, सब त्यागी मुनिराज ॥ ८१ ॥

शब्दार्थः—मृषा = झूठ। अदत्त = बिना दिया हुआ।

अर्थः—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों पापोंके किंचित् त्यागी अणुव्रती श्रावक और सर्वथा त्यागी महाव्रती साधु होते हैं ॥ ८१ ॥

पंच समितिका स्वरूप (दोहा)

चलै निरखि भाखै उचित, भखै अदोष अहार ।
लेइ निरखि डारै निरखि, समिति पंच परकार ॥ ८२ ॥

अर्थः—जीवजन्तुकी रक्षाके लिये देखकर चलना ईर्यासमिति है, हित मित प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है, अन्तराय रहित निर्दोष आहार लेना एषणासमिति है, शरीर, पुस्तक, पींछी, कमण्डलु आदिको देख शोधकर उठाना–रखना आदाननिक्षेपणसमिति है, त्रस जीव रहित प्रासुक भूमिपर मल–मूत्रादिक छोड़ना प्रतिष्ठापनासमिति है; —ऐसी ये पाँच समिति हैं ॥ ८२ ॥

छह आवश्यक (दोहा)

समता वंदन थुति करन, पड़कौना सज्झाव ।
काउसग्ग मुद्रा धरन, षडावसिक ये भाव ॥ ८३ ॥

शब्दार्थः—समता = सामायिक करना। वंदन = चौवीस तीर्थंकरों वा गुरु आदिकी वंदना करना। पड़िकौना (प्रतिक्रमण) = लगे हुए दोषोंपर पश्चात्ताप करना। सज्झाव = स्वाध्याय। काउसग्ग (कायोत्सर्ग) = खड्गासन होकर ध्यान करना। षडावसिक = छह आवश्यक।

अर्थः—सामायिक, वंदना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये साधुके छह आवश्यक कर्म हैं॥ ८३॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

थविरकलपि जिनकलपि दुविधि मुनि,
दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु हैं।
दोऊ अठाईस मूलगुनके धरैया दोऊ,
सरव त्यागी व्है विरागता गहतु हैं॥
थविरकलपि ते जिनकै शिष्य साखा होइ,
बैठिकै सभामैं धर्मदेसना कहतु हैं।
एकाकी सहज जिनकलपि तपस्वी घोर,
उदैकी मरोरसौं परीसह सहतु हैं॥ ८४॥

अर्थः—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे दो प्रकारके जैन साधु होते हैं। दोनों वनवासी हैं, दोनों नग्न रहते हैं, दोनों अट्ठाईस मूलगुणके धारक होते हैं, दोनों सर्व परिग्रहके त्यागी वैरागी होते हैं। परन्तु स्थविरकल्पी साधु शिष्य-समुदायके साथमें रहते हैं, तथा सभामें बैठकर धर्मोपदेश देते और सुनते हैं, पर जिनकल्पी साधु शिष्य छोड़कर निर्भय अकेले विचरते हैं और महा तपश्चरण करते हैं, तथा कर्मके उदयसे आई हुई बाईस परीषह सहते हैं॥ ८४॥

वेदनीय कर्मजनित ग्यारह परीषह (सवैया इकतीसा)

ग्रीषममैं धूपथित सीतमैं अकंपचित,
भूखे धरैं धीर प्यासे नीर न चहतु हैं।

डंस मसकादिसौं न डरैं भूमि सैन करैं,
बध बंध बिथामैं अडौल ह्वै रहतु हैं॥
चर्या दुख भरै तिन फाससौं न थरहरै,
मल दुरगंधकी गिलानि न गहतु हैं।
रोगनिकौ न करैं इलाज ऐसे मुनिराज,
वेदनीके उदै ये परीसह सहतु हैं॥ ८५॥

गर्मीके दिनोंमें धूपमें खड़े रहते हैं यह उष्ण परीषहजय है, शीत ऋतुमें जाड़ेसे नहीं डरते यह शीतपरीषहजय है, भूख लगे तब धीरज रखते हैं, यह भूखपरीषहजय है, प्यासमें पानी नहीं चाहते यह तृषापरीषहजय है, डांस मच्छरका भय नहीं करते, यह दंशमशकपरीषहका जीतना है, धरतीपर सोते हैं यह शय्यापरीषहजय है, मारने बांधनेके कष्टमें अचल रहते हैं यह बधपरीषहजय है, चलनेका कष्ट सहते हैं यह चर्यापरीषहजय है, तिनका काँटा लग जावे तो घबराते नहीं यह तृणस्पर्शपरीषहका जीतना है, मल और दुर्गंधित पदार्थोंसे ग्लानि नहीं करते यह मलपरीषहजय है, रोगजनित कष्ट सहते हैं, पर उसके निवारणका उपाय नहीं करते, यह रोगपरीषहजय है। इस प्रकार वेदनीयकर्मके उदयजनित ग्यारह परीषह मुनिराज सहते हैं ॥ ८५ ॥

चारित्रमोहजनित सात परीषह (कुण्डलिया)

ऐते संकट मुनि सहै, चारितमोह उदोत।
लज्जा संकुच दुख धरै, नगन दिगंबर होत॥
नगन दिगम्बर होत, श्रोत रति स्वाद न सेवै।
तिय सनमुख दृग रोकि, मान अपमान न बेवै॥
थिर ह्वै निरभै रहै, सहै कुवचन जग जेते।
भिच्छुकपद संग्रहै, लहै मुनि संकट ऐते॥ ८६॥

शब्दार्थः—संकट = दुःख। उदोत = उदयसे। श्रोत = कान। दृग = नेत्र। बेवै (वेदै) = भोगे। कुवचन = गाली। भिच्छुक = याचना।

अर्थः—चारित्रमोहके उदयसे मुनिराज निम्न-लिखित सात परीषह सहते हैं अर्थात् जीतते हैं।

(१) नग्न दिगम्बर रहनेसे लज्जा और संकोचजनित दुःख सहते हैं, यह नग्नपरीषहजय है, (२) कर्ण आदि इन्द्रियोंके विषयोंका अनुराग नहीं करना सो अरतिपरीषहजय है। (३) स्त्रियोंके हावभावमें मोहित नहीं होना, स्त्रीपरीषहजय है। (४) मान—अपमानकी परवाह नहीं करते यह सत्कारपुरस्कारपरीषहजय है। (५) भयका निमित्त मिलनेपर भी आसन ध्यानसे नहीं हटना, सो निषद्यापरीषहजय है। (६) मूर्खोंके कटु वचन सह लेना, आक्रोशपरीषहका जीतना है। (७) प्राण जावे तो भी आहारादिकके लिये दीनतारूप प्रवृत्ति नहीं करना, यह याचनापरीषहजय है। ये सात परीषह चारित्रमोहके उदयसे होती हैं ॥ ८६ ॥

ज्ञानावरणीयजनित दो परीषह (दोहा)

अलप ग्यान लघुता लखै, मति उतकरष विलोइ ।
ज्ञानावरन उदोत मुनि, सहै परीसह दोइ ॥ ८७ ॥

अर्थः—ज्ञानावरणीयजनित दो परीषह हैं। अल्पज्ञान होनेसे लोग छोटा गिनते हैं, इससे जो दुख होता है उसे साधु सहते हैं, यह अज्ञानपरीषहजय है। ज्ञानकी विशालता होनेपर गर्व नहीं करते, यह प्रज्ञापरीषहजय है। ऐसी ये दो परीषह ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे जैन साधु सहते हैं ॥ ८७ ॥

दर्शनमोहनीयजनित एक और अंतरायजनित एक परीषह (दोहा)

सहै अदरसन दुरदसा, दरसन मोह उदोत ।
रोकै उमग अलाभकी, अंतरायके होत ॥ ८८ ॥

अर्थः—दर्शनमोहनीयके उदयसे सम्यग्दर्शनमें कदाचित् दोष उपजे तो वे सावधान रहते हैं—चलायमान नहीं होते, यह दर्शनपरीषहजय है। अंतरायकर्मके उदयसे वाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति न हो, तो जैनमुनि खेदखिन्न नहीं होते, यह अलाभपरीषहजय है ॥ ८८ ॥

बाईस परीषहोंका वर्णन (सवैया इकतीसा)

एकादस वेदनीकी, चारितमोहकी सात,
ग्यानावरनीकी दोइ, एक अंतरायकी

दर्सनमोहकी एक, द्वाविंसति बाधा सबै,
केई मनसाकी, केई वाकी, केई कायकी ॥
काहूकौ अलप काहूकौ बहुत उनीस तांई,
एक ही समैमैं उदै आवै असहायकी ।
चर्या थित सज्जामांहि एक सीत उस्न मांहि,
एक दोइ होहिं तीन नाहिं समुदायकी ॥ ८९ ॥

शब्दार्थः—मनसाकी = मनकी । वाकी (वाक्यकी) = वचनकी । काय = शरीर । सज्जा = शय्या । समुदाय = एक साथ ।

अर्थः—वेदनीयकी ग्यारह, चारित्रमोहनीयकी सात, ज्ञानावरणीयकी दो, अंतरायकी एक और दर्शनमोहनीयकी एक—ऐसी सब बाईस परीषह हैं। उनमेंसे कोई मनजनित, कोई वचनजनित और कोई कायजनित हैं। इन बाईस परीषहोंमेंसे एक समयमें एक साधुको अधिकसे अधिक उन्नीस तक परीषह उदय आती हैं। क्योंकि चर्या, आसन और शय्या इन तीनमेंसे कोई एक और शीत उष्णमेंसे कोई एक, इस तरह पाँचमें दोका उदय होता है, शेष तीनका उदय नहीं होता ॥ ८९ ॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुकी तुलना (दोहा)

नाना विधि संकट-दसा, सहि साधै सिवपंथ ।
थविरकल्पि जिनकल्पि धर, दोऊ सम निगरंथ ॥ ९० ॥

जो मुनि संगतिमैं रहै, थविरकल्पि सो जान ।
एकाकी जाकी दसा, सो जिनकल्पि बखान ॥ ९१ ॥

अर्थः—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु एकसे निर्ग्रंथ होते हैं और अनेक प्रकारकी परीषह जीतकर मोक्षमार्ग साधते हैं ॥ ९० ॥ जो साधु संघमें रहते हैं वे स्थविरकल्पधारी हैं और जो एकलविहारी हैं वे जिनकल्पधारी हैं ॥ ९१ ॥

(चौपाई)

थविरकलपि धर कछुक सरागी ।
जिनकलपी महान वैरागी ॥
इति प्रमत्तगुनथानक धरनी ।
पूरन भई जथारथ वरनी ॥ ९२ ॥

अर्थः—स्थविरकल्पी साधु किंचित् सरागी होते हैं, और जिनकल्पी साधु अत्यन्त वैरागी होते हैं। यह छट्ठे गुणस्थानका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया ॥ ९२ ॥

सप्तम गुणस्थानका वर्णन (चौपाई)

अब वरनौं सप्तम विसरामा ।
अपरमत्त गुनथानक नामा ॥
जहां प्रमाद क्रिया विधि नासै ।
धरम ध्यान थिरता परगासै ॥ ९३ ॥

अर्थः—अब स्थिरताके स्थान अप्रमत्तगुणस्थानका वर्णन करते हैं, जहाँ धर्मध्यानमें चंचलता लानेवाली पंच प्रकारकी प्रमाद-क्रिया नहीं है और मन धर्मध्यानमें स्थिर होता है ॥ ९३ ॥

(दोहा)

प्रथम करन चारित्रकौ, जासु अंत पद होइ ।
जहां अहार विहार नहिं अपरमत्त है सोइ ॥ ९४ ॥

अर्थः—जिस गुणस्थानके अंत तक चारित्रमोहके उपशम व क्षयका कारण अधःप्रवृत्तिकरण चारित्र रहता है और आहार विहार नहीं रहता वह अप्रमत्तगुणस्थान है।

विशेषः—सातवें गुणस्थानके दो भेद हैं—पहला स्वस्थान और दूसरा सातिशय, सो जबतक छट्ठेसे सातवें और सातवेंसे छट्ठेमें अनेक बार चढ़ना—पड़ना रहता है, तब तक स्वस्थान गुणस्थान रहता है, और सातिशय गुणस्थानमें अधःकरणके परिणाम रहते हैं, वहाँ आहार विहार नहीं है ॥ ९४ ॥

अष्टम गुणस्थानका वर्णन (चौपाई)

अब वरनौं अष्टम गुनथाना ।
नाम अपूरवकरन बखाना ॥
कछुक मोह उपशम करि राखै ।
अथवा किंचित छय करि नाखै ॥ ९५ ॥

अर्थः—अब अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानका वर्णन करता हूँ, जहाँ मोहका किंचित् उपशम[1] अथवा किंचित् क्षय[2] होता है ॥ ९५ ॥

जे परिनाम भए नहिं कबही ।
तिनकौ उदै देखिये जबही ॥
तब अष्टम गुनथानक होई ।
चारित करन दूसरौ सोई ॥ ९६ ॥

अर्थः—इस गुणस्थानमें ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं, जैसे पूर्वमें कभी नहीं हुए थे, इसीलिये इस आठवें गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है। यहाँ चारित्रके तीन करणोंमेंसे अपूर्वकरण नामक दूसरा करण होता है ॥ ९६ ॥

नववें गुणस्थानका वर्णन (चौपाई)

अब अनिवृत्तिकरन सुनु भाई ॥
जहां भाव थिरता अधिकाई ॥
पूरव भाव चलाचल जेते ।
सहज अडोल भए सब तेते ॥ ९७ ॥

अर्थः—हे भाई, अब अनिवृत्तिकरन नामक नववें गुणस्थानका स्वरूप सुनो। जहाँ परिणामोंकी अधिक स्थिरता है, इससे पहले आठवें गुणस्थानमें जो परिणाम किंचित् चपल थे, वे यहाँ अचल हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

१–२ उपशमश्रेणीमें उपशम और क्षपकश्रेणीमें क्षय होता है।

८३-७६
२२-२

जहां न भाव उलटि अध आवै ।
सो नवमो गुनथान कहावै ॥
चारितमोह जहां बहु छीजा ।
सो है चरन करन पद तीजा ॥ ९८ ॥

शब्दार्थः—उलटि = लौटकर। अध = नीचे। छीजा = नष्ट हुआ।

अर्थः—जहाँ चढ़े हुए परिणाम फिर नहीं गिरते, वह नववाँ गुणस्थान कहलाता है। इस नववें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका बहु[1] अंश नष्ट हो जाता है, यह चारित्रका तीसरा करण है ॥ ९८ ॥

दसवें गुणस्थानका वर्णन (चौपाई)

कहौं दसम गुनथान दुसाखा ।
जहँ सूछम सिवकी अभिलाखा ॥
सूछमलोभ दसा जहँ लहिये ।
सूछमसांपराय सो कहिये ॥ ९९ ॥

अर्थः—अब दसवें गुणस्थानका वर्णन करता हूँ, जिसमें आठवें और नववें गुणस्थानके समान उपशम और क्षायिकश्रेणीके भेद हैं। जहाँ मोक्षकी अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषा मात्र है, यहाँ सूक्ष्म लोभका उदय है इससे इसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं ॥ ९९ ॥

ग्यारहवें गुणस्थानका वर्णन (चौपाई)

अब उपशांतमोह गुनथाना ।
कहौं तासु प्रभुता परवांना ॥
जहां मोह उपशमै न भासै ।
यथाख्यातचारित परगासै ॥ १०० ॥

अर्थः—अब ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतमोहकी सामर्थ्य कहता हूँ, यहाँ मोहका सर्वथा उपशम है—बिलकुल उदय नहीं दिखता और जीवका यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है ॥ १०० ॥

---

[1] सूक्ष्मलोभको छोड़कर।

पुनः (दोहा)

जाहि फरसकै जीव गिर, परै करै गुन रद्द ।
सो एकादसमी दसा, उपसमकी सरहद्द ॥ १०१ ॥

अर्थः—जिस गुणस्थानको प्राप्त होकर जीव अवश्य ही गिरता है, और प्राप्त हुए गुणोंको नियमसे नष्ट करता है, वह उपशम चारित्रकी चरम सीमा प्राप्त करनेवाला ग्यारहवाँ गुणस्थान है ॥ १०१ ॥

बारहवें गुणस्थानका वर्णन (चौपाई)

केवलग्यान निकट जहँ आवै ।
तहां जीव सब मोह खिपावै ॥
प्रगटै यथाख्यात परधाना ।
सो द्वादसम खीनगुनठाना ॥ १०२ ॥

अर्थः—जहाँ जीव मोहको सर्वथा क्षय करता है, वा केवलज्ञान बिलकुल समीप रह जाता है और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है, वह क्षीणमोह नामक बारहवाँ गुणस्थान है ॥ १०२ ॥

उपशमश्रेणीकी अपेक्षा गुणस्थानोंका काल (दोहा)

षट सातैं आठैं नवैं, दस एकादस थानं ।
अंतरमुहूरत एक वा, एक समै थिति जान ॥ १०३ ॥

अर्थः—उपशम श्रेणीकी अपेक्षा छट्ठे, सातवें, आठवें, नववें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त वा जघन्य काल एक समय है ॥ १०३ ॥

क्षपकश्रेणीमें गुणस्थानोंका काल (दोहा)

छपकश्रेनि आठैं नवैं, दस अर वलि [1]बार ।
थिति उत्कृष्ट जघन्य भी, अंतरमुहूरत [2]काल ॥ १०४ ॥

१–२ यह प्रास र और ल की कहीं कहीं सवर्णताकी नीतिसे निर्दोष है–" रलयोः सावर्ण्यं वा वक्तव्यं " सारस्वत व्याकरण ।

अर्थः—क्षपकश्रेणीमें आठवें, नववें, दसवें और बाहरवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त है ॥ १०४ ॥

तेरहवें गुणस्थानका वर्णन (दोहा)

छीनमोह पूरन भयौ, करि चूरन चित-चाल ।
अब सजोगगुनथानकी, वरनौं दसा रसाल ॥ १०५ ॥

अर्थः—चित्तकी वृत्तिको चूर्ण करनेवाले क्षीणमोह गुणस्थानका कथन समाप्त हुआ, अब परमानन्दमय सयोगगुणस्थानकी अवस्था वर्णन करता हूँ ॥ १०५ ॥

तेरहवें गुणस्थानका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

जाकी दुखदाता-घाती चौकरी विनसि गई,
चौकरी अघाती जरी जेवरी समान है ।
प्रगट भयौ अनंतदंसन अनंतग्यान,
बीरजअनंत सुख सत्ता समाधान है ॥
जामैं आउ नाम गोत वेदनी प्रकृति अस्सी,
इक्यासी चौरासी वा पचासी परवांन है ।
सो है जिन केवली जगतवासी भगवान,
ताकी जो अवस्था सो सजोगीगुनथान है ॥ १०६ ॥

शब्दार्थः—चौकरी = चार । विनसि गई = नष्ट हो गई । अनंतदंसन = अनंतदर्शन । समाधान = सम्यक्त्व । जगतवासी = संसारी, शरीर सहित ।

अर्थः—जिस मुनिके दुःखदायक घातिया चतुष्क अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय नष्ट हो गये हैं और अघातिया चतुष्क जरी जेवरीके समान शक्तिहीन हुए हैं, जिसको अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुख सत्ता और परमावगाढ़सम्यक्त्व प्रगट हुए हैं। जिसकी आयु नाम गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी मात्र अस्सी, इक्यासी, चौरासी वा पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रह गई है, वह केवलज्ञानी प्रभु संसारमें सुशोभित होता है, और उसीकी अवस्थाको 'सयोग-केवली[1] गुणस्थान कहते हैं।

---

[1] यहाँ मन वचन कायके सात योग होते हैं, इससे इस गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है।

विशेषः—तेरहवें गुणस्थानमें जो [1]पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता कही गई है, सो यह सामान्य कथन है। किसी किसीको तो तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, आहारक बंधन, आहारक संघात सहित पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, पर किसीको तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व नहीं होता, तो चौरासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, और किसीको आहारक चतुष्कका सत्व नहीं रहता और तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व रहता है, तो इक्यासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, तथा किसीको तीर्थंकर प्रकृति और आहारक चतुष्क पाँचोंका सत्व नहीं रहता, मात्र अस्सी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ॥ १०६ ॥

केवलज्ञानीकी मुद्रा और स्थिति (सवैया इकतीसा)

जो अडोल परजंक मुद्राधारी सरवथा,
अथवा सु काउसग्ग मुद्रा थिरपाल है।
खेत सपरस कर्म प्रकृतिकै उदै आये,
बिना डग भरै अंतरीच्छ जाकी चाल है॥
जाकी थिति पूरव करोड़ आठ वर्ष घाटि,
अंतरमुहूरत जघन्य जग-जाल है।
सो है देव अठारह दूषन रहित ताकौं,
बानारसि कहै मेरी वंदना त्रिकाल है॥ १०७॥

शब्दार्थः—अडोल = अचल। परजंक मुद्रा = पद्मासन। काउसग्ग = (कायोत्सर्ग) खड़े आसन। अंतरीच्छ = अधर। त्रिकाल = सदैव।

अर्थः—जो केवलज्ञानी भगवान् पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा धारण किये हुए हैं, जो क्षेत्र-स्पर्श नामकर्मकी प्रकृतिके उदयसे बिना कदम रक्खे अधर गमन करते हैं, जिनकी संसार स्थिति उत्कृष्ट [2]आठ वर्ष कम एक करोड़ पूर्वकी और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, वे सर्वज्ञदेव अठारह दोष रहित हैं। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि उन्हें मेरी त्रिकाल वन्दना है ॥ १०७ ॥

---

[1] पचासी प्रकृतियोंके नाम पहले अधिकारमें कह आये हैं। [2] मोक्षगामी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु चौथे कालकी अपेक्षा एक कोटि पूर्वकी है, और आठ वर्षकी उमरतक केवलज्ञान नहीं जगता।

केवली भगवानको अठारह दोष नहीं होते (कुण्डलिया)

दूषन अट्ठारह रहित, सो केवलि संजोग ।
जनम मरन जाकै नहीं, नहिं निद्रा भय रोग ॥
नहिं निद्रा भय रोग, सोग विस्मय न मोह मति ।
जरा खेद परस्वेद, नांहि मद बैर विषै रति ॥
चिंता नांहि सनेह, नांहि जहँ प्यास न भूखन ॥
थिर समाधि सुख सहित, रहित अट्ठारह दूषन ॥ १०८ ॥

शब्दार्थः—सोग = शोक । विस्मय = आश्चर्य । जरा = बुढ़ापा । परस्वेद = (प्रस्वेद)= पसीना । सनेह = राग ।

अर्थः—जन्म, मृत्यु, निद्रा, भय, रोग, शोक, आश्चर्य, मोह, बुढ़ापा, खेद, पसीना, गर्व, द्वेष, रति, चिंता, राग, प्यास, भूख ये अठारह दोष सयोगकेवली जिनराजको नहीं होते, और निर्विकल्प आनंदमें सदा लीन रहते हैं ॥ १०८ ॥

केवलज्ञानीप्रभुके परमौदारिक शरीरका अतिशय (कुण्डलिया)

वानी जहां निरच्छरी, सप्त धातु मल नांहि ।
केस रोम नख नहिं बढैं, परम उदारिक मांहि ॥
परम उदारिक मांहि, जांहि इंद्रिय विकार नसि ।
यथाख्यातचारित, प्रधान थिर सुकल ध्यान ससि ॥
लोकालोक प्रकास-करन केवल रजधानी ।
सो तेरम गुनथान, जहां अतिशयमय वानी ॥ १०९ ॥

शब्दार्थः—निरच्छरी = अक्षर रहित । केस (केश) = बाल । नख = नाखून । उदारिक (औदारिक) = स्थूल । ससि (शशि) = चन्द्रमा ।

अर्थः—तेरहवें गुणस्थानमें भगवानकी अतिशयमय निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है। उनका परमौदारिक शरीर सप्त धातु और मल-मूत्र रहित होता है। केश रोम और नाखून नहीं बढ़ते, इन्द्रियोंके विषय नष्ट हो जाते हैं, पवित्र यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है, स्थिर शुक्लध्यानरूप चन्द्रमाका उदय होता है, लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानपर उनका साम्राज्य रहता है ॥ १०९ ॥

चौदहवें गुणस्थानका वर्णन-प्रतिज्ञा (दोहा)

यह सयोगगुनथानकी, रचना कही अनूप।
अब अयोगकेवल दसा कहूं जथारथ रूप ॥ ११० ॥

अर्थः—यह सयोगी गुणस्थानका वर्णन किया, अब अयोगकेवली गुणस्थानका वास्तविक वर्णन करता हूँ ॥ ११० ॥

चौदहवें गुणस्थानका स्वरूप (सवैया इकतीसा)

जहां काहू जीवकौं असाता उदै साता नाहिं,
काहूकौं असाता नाहिं, साता उदै पाइयै।
मन वच कायसौं अतीत भयौ जहां जीव,
जाकौ जसगीत जगजीतरूप गाइयै ॥
जामैं कर्म प्रकृतिकी सत्ता जोगी जिनकीनी,
अंतकाल द्वै समैमैं सकल खिपाइयै।
जाकी थिति पंच लघु अच्छर प्रमान सोई,
चौदहौं अजोगीगुनठाना ठहराइयै ॥ १११ ॥

शब्दार्थः—अतीत = रहित। खिपाइयै = क्षय करते हैं। लघु = ह्रस्व।

अर्थः—जहाँपर किसी जीवको असाताका[1] उदय रहता है साताका नहीं रहता, और किसी जीवको साताका उदय रहता है असाताका नहीं रहता, जहाँ जीवके मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्ति सर्वथा शून्य हो जाती है, जिसके जगज्जयी होनेके गीत गाये जाते हैं, जिसको सयोगी जिनके समान अघातिया कर्म-प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, सो उन्हें अन्तके दो समयोंमें सर्वथा क्षय[2] करते हैं, जिस गुणस्थानका काल ह्रस्व पंच अक्षर प्रमाण है, वह अयोगी जिन चौदहवाँ गुणस्थान है ॥१११॥

इति चतुर्दश गुणस्थानाधिकार वर्णन समाप्त।

---

[1] केवलज्ञानी भगवानको असाताका उदय बांचकर विस्मित नहीं होना चाहिये। वहाँ असाता कर्म, उदयमें सातारूप परिणमता है।

[2] पुनि चौदहें चौथे सुकलबल बहत्तर तेरह हतीं,
'जिनेन्द्रपंचकल्याणक'

बंधका मूल आस्रव और मोक्षका मूल संवर है (दोहा)

चौदह गुनथानक दसा, जगवासी जिय भूल।
आस्रव संवर भाव द्वै, बंध मोखके मूल॥ ११२॥

अर्थः—गुणस्थानोंकी ये चौदह अवस्थाएँ संसारी अशुद्ध जीवोंकी हैं। आस्रव और संवर भाव बंध और मोक्षकी जड़ हैं; अर्थात् आस्रव बंधकी जड़ है और संवर मोक्षकी जड़ है॥ ११२॥

संवरको नमस्कार (चौपाई)

आस्रव संवर परनति जौलौं।
जगतनिवासी चेतन तौलौं॥
आस्रव संवर विधि विवहारा।
दोऊ भव-पथ सिव-पथ धारा॥ ११३॥
आस्रवरूप बंध उतपाता।
संवर ग्यान मोख-पद-दाता॥
जा संवरसौं आस्रव छीजे।
ताकौं नमस्कार अब कीजै॥ ११४॥

अर्थः—जब तक आस्रव और संवरके परिणाम हैं, तब तक जीवका संसारमें निवास है। उन दोनोंमें आस्रव-विधिका व्यवहार संसार-मार्गकी परिणति है, और संवर-विधिका व्यवहार मोक्ष-मार्गकी परणति है॥ ११३॥ आस्रव बंधका उत्पादक है और संवर ज्ञानका रूप है, मोक्षपदका देनेवाला है। जिस संवरसे आस्रवका अभाव होता है, उसे नमस्कार करता हूँ॥ ११४॥

ग्रंथके अंतमें संवरस्वरूप ज्ञानको नमस्कार।

जगतके प्रानी जीति ह्वै रह्यौ गुमानी ऐसौ,
आस्रव असुर दुखदानी महाभीम है।
ताकौ परताप खंडिवेकौं प्रगट भयौ,
धर्मकौ धरैया कर्म-रोगकौ हकीम है॥

जाकै परभाव आगै भागैं परभाव सब,
नागर नवल सुखसागरकी सीम है।
संवरकौ रूप धरै साधै सिवराह ऐसौ,
ग्यान पातसाह ताकौं मेरी तसलीम है॥ ११५॥

शब्दार्थः—गुमानी = अभिमानी। असुर = राक्षस। महाभीम = बड़ा भयानक। परताप (प्रताप) = तेज। खंडिवैकौं = नष्ट करनेके लिये। हकीम = वैद्य। परभाव (प्रभाव) = पराक्रम। परभाव = पुद्गलजनित विकार। नागर = चतुर। नवल = नवीन। सीम = मर्यादा। पातशाह = बादशाह। तसलीम = वन्दना।

अर्थः—आस्रवरूप राक्षस जगतके जीवोंको अपने वशमें करके अभिमानी हो रहा है, जो अत्यन्त दुःखदायक और महा भयानक है, उसका वैभव नष्ट करनेके लिये जो उत्पन्न हुआ है, जो धर्मका धारक है, कर्मरूप रोगके लिये वैद्यके समान है, जिसके प्रभावके आगे परद्रव्यजनित राग द्वेष आदि विभाव दूर भागते हैं, जो अत्यन्त प्रवीन और अनादिकालसे नहीं पाया था इसलिये नवीन है, जो सुखके समुद्रकी सीमाको प्राप्त हुआ है, जिसने संवरका रूप धारण किया है, जो मोक्षमार्गका साधक है, ऐसे ज्ञानरूप बादशाहको मेरा प्रणाम है॥ ११५॥

तेरहवें अधिकारका सार

जिस प्रकार सफेद वस्त्रपर नाना रँगोंका निमित्त लगनेसे वह अनेकाकार होता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध आत्मापर अनादि कालसे मोह और योगोंका सम्बन्ध होनेसे उसकी संसारी दशामें अनेक अवस्थाएँ होती हैं, उनहीका नाम गुणस्थान है। यद्यपि वे अनेक हैं पर शिष्योंके सम्बोधनार्थ श्रीगुरुने १४ बतलाये हैं। ये गुणस्थान जीवके स्वभाव नहीं हैं, पर अजीवमें नहीं पाये जाते, जीवमें ही होते हैं, इसलिये जीवके विभाव हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि, व्यवहार नयसे गुणस्थानोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके चौदह भेद हैं।

पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्व, दूसरेमें अनंतानुबंधी, तीसरेमें मिश्रमोहनीयका उदय मुख्यतया रहता है, और चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और मिश्रमोहनीयका, पाँचवेंमें अप्रत्याख्यानावरणीयका, छट्ठेमें प्रत्याख्यानावरणीयका अनोदय रहता है। सातवें आठवें और नववेंमें संज्वलनका क्रमशः मंद, मंदतर, मंदतम उदय रहता है, दसवेंमें संज्वलन सूक्ष्मलोभ मात्रका उदय और सर्वमोहका क्षय है। ग्यारहवेंमें सर्वमोहका उपशम और बारहवेंमें सर्वमोहका क्षय है। यहाँ तक छद्मस्थ अवस्था रहती है, केवलज्ञानका विकास नहीं है। तेरहवेंमें पूर्णज्ञान है परन्तु योगोंके द्वारा आत्मप्रदेश सकंप होते हैं, और चौदहवें गुणस्थानमें केवलज्ञानी प्रभुके आत्म-प्रदेश भी स्थिर हो जाते हैं। सभी गुणस्थानोंमें जीव सदेह[१] रहता है, सिद्ध भगवान गुणस्थानोंकी कल्पनासे रहित हैं, इसलिये गुणस्थान जीवके निज-स्वरूप नहीं हैं, पर हैं, परजनित हैं, ऐसा जानकर गुणस्थानोंके विकल्पोंसे रहित शुद्ध बुद्ध आत्माका अनुभव करना चाहिये।

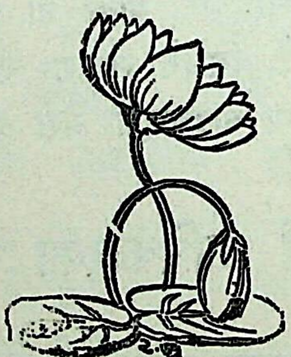

---

[१] विग्रह गतिमें कार्माण तैजस शरीरका संबंध रहता है।

ग्रंथ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति

(चौपाई)

भयौ ग्रंथ संपूरन भाखा ।
वरनी गुनथानककी साखा ॥
वरनन और कहांलौं कहियै ।
जथा सकति कहि चुप ह्वै रहियै ॥ १ ॥

अर्थः—भाषाका समयसार ग्रन्थ समाप्त हुआ और गुणस्थान अधिकारका वर्णन किया । इसका और कहाँ तक वर्णन करें, शक्ति अनुसार कहकर चुप हो रहना उचित है ॥ १ ॥

(चौपाई)

लहियै ओर न ग्रंथ उदधिका ।
ज्यौं ज्यौं कहियै त्यौं त्यौं अधिका ॥
तातैं नाटक अगम अपारा ।
अलप कवीसुरकी मतिधारा ॥ २ ॥

अर्थः—ग्रन्थरूप समुद्रका पार नहीं पा सकते, ज्यों ज्यों कथन किया जावे त्यों त्यों बढ़ता ही जाता है, क्योंकि नाटक अपरम्पार है और कविकी बुद्धि तुच्छ है ॥ २ ॥

विशेषः—यहाँ ग्रन्थको समुद्रकी उपमा दी है और कविकी बुद्धिको छोटी नदीकी उपमा है ।

(दोहा)

समयसार नाटक अकथ, कविकी मति लघु होइ ।
तातैं कहत बनारसी, पूरन कथै न कोइ ॥ ३ ॥

अर्थः—समयसार नाटकका वर्णन महान है, और कविकी बुद्धि थोड़ी है, इससे पंडित बनारसीदासजी कहते हैं, कि उसे कोई पूरा पूरा नहीं कह सकता ॥ ३ ॥

ग्रंथ-महिमा (सवैया इकतीसा)

जैसें कोऊ एकाकी सुभट पराक्रम करि,
जीतै किहि भांति चक्री कटकसौं लरनौ ।
जैसें कोऊ परवीन तारू भुजभारू नर,
तैरै कैसै स्वयंभूरमन सिंधु तरनौ ॥
जैसे कोऊ उद्दमी उछाह मनमांहि धरै,
करै कैसै कारज विधाता कैसौ करनौ ।
तैसें तुच्छ मति मोरी तामैं कविकला थोरी,
नाटक अपार मैं कहांलौं याहि वरनौ ॥ ४ ॥

अर्थः—यदि कोई अकेला योद्धा अपने बाहुबलके द्वारा चक्रवर्त्तीके दलसे लड़े, तो वह कैसे जीत सकता है? अथवा कोई जलतारिणी विद्यामें कुशल मनुष्य स्वयंभूरमण समुद्रको तैरना चाहे, तो कैसे पार पा सकता है? अथवा कोई उद्योगी मनुष्य मनमें उत्साहित होकर विधाता[1] जैसा काम करना चाहे, तो कैसे कर सकता है? उसी प्रकार मेरी बुद्धि अल्प है वा काव्य-कौशल कम है और नाटक महान् है, इसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ ॥ ४ ॥

जीव-नटकी महिमा (सवैया इकतीसा)

जैसे वट वृच्छ एक, तामैं फल हैं अनेक,
फल फल बहु बीज, बीज बीज वट है ।
वटमांहि फल, फल मांहि बीज तामैं वट,
कीजे जो विचार, तौ अनंतता अघट है ॥
तैसै एक सत्तामैं, अनंत गुन परजाय,
पर्जैमैं अनंत नृत्य तामैंऽनंत ठट है ।

---

[1] यहाँ दृष्टान्तमात्र ग्रहण किया है ।

ठटमैं अनंतकला, कलामैं अनंतरूप,
रूपमैं अनंत सत्ता, ऐसौ जीव नट है॥ ५॥

अर्थः—जिस प्रकार एक वटके वृक्षमें अनेक फल होते हैं, प्रत्येक फलमें बहुतसे बीज तथा प्रत्येक बीजमें फिर वट वृक्षका अस्तित्व रहता है, और बुद्धिसे काम लिया जावे तो फिर उस वट वृक्षमें बहुतसे फल और प्रत्येक फलमें बहुतसे बीज और प्रत्येक बीजमें वट वृक्षकी सत्ता प्रतीत होती है, इस प्रकार वट वृक्षके अनंतपनेकी थाह नहीं मिलती। उसी प्रकार जीवरूपी नटकी एक सत्तामें अनंत गुण हैं, प्रत्येक गुणमें अनन्त पर्यायें हैं, प्रत्येक पर्यायमें अनन्त नृत्य हैं, प्रत्येक नृत्यमें अनन्त खेल हैं, प्रत्येक खेलमें अनन्त कलाएँ हैं, और प्रत्येक कलाकी अनन्त आकृतियाँ हैं, इस प्रकार जीव बहुत ही विलक्षण नाटक करने वाला है ॥ ५ ॥

(दोहा)

ब्रह्मग्यान आकासमैं, उड़ै सुमति खग होइ।
यथा सकति उद्दिम करै, पार न पावै कोइ॥ ६॥

अर्थः—ब्रह्मज्ञानरूपी आकाशमें यदि श्रुतज्ञानरूपी पक्षी शक्ति अनुसार उड़नेका प्रयत्न करे, तो कभी अन्त नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

(चौपाई)

ब्रह्मग्यान-नभ अंत न पावै।
सुमति परोछ कहांलौं धावै॥
जिहि विधि समयसार जिनि कीनौं।
तिनके नाम कहौं अब तीनौं॥ ७॥

अर्थः—ब्रह्मज्ञानरूप आकाश अनन्त है और श्रुतज्ञान परोक्ष है, कहाँ तक दौड़ लगावेगा? अब जिन्होंने समयसारकी जैसी रचना की है उन तीनोंके नाम कहता हूँ ॥ ७ ॥

त्रय कवियोंके नाम (सवैया इकतीसा)

कुंदकुंदाचारिज प्रथम गाथाबद्ध करि,
समैसार नाटक विचारि नाम दयौ है।

ताहीकी परंपरा अमृतचंद्र भये तिन,
संसकृत कलस सम्हारि सुख लयौ है॥
प्रगट्यौ बनारसी गृहस्थ सिरीमाल अब,
किये हैं कवित्त हियै बोधिबीज बयौ है।
सबद अनादि तामैं अरथ अनादि जीव,
नाटक अनादि यौं अनादि ही कौ भयौ है॥ ८॥

अर्थः—इसे पहले स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यने प्राकृत गाथा छन्दमें रचा और समयसार नाम रक्खा। उन्हींकी कृतिपर उन्हींके आम्नायी स्वामी अमृतचन्द्रसूरि संस्कृत भाषाके कलशा रचकर प्रसन्न हुए। पश्चात् श्रीमाल जातिमें पण्डित बनारसीदासजी श्रावकधर्म प्रतिपालक हुए, उहोंने कवित्त रचना करके हृदयमें ज्ञानका बीज बोया। यों तो शब्द अनादि है उसका पदार्थ अनादि है, जीव अनादि है, नाटक अनादि है, इसलिये नाटक समयसार अनादि कालसे ही है॥ ८॥

सुकवि लक्षण (चौपाई)

अब कछु कहौं जथारथ वानी।
सुकवि कुकविकी कथा कहानी॥
प्रथमहिं सुकवि कहावै सोई।
परमारथ रस वरनै जोई॥ ९॥
कलपित बात हियै नहिं आनै।
गुरुपरंपरा रीति बखानै॥
सत्यारथ सैली नहिं छंडै।
मृषावादसौं प्रीति न मंडै॥ १०॥

अर्थः—अब सुकवि कुकविकी थोड़ीसी वास्तविक चर्चा करता हूँ। उनमें सुकविकी प्रथम श्रेणी है। वे पारमार्थिक रसका वर्णन करते हैं, मनमें कपोलकल्पना नहीं करते और ऋषि-परम्पराके अनुसार कथन करते हैं। सत्यार्थ-मार्गको नहीं छोड़ते और असत्य कथनसे प्रीति नहीं जोड़ते॥ ९-१०॥

(दोहा)

छंद सबद अच्छर अरथ, कहै सिद्धांत प्रवांन ।
जो इहि विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान ॥ ११ ॥

अर्थः—जो छन्द, शब्द, अक्षर, अर्थकी रचना सिद्धान्तके अनुसार करते हैं वे ज्ञानी सुकवि हैं ॥ ११ ॥

कुकवि लक्षण (चौपाई)

अब सुनु कुकवि कहौं है जैसा ।
अपराधी हिय अंध अनेसा ॥
मृषाभाव रस वरनै हितसौं ।
नई उकति उपजावैं चितसौं ॥ १२ ॥
ख्याति लाभ पूजा मन आनै ।
परमारथ-पथ भेद न जानै ॥
वानी जीव एक करि बूझै ।
जाकौ चित जड़ ग्रंथ न सूझै ॥ १३ ॥

अर्थः—अब जैसा कुकवि होता है सो कहता हूँ, उसे सुनो, वह पापी हृदयका अंधा हठग्राही होता है। उसके मनमें जो नई कल्पनाएँ उपजती हैं, उनका और सांसारिक रसका वर्णन बड़े प्रेमसे करता है। वह मोक्षमार्गका मर्म नहीं जानता और मनमें ख्याति लाभ पूजा आदिकी चाह रखता है। वह वचनको आत्मा जानता है, हृदयका मूर्ख होता है, उसे शास्त्रज्ञान नहीं है ॥ १२–१३ ॥

(चौपाई)

वानी लीन भयौ जग डोलै ।
वानी ममता त्यागि न बोलै ॥
है अनादि वानी जगमांही ।
कुकवि बात यह समझै नांही ॥ १४ ॥

अर्थः—वह वचनमें लीन होकर संसारमें भटकता है, वचनकी ममता छोड़कर कथन नहीं करता। संसारमें वचन अनादिकालका है यह तत्त्व कुकवि लोग नहीं समझते ॥ १४ ॥

वाणी-व्याख्या (सवैया इकतीसा)

जैसै काहू देसमैं सलिल-धारा कारंजकी,
नदीसौं निकसि फिर नदीमैं समानी है।
नगरमैं ठौर ठौर फैलि रही चहुं ओर,
जाके ढिग बहै सोइ कहै मेरौ पानी है।
त्यौंही घट सदन सदनमैं अनादि ब्रह्म,
वदन वदनमैं अनादिहीकी वानी है।
करम कलोलसौं उसासकी बयारि बाजे,
तासौं कहै मेरी धुनि ऐसौ मूढ़ प्रानी है॥ १५॥

अर्थः—जिस प्रकार किसी स्थानसे पानीकी धारा शाखारूप होकर नदीसे निकलती है और फिर उसी नदीमें मिल जाती है, वह शाखा शहरमें जहाँ तहाँ होकर वह निकलती है, सो जिसके मकानके पास होकर बहती है वही कहता है कि, यह पानी मेरा है, उसी प्रकार हृदयरूप घर है और घरमें अनादि ब्रह्म है और प्रत्येकके मुखमें अनादि कालका वचन है, कर्मकी लहरोंसे उछ्वासरूप हवा बहती है इससे मूर्ख जीव उसे अपनी ध्वनि कहते हैं ॥ १५ ॥

(दोहा)

ऐसे मूढ़ कुकवि कुधी, गहै मृषा मग दौर।
रहै मगन अभिमानमैं, कहैं औरकी और॥ १६॥

वस्तु सरूप लखै नहीं, बाहिज द्रिष्टि प्रवांन।
मृषा विलास विलोकिकैं, करै मृषा गुन गान॥ १७॥

अर्थः—इस प्रकार मिथ्यादृष्टी कुकवि उन्मार्गपर चलते हैं और अभिमानमें मस्त होकर अन्यथा कथन करते हैं। वे पदार्थका असली स्वरूप नहीं देखते, बाह्यदृष्टिसे असत्य परिणति देखकर झूठा वर्णन करते हैं ॥ १६–१७ ॥

मृषा गुणगान कथन (सवैया इकतीसा)

मांसकी गरंथि कुच कंचन-कलस कहैं,
कहैं मुख चंद जो सलेषमाको घरु है।
हाड़के दसन आहि हीरा मोती कहैं ताहि,
मांसके अधर ओंठ कहैं बिंबफरु है॥
हाड़ दंड भुजा कहैं कौंलनाल कामधुजा,
हाड़हीके थंभा जंघा कहैं रंभातरु है।
योंही झूठी जुगति बनावैं औ कहावैं कवि,
येतेपर कहैं हमैं सारदाको वरु है॥ १८॥

शब्दार्थः—गरंथि = डली। कुच = स्तन। सलेषमा (श्लेष्मा) = कफ। दसन = दाँत। आहि = हैं। बिंबफरु (बिंबाफल) = कुँदरू। कौंलनाल (कमलनाल) = कमलकी डंडी। रंभातरु = केलेका वृक्ष।

अर्थः—कुकवि मांसके पिण्डरूप कुचोंको सुवर्णघट कहते हैं, कफ खकार आदिके घररूप मुखको चन्द्रमा कहते हैं, हड्डीके दाँतोंको हीरा मोती कहते हैं, मांसके ओठोंको कुँदरू कहते हैं, हाड़के दण्डोंरूप भुजाओंको कमलकी दंडी अथवा कामदेवकी पताका कहते हैं, हड्डीके खम्भेरूप जाँघोंको केलेका वृक्ष कहते हैं। वे इस प्रकार झूठी झूठी युक्तियाँ गढ़ते हैं और कवि कहलाते हैं, इतनेपर भी कहते हैं कि हमें सरस्वतीका वरदान है ॥ १८ ॥

(चौपाई)

मिथ्यावंत कुकवि जे प्रानी।
मिथ्या तिनकी भाषित वानी॥

मिथ्यामती सुकवि जो होई ।
वचन प्रवांन करै सब कोई ॥ १९ ॥

अर्थः—जो प्राणी मिथ्यादृष्टी और कुकवि होते हैं, उनका कहा हुआ वचन असत्य होता है, परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न तो नहीं होते पर शास्त्रोक्त कविता करते हैं, उनका वचन श्रद्धान करने योग्य होता है ॥ १९ ॥

(दोहा)

वचन प्रवांन करै सुकवि, पुरुष हिए परवांन ।
दोऊ अंग प्रवांन जो, सो है सहज सुजान ॥ २० ॥

अर्थः—जिनकी वाणी शास्त्रोक्त होती है और हृदयमें तत्त्वश्रद्धान होता है, उनका मन और वचन दोनों प्रामाणिक हैं और वे ही सुकवि हैं ॥ २० ॥

समयसार नाटककी व्यवस्था (चौपाई)

अब यह बात कहूं है जैसे ।
नाटक भाषा भयौ सु ऐसै ॥
कुंदकुंदमुनि मूल उधरता ।
अमृतचंद्र टीकाके करता ॥ २१ ॥

अर्थः—अब यह बात कहता हूँ कि नाटक समयसारकी काव्य-रचना किस प्रकार हुई है। इस ग्रन्थके मूलकर्त्ता कुंदकुंदस्वामी और टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि हैं ॥ २१ ॥

समैसार नाटक सुखदानी ।
टीका सहित संस्कृत वानी ॥
पंडित पढ़ै सु दिढ़मति बूझै ।
अलपमतीकौं अरथ न सूझै ॥ २२ ॥

अर्थः—समयसार नाटककी सुखदायक संस्कृतटीका पण्डित लोग पढ़ते और विशेष ज्ञानी समझते हैं, परन्तु अल्पबुद्धि जीवोंकी समझमें नहीं आसकती थी ॥२२॥

पांडे राजमल्ल जिनधर्मी ।
समैसार नाटकके मर्मी ॥
तिन गिरंथकी टीका कीनी ।
बालबोध सुगम कर दीनी ॥ २३ ॥
इहि विधि बोध-वचनिका फैली ।
समै पाय अध्यातम सैली ॥
प्रगटी जगमांही जिनवानी ।
घर घर नाटक कथा बखानी ॥ २४ ॥

अर्थः—जैनधर्मी पांडे राजमलजी नाटक समयसारके ज्ञाताने इस ग्रन्थकी बालबोध सहज-टीका की। इस प्रकार समय पाकर इस आध्यात्मिक-विद्याकी भाषा-वचनिका विस्तृत हुई, जगतमें जिनवाणीका प्रचार हुआ और घर घर नाटककी चर्चा होने लगी ॥ २३–२४ ॥

(चौपाई)

नगर आगरे मांहि विख्याता ।
कारन पाइ भए बहु ग्याता ॥
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने ।
निसिदिन ग्यान-कथा रस-भीने ॥ २५ ॥

अर्थः—प्रसिद्ध शहर आगरेमें [1]निमित्त मिलनेपर इसके बहुतसे जानकार हुए, उनमें पाँच मनुष्य अत्यन्त कुशल हुए, जो दिन-रात ज्ञान-चर्चामें लवलीन रहते थे ॥ २५ ॥

---

[1] सत्संगति गुरुगम आदिका ।

(दोहा)

रूपचंद पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम ।
तृतिय भगोतीदास नर, कौंरपाल गुन धाम ॥ २६ ॥
धर्मदास ये पंचजन, मिलि बैठैं इक ठौर ।
परमारथ-चरचा करैं, इनके कथा न और ॥ २७ ॥

अर्थः—पहले पण्डित रूपचन्दजी, दूसरे पण्डित चतुर्भुजजी, तीसरे पण्डित भगोतीदासजी, चौथे पण्डित कुँवरपालजी और पाँचवें पण्डित धर्मदासजी। ये पाँचों सज्जन मिलकर एक स्थानमें बैठते तथा मोक्षमार्गकी चर्चा करते थे और दूसरी वार्ता नहीं करते थे ॥ २६–२७ ॥

कबहूं नाटक रस सुनैं, कबहूं और सिद्धंत ।
कबहूं बिंग बनाइकै, कहैं बोध विरतंत ॥ २८ ॥

अर्थः—ये कभी नाटकका रहस्य सुनते, कभी और शास्त्र सुनते और कभी तर्क खड़ी करके ज्ञानचर्चा करते थे ॥ २८ ॥

चित कौंरा करि धरमधर, सुमति भगोतीदास ।
चतुरभाव थिरता भये, रूपचंद परगास ॥ २९ ॥

अर्थः—कुँवरपालजीका चित्त कौंरा अर्थात् कोमल था, धर्मदासजी धर्मके धारक थे, भगोतीदासजी सुमतिवान थे, चतुर्भुजजीके भाव स्थिर थे और रूपचन्दजीका प्रकाश चन्द्रमाके समान था ॥ २९ ॥

(चौपाई)

जहां तहां जिनवानी फैली ।
लखै न सो जाकी मति मैली ॥
जाकै सहज बोध उतपाता ।
सो ततकाल लखै यह बाता ॥ ३० ॥

अर्थः—जहाँ तहाँ जिनवाणीका प्रचार हुआ, पर जिसकी बुद्धि मलिन है वह नहीं समझ सका। जिसके चित्तमें स्वाभाविक ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह इसका रहस्य तुरन्त समझ जाता है ॥ ३० ॥

(दोहा)

घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन ।
मति-मदिराके पानसौं, मतवाला समुझै न ॥ ३१ ॥

अर्थः—प्रत्येक हृदयमें जिनराज और जैनधर्मका निवास है, परन्तु मजहबके पक्षरूपी शराबके पी लेनेसे [1]मतवाले लोग नहीं समझते ॥ ३१ ॥

(चौपाई)

बहुत बढ़ाई कहांलौं कीजै ।
कारिजरूप बात कहि लीजै ॥
नगर आगरे मांहि विख्याता ।
बानारसी नाम लघु ग्याता ॥ ३२ ॥
तामैं कवितकला चतुराई ।
कृपा करैं ये पांचौं भाई ॥
पंच प्रपंच रहित हिय खोलै ।
ते बनारसीसौं हँसि बोलै ॥ ३३ ॥

अर्थः—अधिक महिमा कहाँ तक कहें, मुद्देकी बात कह देना उचित है। प्रसिद्ध शहर आगरेमें बनारसी नामक स्वल्प ज्ञानी हुए, उनमें काव्य-कौशल था और ऊपर कहे हुए पाँचों भाई उनपर कृपा रखते थे, उन्होंने निष्कपट होकर सरल चित्तसे हँसकर कहा ॥ ३२-३३ ॥

---

[1] यहाँ मतवाले शब्दके दो अर्थ हैं—(१) मतवाले = नशेमें चूर; (२) मतवाले जिनको मजहबका पक्षपात है।

नाटक समैसार हित जीका ।
सुगमरूप राजमली टीका ॥
कवितबद्ध रचना जो होई ।
भाषा ग्रंथ पढ़ै सब कोई ॥ ३४ ॥

अर्थः—जीवका कल्याण करनेवाला नाटक समयसार है। उसकी राजमलजी रचित सरल टीका है। भाषामें छंदबद्ध रचा जावे तो इस ग्रन्थको सब पढ़ सकते हैं ॥ ३४ ॥

तब बनारसी मनमहिं आनी ।
कीजै तो प्रगटै जिनवानी ॥
पंच पुरुषकी आज्ञा लीनी ।
कवितबद्धकी रचना कीनी ॥ ३५ ॥

अर्थः—तब बनारसीदासजीने मनमें सोचा कि यदि इसकी कवितामें रचना करूँ, तो जिनवाणीका बड़ा प्रचार होगा। उन्होंने उन पाँचों सज्जनोंकी आज्ञा ली और कवित्तबद्ध रचना की ॥ ३५ ॥

सोरहसौ तिरानवै बीते ।
आसौ मास सित पच्छ बितीतै ॥
तिथि तेरस रविवार प्रवीना ।
ता दिन ग्रंथ समापत कीना ॥ ३६ ॥

अर्थः—वि० सम्वत् सोलहसौ तेरानवे, आश्विन मास, शुक्ल पक्ष, तेरस तिथि रविवारके दिन यह ग्रन्थ समाप्त किया ॥ ३६ ॥

(दोहा)

सुख-निधान सक बंध नर, साहिब साह किरान ।
सहस-साह सिर-मुकुट-मनि, साहजहां सुलतान ॥ ३७ ॥

अर्थः—उस समय हजारों बादशाहोंमें प्रधान महा प्रतापी और सुखदायक मुसलमान बादशाह शाहजहाँ थे ॥ ३७ ॥

जाकै राज सुचैनसौं, कीनौं आगम सार ।
ईति भीति व्यापी नहीं, यह उनकौ उपगार ॥ ३८ ॥

अर्थः—उनके राज्यमें आनन्दसे इस ग्रन्थकी रचना की और कोई भय वा उपद्रव नहीं हुआ यह उनकी कृपाका फल है ॥ ३८ ॥

ग्रंथके सब पद्योंकी संख्या (सवैया इकतीसा)

तीनसै दसोत्तर सोरठा दोहा छंद दोउ,
युगलसै पैंतालीस इकतीसा आने हैं ।
छ्यासी चौपाई, सैंतीस तेईसे सवैए,
बीस छप्पै अठारह कवित्त बखाने हैं ॥
सात पुनि ही अडिल्ल, चारि कुंडलिए मिलि,
सकल सातसै सत्ताइस ठीक ठाने हैं ।
बत्तीस अच्छरके सिलोक कीने लेखै,
ग्रंथ-संख्या सत्रह सै सात अधिकाने हैं ॥ ३९ ॥

अर्थः—३१० सोरठे और दोहे, २४५ इकतीसे सवैये, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, १८ अट्ठारह कवित्त (घनाक्षरी), ७ अडिल्ल,

४ कुन्डलिए—ऐसे ये सब मिलकर ७२७ सातसौ सत्ताईस नाटक समयसारके पद्योंकी संख्या है, ३२ अक्षरके श्लोकके प्रमाणसे ग्रन्थ-संख्या १७०७ है ॥ ३९ ॥

समयसार आतम दरव, नाटक भाव अनंत।
सो है आगम नाममैं, परमारथ विरतंत॥ ४० ॥

अर्थः—सब द्रव्योंमें आत्मद्रव्य प्रधान है और नाटकके भाव अनन्त हैं, सो उसका आगममें सत्यार्थ कथन है ॥ ४० ॥

समाप्त

ईडरके भंडारकी प्रतिका अंतिम अंश

इह ग्रन्थकी परति एक ठौर देषी थी, वाके पास बहुत प्रकार करि मांगी, पै वा परति लिखनकौं नहिं दीनी, पाछें पांच भाई मिलि विचारि कियो, ज्यो ऐसी परति होवे तो बहुत आछौ। ऐसो विचारिकै तिन परति जुदी २ देषिकैं अर्थ विचारिकें अनुक्रमै २ समुच्चय लिपी है ॥

(दोहा)

समयसार नाटक अकथ, अनुभव-रस-भंडार ।
याको रस जो जानहीं, सो पावें भव-पार ॥ १ ॥

(चौपाई)

अनुभौ-रसके रसियानै ।
तीन प्रकार एकत्र बखानै ॥
समयसार कलसा अति नीका ।
राजमली सुगम यह टीका ॥ २ ॥
ताके अनुक्रम भाषा कीनी ।
बनारसी ग्याता रसलीनी ॥
ऐसा ग्रंथ अपूरव पाया ।
तासैं सबका मनहिं लुभाया ॥ ३ ॥

(दोहा)

सोई ग्रंथके लिखनको, किए बहुत परकार ।
बाँचनको देवे नही, ज्यौं [1]क्रपी रतन-भँडार ॥ ४ ॥

---

[1] क्रपण—कंजूस।

मानसिंघ चिंतन कियो, क्यौं पावे यह ग्रंथ ।
गोविंदसो इतनी कही, सरस सरस यह ग्रंथ ॥ ५ ॥
तब गोविंद हरषित भयौ, मन विच धर उल्लास ।
कलसा टीका अरु कवित, जे जेते तिहिं पास ॥ ६ ॥

(चौपाई)

जो पंडित जन बांचो सोइ ।
अधिको उचो चौकस [१]जोइ ॥
आगे पीछे अधिकौ ओछो ।
देखि विचार सुगुरुसो पूँछौ ॥ ७ ॥

अलप मती है मति मेरी ।
मनमें धरहुं चाह घनेरी ॥
ज्यौं निज भुजा सुमुद्रहि तरनौ ।
है अनादि * * * *

---

[१] देखकर।

समयसारके पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका

पृष्ठांक

अ

अचल अखंडित ग्यानमय ३०५

अच्छर अरथमैं मगन रहै सदा ३६१

अजथारथ मिथ्या मृषा २३

अतीचार ए पंच प्रकारा ३७८

अद्भुत ग्रंथ अध्यातम वानी ३१२

अंध अपूर्व अनवृत्तित्रिक ३७४

अनुभव चिंतामनि रतन,
अनुभव है रसकूप १३

अनुभव चिंतामनि रतन जाके हिय परगास १४६

अनुभौके रसकौं रसायन कहत १४

अपनेंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप ३७

अपराधी मिथ्यामती २२८

अब अनिवृत्तिकरन सुनु भाई ३९९

अब उपशांतमोह गुनथाना ४००

अब कछु कहौं जथारथ वानी ४१२

अब कवि निज पूरब दसा ३६२

अब निहचै विवहार ३८२

अब पंचम गुनथानकी ३८५

अब बरनौं अष्टम गुनथाना ३९९

अब बरनौं इकईस गुन ३८३

अब बरनौं सप्तम विसरामा ३९८

अब यह बात कहूँ है जैसे ४१६

अब सुनि कुकवि कहौं है जैसा ४१३

पृष्ठांक

अमृतचंद्र बोले मृदुवानी ३१३

अमृतचंद्र मुनिराजकृत ३६३

अलख अमूरति अरूपी २०७

अलप ग्यान लघुता लखै ३९६

अविनासी अविकार परमरसधाम हैं ५

अशुभमैं हारि शुभजीति यहै ३४७

अष्ट महामद अष्ट मल ३७६

असंख्यात लोक परवांन जे १९३

अस्तिरूप नासति अनेक एक ३५४

अहंबुद्धि मिथ्यादसा १८९

आ

आचारज कहैं जिन वचनको ३०४

आठ मूलगुण संग्रहै ३८६

आदि अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है ३४

आतमकौ अहित अध्यातम १२१

आतम सुभाउ परभाउकी १४८

आपा परिचै निज विषै ३७५

आस्रवकौ अधिकार यह १२१

आस्रवरूप बंध उतपाता ४०६

आस्रव संवर परनति जौलौं ४०६

आसंका अस्थिरता वांछा ३७६

इ

इति श्री नाटक ग्रंथमैं २४४

इहभव-भय परलोक-भय १६०

पृष्ठांक
इह विचारि संछेपसौं ३६७
इह विधि जो परभावविष ३४९
इहि विधि आतम ग्यान हित ३३२
इहि विधि जे जागे पुरुष १३९
इहि विधि जे पूरन भये २४०
इहि विधि जो विपरीत पख २७७
इहि विधि बोध-वचनिका फैली ४१७
इहि विधि वस्तु व्यवस्था जानै २०९
इहि विधि वस्तु व्यवस्था जैसी २३३

उ

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यौं १८४
उपजै विनसै थिर रहै २२५
उपसम छायककी दसा ३८१
उपसमी समकिती कै तौ सादि ३७३

ऊ

ऊंचे ऊंचे गढ़के कंगूरे ४६

ए

एई छहौं दर्व इनहीकौ है २२६
एक करम करतव्यता ७२
एक कोडि पूरव गनि लीजै ३९१
एक जीव वस्तुके अनेक २६३
एक देखिये जानिये ४०
एक परजाइ एक समैमैं विनसि २५८
एक परिनामके न करता दरब ७३
एकमैं अनेक है अनेकहीमैं २६५
एकरूप आतम दरब ३९
एकरूप कोऊ कहै ३१३
एक वस्तु जैसी जु है २५२
एकादस प्रतिमा दसा ३९०

पृष्ठांक
एकादस वेदनीकी चारितमोहकी ३९६
ए जगवासी यह जगत् २०२
एतेपर बहुरौं सुगुरु १३८

ऐ

ऐते संकट मुनि सहै ३९५
ऐसी महिमा ग्यानकी २७८
ऐसे मूढ़ कुकवि कुधी ४१४

ओ

ओरा घोरबरा निसिभोजन ३८४

अं

अंतर-दृष्टि-लखाऊ १०१
अंतर्मुहूरत द्वै घरी ३९१

क

कबहूं नाटक रस सुनैं ४१८
कबहू सुमति व्है कुमतिकौ ११
करता करम क्रिया करै ७२
करता किरिया करमकौ ९५
करता दरवित करमकौ २५३
करता परिनामी दरब ७१
करता याकौ कौन है २५३
करनीकी धरनीमैं महामोह राजा २९०
करनी हित हरनी सदा २९०
करम अवस्थामें असुद्धमैं ३५८
करम करै फल भोगवै २७०
करमके चक्रमेंमैं फिरत जगवासी ११७
करमके भारी समुझैं न गुनकौ २३७
करम पिंड अरु रागभाव ९१
करम-भरम जग-तिमिर-हरन २
करम सुभासुभ दोइ १०२

पृष्ठांक

कर्मजाल-जोग हिंसा १७६
कर्मजाल-वर्गनाकौ वास १७५
कर्मजाल-वर्गनासौं जगमैं १७४
कर्मनिकौ करता है भोगनिकौ २४४
करुना वच्छल सुजनता ३७६
करै और फल भोगवै २५३
करै करम सोई करतारा ९०
कलपित वात हियै नहीं आनै ४१२
कलावंत कोविद कुसल २२
कही निरजराकी कथा १७२
कहै अनातमकी कथा २५९
कहै विचच्छन पुरुष सदामें एकहौं ५०
कहै विचच्छन मैं रह्यौ २९३
कहै सुगुरु जो समकिती २०५
कहौं दसम गुनथान दुसाखा ४००
कहौं मुकति-पदकी कथा ३१२
कहौं सुद्ध निहचैकथा १३
कह्यौ प्रथम गुनथान यह ३७१
काच बांधै सिरसौं सुमनि बांधै १७८
काज विना न करै जिय उद्यम १४४
काया चित्रसारीमैं करम परजंक १३८
कायासौं विचारै प्रीति मायाहीसौं २५९
काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम २१३
किये अवस्थामें प्रगट ३४९
क्रिया एक करता जुगल २५३
कीचसौ कनक जाकै नीचसौ १८४
कुगुरु कुदेव कुधर्म धर ३७७
कुंजरकौं देखि जैसें रोस करि १८७
कुटिल कुरूप अंग लगी है २७९

पृष्ठांक

कुंदकुंद नाटक विषै ३१२
कुंदकुंद मुनिराज प्रवीना ३०६
कुंदकुंदाचारिज प्रथम गाथाबद्ध ४४१
कुविजा कारी कूबरी २७९
कुमती बाहिज दिष्टिसौं ३०३
कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम १८१
कृपा प्रसम संवेग दम ३४६
केई उदास रहैं प्रभु कारन २०४
केई कहैं जीव क्षनभंगुर २६१
केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर १४३
केई जीव समकित पाई अर्ध ३७४
केई मिथ्याद्रिष्टी जीव धरै ३०१
केई मूढ़ विकल एकंत पच्छ गहैं २५४
केवलग्यान निकट जहँ आवै ४०१
कै अपनौं पद आप संभारत ४१
कै तौ सहज सुभाउकै ३७५
कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार ३२३
कोऊ अनुभवी जीव कहै २१८
कोऊ एक छिनवादी कहै ३३०
कोऊ कुधी कहै ग्यान मांहि ३२२
कोऊ क्रूर कहै काया जीव ३२६
कोऊ ग्यानवान कहै ग्यान तौ ३५६
कोऊ दुरबुद्धी कहै पहले न हुतौ ३३७
कोऊ पक्षपाती जीव कहै ३२८
कोऊ पसु ग्यानकी अनंत विचित्राई ३२१
कोऊ बालबुद्धी कहै ३३१
कोऊ बुद्धिवंत नर निरखै शरीर ३५
कोऊ भाग्यवान कहै ३५६
कोऊ महामूरख कहत एक पिंड ३२९

पृष्ठांक

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक ३२०
कोऊ मूढ़ कहै जैसें प्रथम सवांरी ३१९
कोऊ मूरख यौं कहै २७६
कोऊ मंद कहै धर्म-अधर्म ३२४
कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप ३२४
कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं ९७
कोऊ सिष्य कहै स्वामी १०२
कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग-दोष २७५
कोऊ सुंनवादी कहै ज्ञेयके ३२५

ख

खांड़ो कहिये कनककौ ५९
खं विहाय अंबर गगन २०
ख्याति लाभ पूजा मन आनै ४१३

ग

गुन परजैमैं द्रिष्टि न दीजै ३०१
गुन विचार सिंगार ३०८
गुरु उपदेश कहा करै ३४३
ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर १४५
ग्यानकला घटघट बसै १४६
ग्यानकला जिनके घट जागी १५६
ग्यानकौ उजागर सहज सुखसागर ५
ग्यानकौ कारन ज्ञेय आतमा ३१८
ग्यानकौ सहज ज्ञेयाकार रूप २६८
ग्यान गरब मति मंदता ३७७
ग्यानचक्र मम लोक १६२
ग्यान चेतनाके जगे २८६
ग्यान जीवकी सजगता २८६
ग्यानद्रिष्टि जिन्हके घट अंतर ३५०
ग्यानधर्म अविचल सदा २७८

पृष्ठांक

ग्यान बोध अवगम मनन २३
ग्यानभान भासत प्रवान २८८
ग्यान-भाव ग्यानी करै ८०
ग्यान मिथ्यात न एक ९१
ग्यानवंत अपनी कथा २८७
ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु है ८२
ग्यान सकति वैराग्य बल १५६
ग्यान सरूपी आतमा ८०
ग्यानावरनीकै गयैं जानियै जु है २४१
ग्यानी ग्यानमगन रहै १५२
ग्यानी भेदग्यानसौं विलेछि २०९
ग्यायक भाव जहां तहां २८५
ग्रंथ उकत पथ उथपि जो ३७०
ग्रंथ रचै चरचै सुभ पंथ १३५
ग्रीषममैं धूपथित सीतमैं अकंप ३९४

घ

घट घट अंतर जिन बसै ४१९
घटमैं है प्रमाद जब ताई २३४

च

चलै निरखि भाखै उचित ३९३
चाकसौ फिरत जाकौ संसार ३५०
चारितमोहकी च्यारि मिथ्यातकी ३७८
चित कौंरा करि धरमधर ४१८
चित प्रभावना भावजुत ३७६
चिदानंद चेतन अलख २०
चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ १३९
चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्म २४८
चूंघा साधक मोखकौ ३४६
चेतन अंक जीव लखि लीन्हा २५०

	पृष्ठांक
चेतन करता भोगता	२५५
चेतनती तुम जागि विलोकहु	३३८
चेतन जीव अजीव अचेतन	६२
चेतन मंडित अंग अखंडित	२२३
चेतनरूप अनूप अमूरति	९
चेतन लक्षन आतमा, आतम	२२०
चेतन लच्छन आतमा, जड़	१९६
चेतनवंत अनंत गुन परजै	१४
चेतनवंत अनंत गुन सहित	५७
चौदह गुनथानक दसा	४०६
च्यारि खिपै त्रय उपशमै	३८०
छ	
छपकश्रेनी आठैं नवैं	४०१
छयउपसम बरतै त्रिविधि	३८०
छय-उपसम वेदक खिपक	३८१
छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं	२०५
छीनमोह पूरन भयौ	४०२
छै षट वेदै एक जौ	३८१
छंद सबद अच्छर अरथ	४१३
ज	
जगतके प्रानी जीति ह्वै रह्यौ	४०६
जगत चक्षु आनंदमय	३०५
जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप	२०१
जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै	६९
जगवासी अग्यानी त्रिकाल	२४७
जगवासी जीवनिसौं गुरु उपदेस	१३७
जगी सुद्ध समकित कला	३५२
जथा अंधके कंधपर	२८६
जदपि समल विवहारसौं	४०

	पृष्ठांक
जब चेतन सँभारि निज पौरुष	५८
जब जाकौ जैसौ उदै	१७७
जब जीव सोवै तब समुझै सुपन	१४०
जब यह वचन प्रगट सुन्यौ	२५७
जबलग ग्यान चेतना न्यारी	२८७
जबलग जीव सुद्ध वस्तुकौं	१७९
जब सुबोध घटमैं परगासै	३०९
जबहीतैं चेतन विभावसौं उलटि	२९६
जम कृतांत अंतक त्रिदस	२१
जमकौसौ भ्राता दुखदाता है	१५९
जहां काहू जीवको असाता उदै	४०५
जहां ग्यान किरिया मिलै	२८६
जहां च्यारि परकिति खिपहि	३८१
जहां तहां जिनवानी फैली	४१८
जहां न भाव उलटि अध आवै	४००
जहां न रागादिक दसा	११४
जहां परमातम कलाकौ परकास	१७३
जहां प्रमाद दसा नहि व्यापै	२३४
जहांलौं जगतके निवासी जीव	१८३
जहां सुद्ध ग्यानकी कला उदोत	२८४
जाकी दुखदाता-घाती चाकरी	४०२
जाकी परम दसा विषै	३४४
जाके उदै होत घट-अंतर	९५
जाके उर अंतर निरंतर	१४२
जाके उर अंतर सुद्रिष्टिकी	३६६
जाके उर कुबजा बसै	२८४
जाके घट ऐसी दसा	३५२
जाके घट अंतर मिथ्यात	३५३
जाके चेतन भाव चिदानन्द सोइ	२२२

पृष्ठांक
जाके देह-द्युतिसौं दसौं दिसा ४४
जाके परगासमैं न दीसैं ११८
जाके मुख दरससौं भगतके ३६५
जाके मुकति समीप ३३७
जाकै घट प्रगट विवेक ८
जाकै घट समता नहीं २२८
जाकै पद सोहत सुलच्छन ४०
जाकै राज सुचैनसौं ४२१
जाकै वचन श्रवन नहि ३४५
जाके हिरदैमैं स्याद्वाद साधना ३५४
जाकौ अधो अपूरव अनवृति ३३६
जाकौ तन दुख दहलसौं ३७०
जाकौ विकथा हित लगै ३४५
जाति लाभ कुल रूप तप ३७६
जामैं धूमकौ न लेश वातकौ न १५३
जामैं बालपनौ तरुनापौ ४५
जामैं लोक वेद नांहि थापना २२७
जामैं लोकालोकके सुभाव ४६
जासौं तू कहत यह संपदा हमारी २०२
जाहि फरसकै जीव गिर ४०१
जाही समै जीव देह बुद्धिकौ ६८
जिनपद नांहि शरीरकौ ४५
जिन-प्रतिमा जन दोष निकंदै ३६७
जिन-प्रतिमा जिन-सारखी ३६५
जिनि ग्रंथी भेदी नहीं ३७१
जिन्हकी चिहुंटी चिमटासी २३१
जिन्हकी सहज अवस्था ऐसी २३९
जिन्हकी सुदृष्टिमैं अनिष्ट इष्ट १५८
जिन्हके देहबुद्धि घट अंतर ३०३

पृष्ठांक
जिन्हकै मिथ्यामति नही २३०
जिन्हके हियेमैं सत्य सूरज १४७
जिन्हकै दरब:मिति साधन २१६
जिन्हकैं धरम ध्यान पावक २३१
जिन्हकैं सुमति जागी २२२
जिन्हिके वचन उर धारत ४
जिय करता जिय भोगता २५४
जिहि उतंग चढ़ि फिर पतन २४१
जीव अनादि सरूप मम २९१
जीव अरु पुद्गल करम रहैं २५१
जीव करम करता नहि ऐसैं २४५
जीव करम संजोग २७४
जीव ग्यानगुन सहित ७०
जीव चेतना संजुगत ८१
जीव तत्त्व अधिकार यह ५५
जीव निरजीव करता करम २३
जीव मिथ्यात न करै ९२
जूवा आमिष मदिरा दारी ३४६
जे अविकलपी अनुभवी २३६
जे असुद्ध परनति धरैं २५२
जे केई निकटभव्यरासी ११५
जे जिय मोह नींदमैं सौवैं १७८
जे जीव दरबरूप तथा ३५१
जे जे मनवंछित विलास १५०
जे जे मोह करमकी परनति १९४
जेते जगवासी जीव १०९
जेते जीव पंडित खयोपसमी ११६
जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि १११
जे दुरबुद्धी जीव ३४०

पृष्ठांक

जे न करें नयपच्छ विवाद ८४
जे निज पूरव कर्म उदै १५७
जे परमादी आलसी २३५
जे परिनाम भए नहिं कबही ३९९
जे प्रमाद संजुगत गुसांई २३४
जे मिथ्यामति तिमिरसौं २५२
जे विवहारी मूढ़ नर ३०३
जे समकिती जीव समचेती २३९
जैसें उसनोदकमैं उदक-सुभाव ७९
जैसे एक जल नानारूप ८९
जैसे रजसोधा रज सोधिकैं १२७
जैसें एक पाकौ आंबफल ३५६
जैसे वट वृक्ष एक तामें फल हैं ४१०
जैसें करवत एक काठ ६४
जैसें काहू चतुर सवांरी है २६६
जैसें काहू चंडाली जुगल पुत्र ९६
जैसें काहू जंगलमैं पावसकौ ३४२
जैसें काहू देसम सलिल धारा ४१४
जैसें काहू देसकौ बसैया १५१
जैसें काहू नगरके बासी ३४२
जैसें काहू बाजीगर चौहटै ८७
जैसें काहू रतनसौं बींध्यौ है ११
जैसें कोऊ एकाकी सुभट ४१०
जैसें कोऊ कूकर छुधित १९२
जैसें कोऊ छुधित पुरुष ३७२
जैसें कोऊ जन गयौ ४९
जैसें कोऊ पातुर बनाय ५२
जैसें कोऊ मनुष्य अजान २१०
जैसें कोऊ मूरख महासमुद्र १००

पृष्ठांक

जैसें कोऊ सुभट सुभाइ १८५
जैसें गजराज नाज घासके ७६
जैसें गजराज परचौ १७७
जैसें चंद किरनि प्रगटि भूमि २७३
जैसें छैनी लोहकी २१४
जैसें तृण काठ बांस ३१
जैसें नर खिलार चौपरिकौ २८२
जैसें नर खिलार सतरंजकौ २८३
जैसें नाना बरन पुरी बनाइ १९५
जैसें निसि वासर कमल रहै १३२
जैसें पुरुष लखै परवत चढ़ि २३६
जैसें फिटकड़ी लोद हरड़ेकी १५०
जैसें बनवारीमैं कुधातके ३१
जैसें भूप कौतुक सरूप करै १३१
जैसें मतवारो कोऊ कहै १०६
जैसें महा धूपकी तपतिमैं ७७
जैसें महारतनकी ज्योतिमैं ८७
जैसें महिमंडलमैं नदीकौ प्रवाह १९६
जैसें मुगध धान पहिचानै ३०२
जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी १९०
जैसें रवि-मंडलके उदै ३३
जैसें राजहंसके वदनके ७८
जैसें रंक पुरुषकै भायें १८६
जैसें सलिल समूहमैं १५
जैसें सांख्यमती कहैं अलख २५५
जैसो जो दरव ताके तैसो गुन ७०
जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ १५४
जैसो निरभेदरूप निहचै २९५
जो अडोल परजंक मुद्राधारी ४०६

पृष्ठांक

जो अपनी दुति आप विराजत २५
जो अरि मित्र समान विचारै ३८७
जो इकंत नय पच्छ गहि ३६९
जोई करमउदोय धरि १७
जोई जीव वस्तु अस्ति ३३५
जोई द्रिग ग्यान चरनातम ३००
जो उदास ह्वै जगतसौं ३४४
जो उपयोग स्वरूप धरि १८
जो कबहूं यह जीव पदारथ १२३
जोग धरें रहै जोगसौं भिन्न २६
जो जगकी करनी सब ठानत १९७
जो दयालता भाव सो २९९
जो दरवास्रव रूप न होई १११
जो दसधा परिग्रहकौ त्यागी ३८९
जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै ३८८
जो दुरमती विकल अग्यानी २५२
जो दुहुपनमैं एक थौ २५७
जो नर सम्यकवंत कहावत १३४
जो नव करम पुरानसौं १८
जो नवकरि जीरन करै १६
जो नाना विकलप गहै ३७०
जो निहचै निरमल सदा २४५
जो नौ बाड़ि सहित विधि साधै ३८८
जो पद भौपद भय हरै १४०
जो परगुन त्यागंत १६७
जो पुमान परधन हरै २२४
को पूरवकृत करम फल २९३
जो पूरवकृत करम विरख २९४
जो पूरव सत्ता करम १८

पृष्ठांक

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै १३६
जो मन् विषय कषायमैं २०७
जो मिथ्या दल उपसमै ३७१
जो मुनि संगतिमैं रहै ३९७
जो मैं आपा छांड़ि दीनौ ३६३
जो विलसै सुख संपदा २४१
जो विवेक विधि आदरै ३८९
जो विशुद्ध भावनि बंधै १७
जो सचित्त भोजन तजै ३८७
जो सामायिककी दसा ३८७
जो सुछंद वरतै तजि डैरा ३९०
जो सुवचन रुचिसौं सुनै ३४४
जो संवरपद पाइ अनंदै १३०
जो स्ववस्तु सत्तासरूप १६४
जो हितभाव सु राग है ११४
जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही १०४
जौलौं ज्ञानकौ उदोत तौलौं नहि १५५
ज्यौं कलधौत सुनारकी संगति २२०
ज्यौं घट कहिये घीवकौ ६०
ज्यौं चिरकाल गड़ी वसुधामहि ४८
ज्यौं जगमैं विचरै मतिमंद ११२
ज्यौं ज्यौं पुग्गल बल करै २७६
ज्यौं तन कंचुक त्यागसौं ३२७
ज्यौं दीपक रजनी समै २७७
ज्यौं नट एक धरै बहु भेख २२१
ज्यौं नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि २९
ज्यौं पंथी ग्रीषम समै १५
ज्यौं माटीमैं कलस होनकी ८३
ज्यौं वरषै वरषा समै ३३८

पृष्ठांक

ज्यौं हिय अंध विकल २४९
जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन ३८

झ

झूठी करनी आचारै २२८

ठ

ठौर ठौर रकतके कुंड १९९

ड

डूंघा प्रभु चूंघा चतुर ३४४
डूंघा सिद्ध कहै सब कोऊ ३४५

त

तजि विभाव हूजै मगन ३०१
तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है ५१
तन चेतन विवहार एकसे ४८
तनता मनता वचनता १७
तब बानारसी मनमांहि आनी ४२०
ता कारन जगपंथ इत २३५
तातैं आतम धरमसौं २८९
तातैं चिदभावनिविषै २७७
तातैं भावित करमकौं २५४
तातैं मेरै मतविषैं २५६
तातैं विषै कषायसौं २०७
तामैं कवितकला चतुराई ४१९
तियथल बास प्रेम रुचि निरखन ३८८
तिहूं लोकमांहि तिहूं काल सब १८२
तीन काल अतीत अनागत २३०
तीनसै दसोत्तर सोरठा दोहा ४२१
तो गरंथ अति सोभा पावै ३१२
त्याग जोग परवस्तु सब १४९

पृष्ठांक

त्यौं सुग्यान जानै सकल २७८

थ

थविरकलपि जिनकलपि ३९४
थविरकलपि धर कछुक सरागी ३९८
थिति पूरन करि जो करम १९
थिति सागर तेतीस ३८३

द

दया-दान-पूजादिक विषय ८२
दरब करम करता अलख २६७
दरब करम पुग्गल दसा २८२
दरबकी नय परजायनय दोऊ ८८
दरवित ये सातौं विसन ३४७
दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम ३८
दरसन ग्यान चरन दसा २९९
दरस विलोकनि देखनौं २२
दर्व खेत काल भाव च्यारौं ३१५
दर्व भाव विधि संजुगत ३८६
दर्वित आस्रव सो कहिए जहं ११०
दर्सन विसुद्धिकारी बारह विरत- ३८५
दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता १६०
दुरबुद्धी मिथ्यामती २५९
दूषन अट्ठारह रहित ४०४
देखु सखी यह ब्रह्म विराजित २२१
देव कुदेव सुगुरु कुगुरु ३७०
देवमूढ गुरुमूढ़ता ३७७
देह अचेतन प्रेत-दरी रज १९७

ध

धरति धरम फल हरति २१४

पृष्ठांक
धरम अरथ अरु काम सिव १८०
धरमकौ साधन जु वस्तुकौ १८१
धरम न जानत बखानत ८
धर्मदास ये पंचजन ४१८
धर्ममैं न संसै सुभकर्म १६८
धर्मराग विकथा वचन ३९२
धायौ सदा काल पै न पायौ २०६
धीरके धरैया भवनीरकै २३८
ध्यान धरै करै इन्द्रिय-निग्रह १३६

न

नख सिख मित परवांन १६१
नगर आगरे मांहि विख्याता ४१७
नटबाजी विकलप दसा २६६
नाटक समैसार हित जीका ४२०
नाना विधि संकट-दसा ३९७
नाम साध्य-साधक कह्यौ २६२
निज निज भाव क्रियासहित २५०
निजरूपा आतम सकति ३५८
निपुन विचच्छन विबुध बुध २२
निरभिलाष करनी करै २४९
निरभै निराकुल निगम वेद २९५
नियत एक विवहारसौं ३६७
निराकार चेतना कहावै दरसन २१९
निराकार जो ब्रह्म कहावै २७१
निराबाध चेतन अलख ६०
निसि दिन मिथ्याभाव बहु ९०
निहचै अभेद अंग उदै गुनकी २६४
निहचै दरबद्रिष्टि दीजै ३५९
निहचै निहारत सुभाव २४६

पृष्ठांक
निहचैमैं रूप एक विवहारमैं २८
नै अनंत इहविधि कही ३१३
नंदन बंदन थुति करन २३३

प

पद सुभाव पूरब उदै २६२
परकी संगति जो रचै २२४
परकौं पापारंभकौ ३९०
परमपुरुष परमेसुर परमज्योति १९
परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी ५५
परम रूप परतच्छ १६५
पर सुभावमैं मगन ह्वै २७८
परिग्रह त्याग जोग थिर तीनौं २३९
पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै २००
पांडे राजमल्ल जिनधर्मी ४१७
पाप अधोमुख एन अघ २१
पाप-पुन्नकी एकता १०९
पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमैं ९८
पुग्गलकर्म करै नहि जीव ८०
पुद्गल परिनामी दरब ८१
पुन्य सुकृत ऊरध वदन २१
पुव्वकरमविष तरु भए २९३
पूरव करम उदै रस भुंजै १४९
पूरव अवस्था जे करम-बंध कीने ११३
पूरब बंध उदय नहि व्यापै २३९
पूर्व उदै सनबंध १३३
पूर्व बंध नासै सोतो संगीत कला १६९
पंच अकथ परदोष १६८
पंच अनुव्रत आदरै ३८६
पंच खिपैं इक उपशमैं ३८१

पृष्ठांक

पंच परकार ग्यानावरनकौ नास ३६१
पंच प्रमाद दसा धरै ३९२
पंच भेद मिथ्यातके ३७०
पंच महाव्रत पालै पंच समिति ३९२
पंडित विवेक लहि एकताकी १४१
प्रकृति सात अब मोहकी ३७८
प्रगटरूप संसारमैं ३०७
प्रगटि भेदविग्यान आपगुन १२८
प्रथम अज्ञानी जीव कहै ६७
प्रथम एकांत नाम मिथ्यात ३६९
प्रथम करन चारित्रकौ ३९८
प्रथम नियत नय दूजी ८६
प्रथम निसंसै जानि १६८
प्रथम मिथ्यात दूजौ सासादन ३६९
प्रथम सुद्रिष्टिसौ सरीररूप २०८
प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस ३०७
प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ १४४
प्रज्ञा धिसना सेमुसी २१

फ

फरस जीभ नासिका १६३
फरस-वरन-रस-गंध १५

ब

बरनै सब गुनथानके ३६८
वहुत बढ़ाई कहालौं कीजै ४१९
बहुविधि क्रिया कलेससौं १४६
बात सुनि चौंकि उठै बातहीसौं २६०
बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ ४३
बालापन काहू पुरुष २५७
बैदपाठी ब्रह्म मांनि निहचै सुरूप २६३

पृष्ठांक

बौध छिनकवादी कहै २५६
बंदौं सिव अवगाहना १
बंध द्वार पूरौ भयौ २१२
बंध बढ़ावै अंध ह्वै १७९
बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं १५७
ब्रह्मग्यान आकासमैं ४११
ब्रह्मग्यान-नभ अंत न आवै ४११

भ

भयौ ग्रंथ संपूरन भाखा ४०९
भयौ सुद्ध अंकूर गयौ २४०
भावकरम करतव्यता २५४
भाव पदारथ समय धन १९
भेदग्यान आरासौं दुफारा करै २१२
भेदग्यान तबकौं भलौ १२६
भेदग्यान संवर जिन्ह पायौ १२६
भेदग्यान साबू भयौ १२७
भेदग्यान संवर-निदान निरदोष १२५
भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट ६
भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस १२४
भेषधरि लोकनिकौं बंचै सो २९९
भेषमें न ग्यान नहि ग्यान गुरु २९८
भैया जगवासी तू उदासी व्हैकें ५६

म

मनवचकाया करमफल २८९
महा धीठ दुखकौ वसीठ ७४
महिमा सम्यकज्ञानकी १३१
माटी भूमि सैलकी सो संपदा २२९
माया छाया एक है ३३९
मांसकी गरंथि कुच कंचन-कलस ४१५

पृष्ठांक

मिथ्यामति गंठि–भेद जगी ३८२
मिथ्यावंत कुकवि जे प्रानी ४१५
मिश्र दसा पूरन भई ३७३
मुकतिके साधनककौं वाधक १०३
मूढ़ करमकौ करता होवै १५६
मूढ़ मरम जानैं नही २७२
मुनि महंत तापस तपी २२
मुरखकै घट दुरमति भासी २७८
मृषा मोहकी परनति फैली २९१
मैं करता मैं कीन्ही कैसी १८८
मैं कीनौं मैं यौं करौं २८९
मैं त्रिकाल करनीसौं न्यारा २९२
मोख चलिवेकौ सौंन करमकौ १२
मोख सरूप सदा चिनमूरति १०१
मोह मद पाइ जिनि संसारी १७२
मोह महातम मल हर १५२

य

यथा जीव करता न कहावै २४६
यथा सूत संग्रह विन २६२
यह अजीव अधिकारकौ ६७
यह एकन्त मिथ्यात पख २५७
यह निचोर या ग्रन्थको ११७
यह पंचम गुनथानकी ३९१
यह सयोगगुनथानकी ४०५
या घटमैं भ्रमरूप अनादि ६३
याही नर-पिंडमैं विराजै २०३
याही वर्तमानमै भव्यनिकौ ४२

र

रमा संख विष धनु सुरा ३४९

पृष्ठांक

रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन १८९
राग विरोध उदै जबलौं तबलौं २७४
राग विरोध विमोह मल ११४
राणाकौसौ बाना लीनै आपा साधै २१५
राम-रसिक अर राम-रस २३२
रूपकी न झांक हीयें करमकौ १९१
रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी २८१
रूपचंद पंडित प्रथम ४१८
रूप-रसवंत मूरतीक एक पुद्गल ६१
रेतकीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है १९८
रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु २०४

ल

लक्ष्मी सुबुद्धि अनुभूति कउस्तुभ ३४८
लज्जावंत दयावंत प्रसंत ३८३
लहिये और न ग्रंथ उदधिका ४०९
लियैं द्रिढ़ पेच फिरै लोटन १९१
लीन भयौ विवहारमैं १४४
लोकनिसौं कछु नातौ न तेरौ ३३९
लोक हास भय भोग रुचि ३७८
लोकालोक मान एक सत्ता है २२५

व

वचन प्रवांन करैं सुकवि ४१६
वरतै ग्रंथ जगत हित काजा ३०९
वरनादिक पुदगल-दसा ५९
वरनादिक रागादि यह ५८
वरनी संवरकी दसा १३०
वस्तु विचारत ध्यावतैं १३
वस्तु स्वरूप लखै नहीं ४१४
वह कुबिजा वह राधिका २८२

पृष्ठांक

वानी जहां निरच्छरी ४०४
वानी लीन भयौ जग डोलै ४१३
विनसि अनादि असुद्धता ३५२
विभाव सकति परनतिसौं विकल ३६०
विवहार-दृष्टिसौं विलोकत ८५
विसम भाव जामैं नहीं ३४८
वेदनवारौ जीव १६३

श

शिष्य कहै प्रभु तुम कह्यौ २५३
शिष्य कहै स्वामी जीव ३१४
शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु ३०
शोभित निज अनुभूति जुत २५
श्रवन कीरतन चिंतवन २१७

ष

षट प्रतिमा तांई जघन ३९०
षट् सातैं आठैं नवैं ४०१

स

सकल-करम-खल-दलन ३
सकल वस्तु जगमैं असहाई २६९
सतरंज खेलै राधिका २८४
सत्तर लाख किरोर मित ३९१
सत्यप्रतीति अवस्था जाकी ३७५
सदगुरु कहै भव्यजीवनिसौं ३४
सदा करमसौं भिन्न १९३
सबदमांहि सतगुरु कहै ३४१
सबरसगर्भित मूल रस ३०९
समकित उतपति चिहन गुन ३७५
समता-रमता उरधता १६
समता बंदन थुति करन ३९३

पृष्ठांक

समयसार आतम दरब ४२२
समयसार नाटक अकथ ४०९
समझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं १०५
समैसार नाटक सुखदानी ४१६
सम्यकवंत कहै अपने गुन २९२
सम्यकवंत सदा उर अंतर १३३
सम्यक सत्य अमोघ सत २३
सरबविसुद्धी द्वारलौं ३१०
सरलकौं सठ कहै १८७
सर्वविसुद्धी द्वार यह ३०६
सहै अदरसन दुरदसा ३९६
सात प्रकृति उपसमहि ३७९
साधी दधि मंथमैं अराधी २२७
साध्य सुद्ध केवल दशा ३३६
समायिककीसी दसा ३८७
सासादन गुनथान यह ३२९
सिद्ध समान रूप निज जानै २८७
सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट २१
सिष्य कहै स्वामी तुम करनी १००
सील तप संजम विरति दान ९९
सुख निधान सक बंध नर ४२१
सुगुरु कहै जगमैं रहै २७७
सुद्ध ग्यानकै देह नहि २९७
सुद्ध दरब अनुभौ करै २७२
सुद्धनयातम आतमकी ३६
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध १६६
सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन ७५
सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित १२२
सुद्धातम अनुभव जहां २३३

पृष्ठांक

सुद्धातम अनुभौ कथा ३०३
सुद्धातम अनुभौ क्रिया ३०५
सुन प्रानी सदगुरु कहै १९८
सो बुध करम दसा रहित २९३
सोरहसौ तिरानवै बीतै ४२०
सोभामें सिंगार बसै ३०७
संकलेश परिनामनिसौं ९७
संकलेश भावनि बँधै १७
संजम अंस जग्यौ जहां ३८६
संतत जोक उदरमैं १६
स्यादवाद अधिकार अब ३१४
स्यादवाद अधिकार यह ३३५

पृष्ठांक

स्यादवाद आतमदशा ३३२
स्वपर प्रकासक सकति हमारी ३५७
स्वारथके साचे परमारथके साचे ७

ह

हांसीमें विषाद बसै ३४०
हिरदै हमारे महा मोहकी २८८
हिंसा मृषा अदत्त धन ३९३
है नांही नांही सु है ३१७
हौं निहचै तिहुँकाल २७

ज्ञ

ज्ञेयाकार ग्यानकी परणति २७०
ज्ञेयाकार ब्रह्म मल मानै २७१

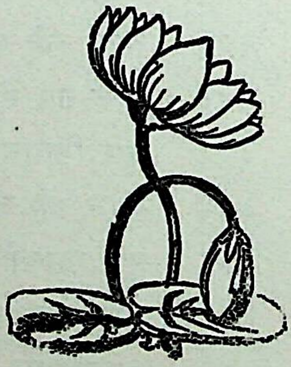

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित नाटकसमयसार कलशोंकी वर्णानुक्रमणिका

पृष्ठांक

अ

अकर्त्ता जीवोऽयं २४६
अखण्डितमनाकुलं ३६
अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव १४६
अच्छाच्छा स्वयमुच्छलन्ति १४२
अतो हताः प्रमादिनो २२८
अतःशुद्धनयायत्तं ३०
अत्यन्तं भावयित्वाविरति २९४
अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं ३१४
अथ महामदनिर्झरमन्थरं १०९
अद्वैताऽपि हि चेतना २१९
अध्यास्य शुद्धनय ११५
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं ३२९
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं २५
अनवरतमनन्तै २२४
अनाद्यनन्तमचलं ६०
अनेनाध्यवसायेन १८९
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं २९५
अयि कथमपि मृत्वा ४३
अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ३२७
अलमलमतिजल्पै ३०४
अवतरति न यावद्वृत्ति ५०
अविचलितचिदात्म ३६१
अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये ६३
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ७६

पृष्ठांक

अज्ञानमय भावानामज्ञानी ८३
अज्ञानमेतदधिगम्य १८३
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया ७७
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव २४८
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं ८०

आ

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं ८८
आत्मनश्चिन्तयैवालं ४०
आत्मभावान्करोत्यात्मा ७५
आत्मस्वभावं परभावभिन्न ३३
आत्मानुभूतिरिति ३५
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि २६१
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ८०
आसंसारत एव धावति ७४
आसंसारविरोधिसंवर १२१
आसंसारात्प्रतिपदममी १३७

इ

इतिपरिचिततत्त्वै ४९
इति वस्तुस्वभावं स्वं १९७
इति वस्तुस्वभावं स्वं १९६
इति सति मह ५१
इतीदमात्मनस्तत्त्वं ३०५
इतो गतमनेकतां ३५९
इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्विना २९५
इत्यं परिग्रहमपास्य समस्तमेव १४८

पृष्ठांक
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना ६४
इत्यज्ञानविमूढानां ३३२
इत्याद्यनेकनिजशक्ति सुनितरोऽपि ३३५
इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल २०९
इत्येवं विरचय्य संप्रति ६९
इदमेकं जगच्चक्षु ३०५
इदमेवात्र तात्पर्य्यं ११७
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् ८७
उ
उदयति न नयश्री ३२
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेष २९६
उभयनयविरोध २७
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं २५१
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो २९
एकत्वं व्यवहारतो न तु ४८
एकमेव हि तत्स्वाद्यं १४०
एकश्चितश्चिन्मय एवभावो २२२
एकस्य बद्धो न तथा परस्य ८५
एकज्ञायकभाव निर्भर १४१
एको दूरात्त्यजति मदिरां ९६
एको मोक्षपथो य एष ३०१
एकः कर्ता चिदहमिह ६७
एकः परिणमित सदा ७२
ऐकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं १६६
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या ३३२
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य २९७
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा ३७
एषैकैव हि वेदना १६३
क
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो २६२
कर्त्तृत्वं न स्वभावोऽस्य २४५

पृष्ठांक
कथमपि समुपान्त ४०
कथमपि हि लभन्ते ४१
कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा ९२
कर्त्ता कर्मणि नास्ति नास्ति ९१
कर्तारं स्वफलेन यत्किल १५६
कर्म सवमपि सर्वविदो ९९
कर्मैव प्रवितर्क्यं कर्तृ हतकैः २५४
कषाय कलिरेकतः ३६०
कान्त्यैव स्नपयन्ति ये ४४
कार्यत्वादकृतं नकर्म २५३
कृतकारितानुमननै २८७
क्लिश्यन्तां स्वयमेव १४३
क्वचिल्लसति मेचकं ३५८
घ
घृतकुम्भभिधानेऽपि ६०
च
चिच्छक्तिव्याप्तिसर्वस्व ५७
चित्पिण्डचण्डमविलासविकास ३५३
चित्स्वभावभरभावितभावा ८७
चिरमिति नवतत्त्व ३१
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो ३५४
चैद्रूप्यं जडरूपतां च १२२
ज
जयति सहजतेजः ३६१
जानाति यः स न करोति १७९
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा ५५
जीवादजीवमिति ६२
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म ८०
ट
टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा ३३१
टङ्कोत्कीर्णस्वरस १६७

पृष्ठांक

त

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं १३१
तथापि न निरर्गलं १७६
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो ९५
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि २३९
त्यजतु जगदिदानीं ४२
त्यक्तं येन फलं स कर्म १५७

द

दर्शनज्ञानचारित्र २९९
दर्शनज्ञानचारित्रै ३९
,, ३८
दूरं भूरिविकल्पजालगहने ८९
द्रव्यलिङ्गममकारमीलतै ३०३
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रक २१२

ध

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने ११७

न

न करिष्यामि न कारयिष्यामि २९०
न करोमि न कारयामि २८९
न कर्म्मबहुलं जगन्न १७४
नं जातु रागादिनिमित्तभाव १९५
न द्रव्येन खण्डयामि न क्षेत्रे ३५६
ननु परिणाम एव किल २६८
नंमः समयसाराय २५
नं हि विदधति बद्ध ३४
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि १३३
नास्ति सर्वोऽपि सम्वन्धः २५०
निंज महिमरतानां १२४
नित्यमविकारसुस्थित ४५
निर्वर्त्यंते येन यदत्रकिंचित् ५९
निं:शेषकर्म्मफलसंन्यसनात्मनैवं २९३

पृष्ठांक

निषिद्धे सर्वस्मिन् १००
नीत्वा सम्यक् प्रलयम २४४
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ ७३
नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु ३५०
नोभौ परिणमतः खलु ७२

प

पदमिदं ननु कर्म दुरासदं १४६
परद्रव्यग्रहं कुर्वन् २२४
परपरणति हेतो २६
परपरिणतिमुज्झत् ६८
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञा ३९
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा २७७
पूर्वबद्ध निजकर्म १४९
पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ३२६
प्रच्युत्य शुद्धनयतः ११६
प्रत्यक्षा लिखितस्फुटस्थिर ३२३
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म २९१
प्रमादकलितः कथं भवति २३५
प्रज्ञाछेत्री शितेयं २१३
प्राकारकवलितांबर ४६
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं १६३
प्रादुर्भावविराममुद्रित ३३०

ब

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं २४०
बहिर्लुठति यद्यपि २६८
वाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो ३२१
वाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित ३१४

भ

भावयेद्भेदविज्ञान १२६
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो १११
भावो रागद्वेषमोहैर्दिना ११०

पृष्ठांक

भिन्त्वा सर्वंमपि स्वलक्षण २१८
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य ३२४
भूतं भान्तमभूतमेव रभसा ३४
भेदविज्ञानतः सिद्धाः १२६
भेदज्ञानोच्छलन १२७
भेदोन्मादं भ्रमरसभरा १०६
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य २४७

म

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा १०५
मज्जन्तु निर्भरममी ५२
मा कर्त्तारममी स्पृशन्तु ३५५
मिथ्यादृष्टेः स एवास्य १८८
मोहविलासाविजृम्भित २९०
मोहाद्यदहमकार्षं २८८
मोक्षहेतुतिरोधान १०२

य

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं ८४
यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्य वस्तुनः २७०
यत्सन्नाशमुपैतितन्न नियतं १६४
यदि कथमपिधारावाहिना १२३
यदहकार्षं यदहमचीकरं २८७
यदिह भवति रागद्वेष २७६
यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवम् १०१
यस्माद्द्वैतमभूत्पूरा ३६३
यत्र प्रतिक्रमणमेव २३२
यादृक तादृगिहास्ति १५४
यावत्पाक मुपैति कर्मविरति १०४
ये तु कर्त्तारमात्मानं २४९
ये तु स्वभावनियमं २५२
ये त्वेनं परिहृत्य संतृतिपथ ३०१

पृष्ठांक

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां ३५०
योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहं ३५६
यः करोति स करोति केवलं ९०
यः परणमतिःसकर्ता ७१
यः पूर्वभावकृतकर्म्मं २९३

र

रागजन्मनि निमित्ततां २७७
रागद्वेषद्वय मुदयते २७४
रागद्वेषविमोहनां ११४
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो २८४
रागद्वेषाविह हि भवति २७४
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या २७५
रागादयो बन्धनिदानमुक्ताः १९४
रागादीनां झगिति विगमात् ११८
रागादीनामुदयमदयं २१०
रागाद्यास्रवरोधतो १३०
रागोद्गारमहारसेन सकलं १७२
रुन्धन बन्धंनवमिति १६९

ल

लोकः कर्म ततोऽस्तुसोस्तु १७५
लोकः शाश्वत एक एष १६१

व

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु ५९
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा ५८
वर्णाद्यैः सहितस्तथा ६१
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो २६९
विकल्पकः परं कर्ता ९०
विगलन्तु कर्मविषतरु २९२
विजहति न हि सत्ता ११३
विरम किमपरेणा ५६

पृष्ठांक
विश्रान्तः परभावभावकलना ३२८
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा १९३
विश्वं ज्ञानमितिप्रतर्क्य ३२०
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन १०१
वृत्तं कर्मस्वभावेन १०२
वृत्त्यांशभेदतोऽत्यन्तं २५८
वेद्यवेदकविभावचलत्वा १५०
व्यतिरिक्त परद्रव्यादेवं २९७
व्यवहरणनयः स्याद्य २८
व्यवहारविमूढ़दृष्टयः ३०२
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि ७०
व्यावहारिकदृशैव केवलं २६७

श

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित २७०
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं २७३

स

सकलमपि विहायाह्नाय ५८
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि १०३
सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं १११
समस्तमित्येवमपास्यकर्म २९१
सम्पद्यते संवर एष साक्षा १२५
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं १५९
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं १३४
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं १३३
सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं ५०
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं १९३
सर्वस्यामेव जीवन्त्या ११२

पृष्ठांक
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य ३२४
सर्वं सदैव नियतं १८२
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त २२३
स्थितेति जीवस्य निरन्तरा या ८१
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य ८१
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल संयमाभ्यां ३५१
स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे ३५४
स्वशक्तिसंसूचित वस्तुतत्त्वै २६३
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधि ३२५
स्वेच्छासमुच्छलद ८६
स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति १६५

ह

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां ९७

क्ष

क्षणिकमिदमिहैकः २५६

ज्ञ

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेऽन्तः ९१
ज्ञानमय एव भावः ८२
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि १५२
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं २८५
ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो ७८
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो ७९
ज्ञानिन् कर्म्मं न जातु १५५
ज्ञानिनो नहि परिग्रह भावं १५०
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः ८२
ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म २४९
ज्ञानी जानन्नपीमां ७१
ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति ३२२

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३२	१८	बध	बन्ध
३३	१२	फल	फैल
४६	२	चेतियता	चेतयिता
३४	४	विपल्प	विकल्प
५९	१०	तलवा रसोने	तलवार सोने
२१४	२२	गगर	नगर
२१७	२६	मनःपर्याय	मनःपर्यय
,,	अन्तिम	और	यथाख्यात और
२२२	,,	म्त	स्त
२२४	२२	बध्यतेवा	बध्येतेवा
२२५	३	वर्तता	लेनेमें वर्तता
,,	१३	परस्वरूप	पर स्वरूप
२२८	२५	चित्तमा	चित्त
,,	२६	संपूर्ण	मासंपूर्ण
,,	,,	(!)	×
२३८	१९	अत्म	आत्म
२५४	२१	कर्मा	कर्त्ता
३०३	अन्तिम	स्वतो	स्वतः
३६५	१२	चचलता	चंचलता

श्री समयसार नाटकका मूल्य कम करनेके लिये अन्तमें प्राप्त हुई

आर्थिक सहायता

५०१-००	श्री चिमनलाल हिम्मतलाल शाह	बम्बई
२५१-००	श्री मोहनलाल कानजीभाई घीया	राजकोट
१०१-००	श्री लक्ष्मी जैन	बम्बई
८४-००	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल	उज्जैन

१
सं. १

८३
22-2-86